धर्म निरपेक्षता की वर्तमान अवधारणा और कबीर का काव्य

Dharam Nirpekshta ki Vartman Avdharana or Kabir ka Kavya

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

की

पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध

कला संकाय

शोधार्थी

श्योनारायण रेगर

शोध पर्यवेक्षक

डॉ. प्रदीप कुमार मीना

सह–आचार्य

हिन्दी विभाग

राजकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सवाई माधोपुर

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

वर्ष 2019

प्रमाण–पत्र

मुझे यह प्रमाणित करते हुए प्रसन्नता है, कि शोध–प्रबन्ध **"धर्म निरपेक्षता की वर्तमान अवधारणा और कबीर का काव्य"** शोधार्थी श्योनारायण रेगर ने कोटा विश्वविद्यालय, कोटा के कला संकाय में पीएच.डी. (हिन्दी) के नियमानुसार निम्नलिखित आवश्यकता के साथ मेरे निर्देशन में पूर्ण किया है।

1. शोधार्थी ने विश्वविद्यालय के नियमानुसार कोर्स वर्क पूर्ण किया हैं।
2. शोधार्थी ने 200 दिन के आवासीय आवश्यकता नियम को पूरा किया हैं।
3. शोधार्थी ने विश्वविद्यालय के नियमानुसार समय–समय पर अपने कार्य का प्रगति प्रतिवेदन प्रस्तुत किया हैं।
4. शोधार्थी ने विभाग व संस्था प्रधान के समक्ष अपना शोध कार्य प्रस्तुत किया हैं।
5. शोधार्थी के बताई गई शोध–पत्रिका में शोध पत्र का प्रकाशन हुआ हैं।

मैं इस शोध–प्रबन्ध को कोटा विश्वविद्यालय, कोटा की पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि प्रदत्त किये जाने हेतु मूल्याकनार्थ प्रस्तुत करने की अनुशंसा करता हूँ।

दिनांक :

शोध पर्यवेक्षक

डॉ. प्रदीप कुमार मीना
सहआचार्य, हिन्दी विभाग
राजकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
सवाई माधोपुर, (राज.)

ANTI-PLAGIARISM CERTIFICATE

It is certified that PH.D Thesis Titled **"धर्म निरपेक्षता की वर्तमान अवधारणा और कबीर का काव्य"** By Shyo Narayan Regar has been examined by us with the following anti-plagiarism tools. We undertake the follows:

A. Thesis has significant new work/knowledge as compared already published or are under consideration to be published elsewhere. No sentence, equation, diagram, table, paragraph or section has been copied verbatim from previous work unless it is placed under quotation marks and duly referenced.
B. The work presented is original and own work of the author (i.e.there is no plagiarism) no ideas. Processes, result or words of other have been presented as author's own work.
C. There is no Fabrication of data or results which have been compiled and analyed.
D. There is no falsification by manipulating research materials, equipment or processes, or changing or omitting data or result such that the research is not accurately represented in the research record.
E. The thesis has been checked using Plagiarism checker plagiarismchecker.com, and found within limits as per HEC plagiarism Policy and instructions issued from time to time.

Shyo Narayan Regar **Dr.Pardeep Kumar Meena**

(Scholar) **(Supervisor)**

Place : Place :

Date : Date :

शोध–सार

प्रथम अध्याय – कबीर : व्यक्तित्व विवेचन

जन्म, स्थान, बाल्यकाल, पारिवारिक जीवन परिचय–परिवार, माता–पिता, पत्नी, पुत्र–पुत्रियाँ, नामकरण। कबीर की शिक्षा–दीक्षा, गुरू, निजी जिन्दगी। क्रांतिदर्शी कबीर कवित्व, समाज–सुधारक, क्रान्तिदर्शी कबीर (क्रांति दर्शिता)।

द्वितीय अध्याय – कबीर की संवेदनाः सामाजिक और धार्मिक यथार्थ

कबीर की संवेदनाः सामाजिक और धार्मिक यथार्थ–कबीर दास पूर्व परिस्थितियाँ, धार्मिक परिस्थिति–धर्मान्तर की स्थिति–इस लोभ के प्रचार के कारण और ब्रह्मण धर्म की सकुंचितता के परिणाम स्वरूप हिन्दू का मुसलमान हो जाना और अपने सम्प्रदाय की गूढ़ता को सुरक्षित रखने के प्रयत्नों में स्वस्थ दृष्टि और विवेक के अभाव से विकृतियों का प्रवेश। राजनीतिक परिस्थिति, सामाजिक परिस्थिति, सांस्कृतिक वातावरण, धर्म। कबीर के युग की सामाजिक परिस्थिति–हिन्दू समाज, मुस्लिम समाज–विदेशी मुसलमान, भारतीय मुसलमान (धर्म परिवर्तित, वर्ण संकर) कबीर के युग की धार्मिक स्थिति, सामाजिक और धार्मिक यथार्थ, आन्तरिक व बाह्य रूढ़िवादिता–मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, व्रत, माला आदि।

तृतीय अध्याय – हिन्दी साहित्य में कबीर का हिन्दू–मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप

हिन्दी साहित्य में कबीर का हिन्दू–मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप हिन्दू मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप, कबीर की दार्शनिक पृष्ठभूमि, द्वैतवाद, औपनिषदिक ब्रह्वाद, द्वैताद्वैत, धरणीतत्व, आत्मतत्व, शिवतत्व, विष भेद–भूमिकाओं के लिए अमृत अभेदमयी आनन्द भूमिकाओं के लिए, माया–गर्भ का अधिकारी, कबीर और मानवता, भाषा, धर्म, सम्प्रदाय और संस्कृति में ऐक्य–स्थापन का भाव मानवतावाद का अन्य परिचय, कबीर से पहले भारत में शकों, हुणों, आभीर, कुषाणों, हिन्दुओं, जैनों बौद्धो और मुसलमानों के धार्मिक प्रचार, स्पृश्य–अस्पृश्य, शिक्षित–अशिक्षित, अमीर–गरीब, ऊँच–नीच आदि की विषमताएं, समाज की दास प्रथा, वेश्यावृत्ति, शराब खोरी, जुआ एवं जालसाजी। पुरोहितवाद, प्रामाण्यवाद, अंधविश्वास, मूर्तिपूजा और ब्राह्यचारों से सामाजिक जड़ता। व्रत, उपवास, तीर्थ, पूजा, नमाज, चमत्कार, बटुआ, सिर–मुंडन, जटा–धारण, भस्म–लेप, पत्थर–पूजा, मूर्तिपूजा, अजान, माला, छापा तिलक एवं गंगा–स्नान आदि लोक रूढ़ियाँ।

चतुर्थ अध्याय – कबीर के काव्य संकलन की समीक्षा और सृजन की विविधता

कबीर के काव्य संकलन की समीक्षा और सृजन की विविधता–कबीर के प्रमुख काव्य तीन–कबीर ग्रन्थावली–साखी, पद, रमैनी, बावनी, बेलि, वार बसन्त। आदि ग्रन्थ–सलोक, सबद, बावन, अखरी, चिति, वार बसन्त। कबीर बीजक–साखी, पद, रमैनी, चौंतीसा, बावनी, वार, चिंती, चांचर, बसन्त, हिंडोला, बेलि, विप्रमतीसी, कहरा, विरहुली। साखी–शिक्षा (सिक्या, सीखा–साखी) ज्ञान सम्यक, ज्ञान विवेक (सांख्य–साख्य–साख, साखी) साक्षी, गवाह, साख (विश्वास), ज्ञान सम्बन्धी। साखियों का अंग विभाजन–लौकिक भाव प्रधान सन्तमत का स्वरूप बताने वाली, पाखण्डों का विरोध करने वाली, व्यवहार प्रधान, पारलौलिक भावप्रधान। गुरूदेव कौ अंग, सुमिरण कौ अंग–सुमिरन–श्रद्धा, एकाग्रता और मनोयोग से न हो तो बाहर के अलंकार माला, छाप, तिलक, कंठी, जनऊ, सम्पूर्ण वेश आदि मात्र प्रदर्शक (पाखण्ड) चितावणी को अंग–अज्ञानता, मोह–माया का जीवन में यह अंधेरा चिरकाल से, अहन्ता–ममता, राग द्वेष तथा विषय–वासना, कथनी बिना करणी को अंग–सत्य, प्रेम, अंहिसा, विवेक आदि सद्‌गुणों की चर्चा, काल कौ अंग–आज का वर्तमान, भूत हो जायेगा और कल का भविष्य, वर्तमान हो जायेगा। एक ओर सृजन, दूसरी ओर प्रलय, क्या निर्माण की खुशी, क्या विध्वंस का रोना, सुसंगति कौ अंग, उलटबांसियां–उलटीबात, उलटीरीति, उलटाख्याल, उलटीचाल।

पंचम अध्याय – हिन्दी साहित्य में कबीर का स्थान व निर्गुण भक्ति

हिन्दी साहित्य में कबीर का स्थान व निर्गुण भक्ति–हिन्दी साहित्य में कबीर का योगदान–सूने घर का पाहुना, धूंबा केरा धौलर, काजल केरी कोठरी, बगज्यूँ माँडै ध्यान, खालिक खलक खलक मे खालिक, संतो भाई आई ज्ञान की आँधी, यहु ऐसा संसार है जैसा सेंवल फूल, सतगुरू चाहिए जैसा सिक लीगर। समाज सुधारक कबीर–समाज, धर्म, जाति, प्रथा, छुआछूत तथा विविध प्रकार के ब्राह्यडम्बरों और ब्राह्यचारों का विरोध। अव्यवस्था, आडम्बरप्रियता, अहंकारप्रियता, रूढ़िवादिता तथा मिथ्याचारों का विरोध। कबीर की निर्गुण भक्ति–गुण महात्म्य, स्मरण, पादसेवन, संख्य भाव, वात्सल्य भक्ति, समर्थता एवं अनुभूति, तन्मयाभक्ति, पूजन एवं तीर्थ, आत्म निवेदन। मनसा, वाचा, कर्मणा अपने आराध्य का ध्यान एवं महत्व स्वीकारना, शुद्वाचरण पर बल, मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद का खण्डन नामस्मरण द्वारा ब्रह्म के साक्षात्कार करने का आग्रह, भगवान का गुण कीर्तन को महत्व, भक्त का आत्मसमर्पण अपने आराध्य के प्रति, सत्संगति, साधुसेवा, जितेन्द्रियता, संयम, वैराग्य, अनासक्तभाव, माया एवं तृष्णा का त्याग, गुरूमहता, माधुर्यभाव का महत्व प्रतिपादन करना।

षष्ठम् अध्याय – कबीर के काव्य का शिल्प विधान

कबीर के काव्य का शिल्प विधान–काव्य भाषा, छन्द योजना–कबीर ने कुल चौदह काव्य रूपों का प्रयोग किया – साखी, शब्दी (पद), रमैनी, चौंतीसा, बावनी, वार, चिंती, चाँचर, बसंत, हिंडोला, बेलि, विप्रतीसी, कहरा और बिरहुली। साखियों में दोहा, सोरठा, उपमान, चौपाई, लावनी, उल्लाला, रूपमाला और सिंह छंदों का प्रयोग। अलंकार योजना–अनुप्रास अलंकार, रूपक, उपमा, दृष्टान्त, विभावना अलंकार, अतिशयोक्ति अलंकार, उत्प्रेक्षा अलंकार, उदाहरण अलंकार, विरोधाभास अलंकार। कबीर की काव्य भाषा में लोकोक्तियाँ–सूने घर का पाहुणा, काजल केरी कोठरी, बग्ज्यूं मांडै ध्यान। शब्द भण्डार–ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, राजस्थानी, भोजपूरी, पंजाबी, गुजराती, देशज, प्राकृत आदि शब्द। इस परिपाक–कबीर के काव्य में रस परिपाक इस प्रकार है– शांत रस, भक्ति रस, हास्य रस, अद्‌भुत रस, वीभत्स रस। प्रतीक विधान, गेयता, कबीर की काव्य शैली – कूट शैली, उलटबाँसी शैली, मुकरी शैली, फारसी शैली, संस्कृत निष्ठ शैली।

♦ ♦ ♦ ♦

घोषणा शोधार्थी

मैं श्योनारायण रेगर (शोधार्थी, हिन्दी विभाग) यह घोषणा करता हूँ कि मेरा यह शोध प्रबन्ध **"धर्म निरपेक्षता की वर्तमान अवधारणा और कबीर का काव्य"** जो मेरे द्वारा प्रस्तुत किया गया है, यह मेरा अपना शोधकार्य है। मैंने यह शोधकार्य डॉ. प्रदीप कुमार मीना, सहआचार्य, हिन्दी के निर्देशन में पूर्ण किया है। यह मेरा मौलिक कार्य हैं। मैने अपने विचारो को अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है, और जहाँ दूसरे विचारों और शब्दों का प्रयोग किया गया है व मेरे द्वारा मान्य स्रोतों से लिए गये हैं। अपरिहार्य स्थिति में ली गई ऐसी हर सामग्री का यथा स्थान सन्दर्भ एवं आभार व्यक्त कर दिया गया है, जो कार्य इस शोध–प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया हैं।

मैं यह भी घोषणा करता हूँ कि मैंने विश्वविधालय के सभी अकादमिक नियमों का निष्ठा एवं ईमानदारी से पालन किया है, तथा किसी तथ्य को गलत प्रस्तुत नहीं किया हैं। मैं समझता हूँ कि मेरे द्वारा किसी भी नियम उल्लंघन पर मेरे खिलाफ प्रशासनिक कार्यवाही की जा सकती हैं। मेरे खिलाफ जूर्माना भी लगाया जा सकता है यदि मैंने किसी स्रोत से बिना, उसका नाम दर्शाये या जिस स्रोत से अनुमति की आवश्यकता हो बिना अनुमति के लिया हो।

दिनांक :

श्योनारायण रेगर
शोधार्थी

प्रमाणित किया जाता है कि शोधार्थी श्योनारायण रेगर (RS/1083/13) द्वारा दी गयी उपर्युक्त सभी सूचनाएँ मेरी जानकारी के अनुसार सही है।

दिनांक :

शोध पर्यवेक्षक
डॉ. प्रदीप कुमार मीना
सहआचार्य, हिन्दी विभाग
राजकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
सवाई माधोपुर, (राज.)

प्राक्कथन

सामान्य तरीके से जन्म लेकर और एक अति सामान्य परिवार में पलकर कैसे महानता के शीर्ष को छुआ जा सकता है, यह महात्मा कबीर के आचार, व्यवहार, व्यक्तित्व और कृतित्व से सीखा जा सकता हैं। सन् 1398 में जन्में कबीर ने तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों, धार्मिक भेदभावों, असमानता एवं जातिवाद आदि विकारों को दूर करने का प्रयास किया और इसमें उन्हें आंशिक सफलता भी मिली। तभी तो अपना परिचय वे सार्वभौमिक रूप में देते हुए कहते है –

जाति हमारी आत्मा, प्राण हमारा नाम,
अलख हमारा इष्ट, गगन हमारा ग्राम।।

इस प्रकार अपने दोहो के माध्यम से उन्होंने समाज के बीच आपसी सौहार्द और विश्वास बढ़ाने का काम किया। कबीर ने कोई पंथ नहीं चलाया, कोई मार्ग नहीं बनायाः बस लोगों से इतना कहा कि वे अपने विवेक से अपने अन्तर्मन में झांके और अपने अन्तर के जीवात्मा को पहचानकर सबके साथ बराबर का व्यवहार करें, क्यों कि हर प्राणी के अन्दर जीवात्मा के स्तर पर कोई भेदभाव नहीं होता। सबका जीवात्मा एक समान है, फिर सामाजिक स्तर पर आपसी भेदभाव क्यों हों?

कबीरदास हिन्दी के कालजयी रचनाकार हैं। भक्ति आन्दोलन में उनका योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण रहा हैं। उन्होंने आजीवन अपने सिद्धान्तों तथा साधना का प्रचार प्रसार किया। कबीर की कविता ताजमहल नहीं है, न ही विहारोदन्यान है और न वह सुन्दर सरोवर के सदृश्य बल्कि वह तो पर्वतीय दुर्ग के समान हैं। जिसमें सभी छोटे बड़े पत्थर बिना बहुत नापे–जोखे या खराद के बैठाए हुए दिखलाई देते हैं। कबीर का काव्य समाज को परिवर्तित करने का पूरा अभियान हैं। यही नहीं कबीर का काव्य–शरद का आकाश भी है और सान पर चढ़ा शस्त्र भी हैं। कबीर एक महान सन्त कवि, समाज सुधारक, रहस्यवादी और सामाजिक विद्रोह के कवि माने गये हैं।। कबीर के काव्य में एक ओर इतनी तड़प और इतना अकेलापन है और ऐसी मस्ती का ज्वार, है सारी सृष्टि को समेटता चला जाता हैं।

भक्तिकाल को स्वर्णकाल का महत्व जिन कवियों के कारण है उनमे कबीर एक हैं। वे जन्म जात विद्रोही और क्रान्ति के अग्रदूत हैं। उनके निर्माण में युगीन परिवेश महत्वपूर्ण रहा। एक जाज्वल्यमान नक्षत्र, अंध परम्परा को नकारने वाले, क्रान्ति की दुहाई देने वाले, दलितों के, पीड़ितों के कवि, धर्म, परम्परा, समाज संस्कृति का विरोध करने वाले, जिन्होंने कथनी और

करनी में समानता दिखायी हैं। उनके काव्य में जीवन के अनुभूत सत्य हैं। महान विश्व के किसी भी साहित्यकार से कबीर की तुलना नहीं हो सकती। उन्होंने मानवता को सिंहासन पर आरूढ़ किया। उनका काव्य मनुष्य से मनुष्य को जोड़ने वाला मार्मिक सूत्र हैं। अनगढ़िया देव की सेवा ही संसार की सर्वश्रेष्ठ भक्ति हैं। यही भक्ति सामाजिक संतुलन, संयम, सौदार्य तथा अनुद्वेगशील चेतना का ही दूसरा नाम हैं। कबीर का विरह केवल आराध्य तक पहुंचना नहीं है बल्कि मन की, शरीर की सम्पूर्ण विकृतियों को दूर करना हैं। कबीर का प्रेम उस युग के लिए ही नहीं आज के लिए भी आवश्यक हैं। उनके मत से जिसके ह्रदय में प्रेम नहीं उसका इस संसार में आना व्यर्थ हैं। मानव जीवन की सार्थकता प्रेम में ही हैं। कबीर के काव्य पर शोधात्मक टिप्पणी करना मेरे जैसे शोधार्थी के लिए सम्भव कार्य नहीं है लेकिन कबीर के विषय में रूचि रखने के कारण यह कार्य करने का साहस पैदा हुआ। इस अध्ययन का कार्य प्रारम्भ करने के साथ ही कबीर को जानने तथा उनसे पूर्ववर्ती व समकालीन सन्तों का विकासात्मक अध्ययन करना जरूरी था। हालांकि मैंने बहुत से संतो तथा कवियों के बारे में पढ़ा था, फिर भी इस विषय की जानकारी मेरे पास अधूरी थी। कबीर के बारे में जानने के लिए मैंने अनेक पुस्तकों, विद्वानों तथा महाविद्यालयों की लाइब्रेरियों का अमूल्य सहयोग लिया।

शोध प्रबन्ध सप्तम् अध्यायों में विभक्त है–

प्रथम अध्याय में कबीरः व्यक्तित्व विवेचन पर प्रकाश डालते हुए उनके व्यक्तित्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया हैं। इसी में जन्म स्थान एवं बाल्यकाल, पारिवारिक जीवन परिचय, निजी जिन्दगी, क्रान्तिदर्शी कबीर और कबीर के सृजन का विकसित विवेचन का अध्ययन किया हैं। इसमें कबीर के समकालीन वातावरण से जोड़कर विवेच्य कथ्य–वस्तु पर शोधपरक दृष्टि डालने का प्रयास किया गया हैं।

द्वितीय अध्याय में 'कबीर की संवेदनाः सामाजिक और धार्मिक यथार्थ को उल्लेखित किया हैं। इसमें कबीर के युग की सामाजिक, धार्मिक, सामाजिक के साथ–साथ आन्तरिक व बाह्य रूढ़िवादिता पर भी विवेचन कार्य किया हैं।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य में कबीर का हिन्दू–मुस्लिम समाज के समन्वय के स्वरूप का विश्लेषण हैं। इसमें कबीर द्वारा किये गये समन्वयात्मक कार्यो का वर्णन हैं। इसके अन्तर्गत हिन्दू–मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप, कबीर की दार्शनिक पृष्ठभूमि, कबीर और मानवता, कबीर के काव्य में मानव मूल्यों की तलाश और कबीर की ब्रह्म सम्बन्धि अवधारणा का उद्घाटन इस अध्याय का मुख्य अभिप्रेत हैं।

चतुर्थ अध्याय में कबीर के काव्य संकलन की समीक्षा और सृजन की विविधता का अध्ययन प्रस्तुत किया हैं। इसमें गुरूदेव को अंग, सुमिरण को अंग, चितावणी को अंग, कथणी

बिना करणी को अंग, काल को अंग, कुसंगति को अंग, उलटबाँसियों को रेखांकित कर शोध कार्य किया गया हैं। इसी में भारतीय धर्म साधना में कबीर का स्थान को भी उद्‌धाटित करने का प्रयास किया गया हैं।

पंचम अध्याय में हिन्दी साहित्य में कबीर का स्थान व निर्गुण भक्ति का परिचयात्मक विवेचन किया हैं। इसमें मुख्य रूप से हिन्दी साहित्य में कबीर को योगदान, समाज सुधारक कबीर, कबीर की निर्गुण भक्ति, वर्तमान में कबीर की साखियों का महत्व, के साथ–साथ साखियों मे आधार पर कबीर का मूल्यांकन करना इस अध्याय का मुख्य अभिप्रेत हैं।

षष्ठम अध्याय में कबीर के काव्य शिल्प विधान के अन्तर्गत काव्य भाषा, छंद योजना, अलंकार योजना, लोकोक्तियाँ, शब्द भण्डार, रस परिपाक, प्रतीक विधान, गेयता और काव्य सौन्दर्य शैली को उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट किया गया हैं। उपंसहार के रूप में प्रस्तुत सप्तम अध्याय में धर्म निरपेक्षता की वर्तमान अवधारण और कबीर का काव्य की उपलब्धि एवं सम्भावनाओं को रेखांकित किया गया हैं।

इस अवसर पर सर्वप्रथम मैं माँ सरस्वती के चरण कमलों की वंदना करते हुए परम पिता परमेश्वर को सादर नमन करता हूं जो मेरी शोध परक दृष्टि के प्रदाता हैं।

शोध प्रबन्ध के विषय चयन से लेकर इसे प्रस्तुतीकरण तक पहुँचाने में शोध निर्देशक आदरणीय डॉ. प्रदीप कुमार मीना, व्याख्याता, हिन्दी विभाग, राजकीय कन्या महाविद्यालय, सवाईमाधोपुर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। जिनकी छवी देख मैं सदैव आत्मविश्वास व उत्साह से परिपूर्ण हो उठता हूँ। अपनी व्यस्ततम दिनचर्चा के बावजूद हमेशा समय निकालकर, विषय सम्बन्धी उलझनों को सहजता से दूर कर शोधकार्य सम्पन्न कराने का श्रेय उन्हीं को हैं। माननीय गुरूवर से जो अपनत्व एवं स्नेहपूर्ण मार्ग दर्शन मिला, उसके लिए मैं सदैव उनका आभारी रहूँगा।

राजकीय कन्या महाविद्यालय, सवाई माधोपुर की प्राचार्य श्रीमती डॉ. रूपवती पिपल का मैं हार्दिक आभारी हूँ उन्होंने जब कभी मुझे आवश्यकता हुई तब–तब अपने मार्ग दर्शन द्वारा मेरी इस राह को सुगम बनाया। मैं राजकीय कन्या महाविद्यालय, सवाई माधोपुर, एन.एम.(पी.जी.) महाविद्यालय हनुमानगढ़, कोटा विश्वविद्यालय कोटा तथा राधाकृष्णन् पुस्तकालय, जयपुर के पुस्तकालय विभाग का भी आभार व्यक्त करता हूँ।

आज शोध प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण के इस चिर प्रतीक्षित अवसर पर मैं अपने पूज्य पिता श्री पोकरराम रेगर व स्नेहमयी माँ स्व. श्रीमती विद्या देवी को जिन्होंने अपने अनेक प्रयास द्वारा मुझे इस मुकाम तक पहुँचाया, धन्यवाद ज्ञापित कर अपनी भावनाओं को सीमित नहीं करना चाहता। मेरे बड़े पापा (ताऊजी) रामचन्द्र व बड़ी माता (ताई जी) रामदेवी का भी आभार व्यक्त

करता हूँ। मेरे जीवन की सहचरी श्रीमती सोमा रानी, जो मेरे हर बढ़ते कदम की साथी है ने अपनी गृह व्यस्तता के बावजूद इस शोध कार्य मैं मेरा अथक सहयोग दिया। मेरी इस सफलता के पीछे पूर्ण रूप से इन्हीं का सहयोग रहा हैं। कुछ लेने या देने के भाव से ऊपर उठे इस सम्बन्ध के लिए धन्यवाद जैसा शब्द कोई मायने नहीं रखता है, क्योंकि मेरी उपलब्धि भी कहीं न कहीं अन्ततः उन्हीं की उपलब्धि हैं।

बचपन से आज तक के सफर के हर मोड़ में साथी रहे भाइयों ने यहाँ भी इसे अपना कर्तव्य समझते हुए मुझे सहयोग दिया। शोध को पूर्ण करने में मेरे भाई एडवोकेट रामकुमार, रामकृष्ण, पी.टी.ई. राजेश, एडवोकेट शिवभगवान और व्याख्याता रामप्रताप, के विशेष योगदान का मैं सदैव आभारी रहूँगा।

मैं अपने पुत्र विक्रम, प्रदीप कुमार का भी आभारी हूँ। जिसकी निगाह में मैंने मेरे अध्ययन को लेकर सदैव उत्सुकता व जिज्ञासा देखी, उन्होने मुझे इस शोध कार्य को सम्पन्न करने के लिए जो समय दिया, जिस पर कहीं न कहीं उनका भी हक था, उसके लिए वह प्रशंसा के पात्र हैं।

मेरी प्रथम पाठशाला के प्रथम गुरूवर श्रीराम उपाध्याय को भी मैं कोटी–कोटी नमन करता हूँ। जिन्होंने मुझे अगुंली पकड़ कर शिक्षा की राह पर चलना सिखाया। इनके व्यक्तित्व ने हमेशा मुझे मानसिक बल प्रदान कर शोध पूर्ण करने की दृष्टि प्रदान की।

इस शोध प्रबन्ध द्वारा मैने भूमण्डलीकरण के इस दौर में बदल रही स्थितियों में आज की धार्मिक सोच को, समाज की सोच व मानसिकता को जिस प्रकार बदल दिया है उसे विभिन्न सन्दर्भों में खोजने का प्रयास किया है। आज की धार्मिकता अपने समय के प्रत्येक पक्ष (सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक) को समेट रही हैं। और इनके केन्द्र में सम्पूर्ण समाज हैं। कबीर का काव्य सवाल भी खड़ा करता है और स्वयं समाधान भी स्पष्ट करता हैं।

अन्त में टंकण कार्य के लिये मैं हनुमान प्रसाद और कोटा की शबनम खान परम कम्प्यूटर स्टेशन, कोटा को धन्यवाद देता हूँ कि इन्होंने कम समय में मेरे शोध–प्रबन्ध को पूर्ण किया। मैं अपनी यह मौलिक साधना सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ। यह शोध–प्रबन्ध स्वजनों व गुरूजनों की प्रीति व आशीर्वाद का पुण्य फल है और यदि इसमें कोई त्रुटि है तो वह मेरे ज्ञान की अपूर्णता का परिचायक हैं।

शोधार्थी

श्योनारायण रेगर

अनुक्रमणिका

शोध सार **I-III**

प्राक्कथन **IV-VII**

प्रथम अध्याय – कबीरः व्यक्तित्व विवेचन **1–41**

(1) जन्म स्थान एवं बाल्यकाल

(2) पारिवारिक जीवन परिचय

(3) निजी जिन्दगी

(4) क्रान्तिदर्शी कबीर

(5) कबीर का सृजन

द्वितीय अध्याय – कबीर की संवेदनाः सामाजिक और धार्मिक यथार्थ **42–82**

(1) कबीर के युग की सामाजिक स्थिति

(2) कबीर के युग की धार्मिक स्थिति

(3) सामाजिक और धार्मिक यथार्थ

(4) आन्तरिक व बाह्य रूढ़िवादिता

तृतीय अध्याय – हिन्दी साहित्य में कबीर का हिन्दू –

मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप **83–124**

(1) हिन्दू मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप

(2) कबीर की दार्शनिक पृष्ठभूमि

(3) कबीर और मानवता

(4) कबीर के काव्य में मानव मूल्यों की तलाश

(5) कबीर की ब्रह्म सम्बन्धि अवधारणा

(6) वर्तमान सन्दर्भ में कबीर की प्रासंगिकता

चतुर्थ अध्याय – कबीर के काव्य संकलन की समीक्षा और सृजन की विविधता **125–174**

(1) गुरूदेव को अंग

(2) सुमिरण को अंग

(3) चितावणी को अंग

(4) कथणी बिना करणी कौ अंग

(5) काल को अंग

(6) कुसंगति को अंग

(7) उलटबाँसियाँ

(8) भारतीय धर्म साधना में कबीर का स्थान

पंचम अध्याय – हिन्दी साहित्य में कबीर का स्थान व निर्गुण भक्ति **175–211**

(1) हिन्दी साहित्य में कबीर का योगदान

(2) समाज सुधारक कबीर

(3) कबीर की निर्गुण भक्ति

(4) वर्तमान में कबीर की साखियों का महत्व

(5) साखियों के आधार पर कबीर का मूल्याकंन

षष्ठम अध्याय – कबीर के काव्य का शिल्प विधान **212–255**

(1) काव्य भाषा

(2) छन्द योजना

(3) अंलकार योजना

(4) लोकोक्तियां

(5) शब्द भण्डार

(6) रस परिपाक

(7) प्रतीक योजना

(8) गेयता

(9) काव्य सौन्दर्य और शैली

उपसंहार **256–275**

शोध सारांश **276–287**

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची **288–292**

प्रथम अध्याय

कबीर : व्यक्तित्व विवेचन

(1) जन्म स्थान एवं बाल्यकाल

(2) पारिवारिक जीवन परिचय

(3) निजी जिन्दगी

(4) क्रान्तिदर्शी कबीर

(5) कबीर का सृजन

प्रथम अध्याय

कबीर का व्यक्तित्व विवेचन

मध्यकाल को भारतीय हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णयुग माना जाता हैं। इस काल में साहित्य और कला का प्रदर्शन उच्च शिखर पर था। भारतीय संस्कृति और धर्म के इस युग में नए सन्दर्भों के साथ व्याख्या की गयी। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने इस युग को धार्मिक पुनरूत्थान और 'पुनर्जागरण' का नाम दिया। प्राचीन काल और आधुनिक काल इन दोनों के बीच मध्यकाल अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य के साथ प्रस्तुत हुआ हैं। ऐसे भारत के अस्तित्व में मध्यकालीन कवियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। शेखफरीद, रामानन्द, कबीर, गुरूनानक, तुलसी, सूरदास और ऐसे अनेक दूसरी भाषाओं के कवि हैं। जिन्होंने मध्यकालीन चेतना को अपने काव्य और प्रचार के द्वारा प्रकट किया। इनका संचार साधन आन्दोलन लहर और समूह की आवाज बनकर देश के कोने–कोने तक पहुंचा। इन कवियों ने धर्म, नस्ल, रंग, भेद से ऊपर उठकर मध्यकालीन समाज के समक्ष ईश्वर, धर्म, नेतिकता, त्याग, सेवा, प्रेम, मातृ–भाव और मानवता की अटूट साझेदारी को प्रमुखता देकर लोगों को नेक मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी।

कबीर ऐसे युग के प्रतिनिधि कवि थे। जिन्होंने भारतीय समाज को पूर्णरूपेज नया और मौलिक चिंतन दिया। बाकी कवियों की भाँति कबीर की प्रामाणिक जीवनी उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि यह कवि व्यक्ति भावना को छोड़कर समूह जीवन को सुखमय बनाने के लिए हर समय तत्पर रहते थे। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की ऐसी उच्चता को उनकी विनम्रता कहा हैं। फिर भी कबीर के जीवन सम्बन्धी कई नवीन खोज तथ्य प्रकाश में आए हैं। ''कबीर का आविर्भाव जैसे इन राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का एक आग्रह पूर्ण आंमत्रण था और कबीर ने धर्म समाज के संघटन के लिए समस्त बाह्याचारों का अन्त करने और प्रेम से समान धरातल पर रहने का एक सर्वमान्य सिद्वान्त प्रतिपादित किया।[1]

भारत के इतिहास में अनेक विभूतियों की सुवर्ण रेखाओं में अंकित जीवनियां उपलब्ध होती हैं जिन्होंने काल की गति अपने अमिट पदचिह्नों से एक चिरस्मरणीय स्मृति के साथ अपने जीवन के वैभव को बिखेरा हैं, जो संस्कृति के महान् स्तम्भ बने हैं, जो इलाका–पुरुष का गौरव प्राप्त कर चुके हैं, जिन्होंने जंगल में भी मंगल मनाया हैं, जिन्होंने अपने सब अभावों को पूर्णता की सीमा बना दिया हैं। कबीर भी ऐसी ही एक महान विभूति थे। आज कबीर स्मरणीय इसलिए हैं कि परम्पराओं

के उचित संचयन तथा परिस्थितियों की प्रेरणा में उन्होंने ऐसे विश्व धर्म की स्थापना की जो जनजीवन की व्यावहारिकता में उतर सके और अन्य धर्मो के प्रसार में सामानान्तर बहते हुए अपना रूप सुरक्षित रख सके। वह रूप सहज और स्वाभाविक हो तथा अपनी विचारधारा में सत्य से इतना प्रखर हो कि विविध वर्ग और विचार वाले व्यक्ति अधिक से अधिक संख्या में उसे स्वीकार कर सके और अपने जीवन का अंग बना सके।

''कबीर शास्त्रीय गान की अपेक्षा अनुभव ज्ञान को अधिक महत्व देते थे। उनका विश्वास सत्संग में था। उन्होंने अद्वैत से इतना ग्रहण किया कि ''ब्रहम एक हैं, द्वितीय नहीं। जो कुछ दृश्यमान हैं। वह माया हैं, मिथ्या हैं। उन्होंने माया का मानवीकरण कर उसे कंचन और कामिनी का पर्याय माना और सूफीमत के शैतान की भाँति पथभ्रष्ट करने वाली समझा। उनका ईश्वर एक हैं जो निर्गुण और सगुण से भी परे हैं। वह निर्विकार और अरूप हैं। उसे मूर्ति और अवतार में सीमित करना ब्रह्म की सर्वव्यापकता का निषेध करना हैं। इस निराकार ब्रह्म की उपासना योग और भक्ति में की जा सकती हैं।[2]

कबीर की इस देन को उनके परवर्ती प्रायः सभी संतो ने स्वीकार किया हैं। इसी कारण उन्हैं बहुत से लोग आदि संत कहते हुए भी पाये जाते हैं। कबीर अपने आप में अनोखे, विरल और असाधारण होते हुए भी महापुरूषों की परम्परा में जीवित हैं जिन्होंने अपने समय के प्रति भक्तिपूर्वक अपना उत्तरदायित्व निभाया हैं। कबीर के आविर्भाव के समय सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्रांतियाँ अपने चरम शिखर पर थी। राजनीति की परिस्थितियों में कोई स्थिरता नहीं थी न राजवंश स्थिर था न राजनीति निश्चित थी। आकस्मिक राज परिवर्तन की सम्भावना हमेशा बनी रहती थी। सरकार जनता पर मनमाना अत्याचार करती थी। ऐसी स्थिती में जनता की राजवंश या राजनीति में आस्था न रही। निरपेक्ष भाव से वह कहती थी – ''कोउ नृप होय हमें का हानी?''

एक ओर प्रजा ऐसी असहाय और दूसरी ओर कबीर का आविर्भाव, इस घटना को दैवीय – संयोग ही कहना पड़ेगा।

(1) जन्म, स्थान एवं बाल्यकाल

यहाँ में कबीर का जीवन परिचय देते हुए उनकी जन्म तिथि और निर्वाण तिथि की शुद्धता प्रतिपादित करने का प्रयास करूँगा। अनेक अनुसन्धान कर्ताओं ने कबीर के जीवन परिचय को उद्धाटित करने का प्रयास किया हैं, उन सभी की अपनी–अपनी सीमाएं रही हैं। फलतः कबीर का जीवन परिचय कुछ हद तक संदिग्ध हो रहा हैं। मैं यहाँ पर उपलब्ध तथ्यों के आधार पर कबीर का

जीवन परिचय देने की चेष्टा करूँगा। कबीर द्वारा कही गई निम्न पंक्तियाँ इसी सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं–

''गुरू प्रसादी जयदेव नामा
भक्ति के प्रेम इनहीं हैं जाना।''[3]

इन पंक्तियों में दो ऐतिहासिक संतो जयदेव और नामदेव का उल्लेख हैं। जयदेव का समय 1170ई. हैं। ये राजा लक्षणसेन के दरबार को सुशोभित करते थे।[4] आचार्य शुक्ल ने नामदेव का जन्म सन् 1270 माना हैं।[5] इस आधार पर हम कह सकते हैं कि कबीर का जन्म इन दोनों के बाद हुआ। अर्थात 1270ई. के बाद कबीर का जन्म मानना चाहिए। कबीर ने रामानन्द का आदर के साथ स्मरण किया हैं। कबीर की निम्न पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं– ''रामानन्द राम रस माते कहहि कबीर हम कहि कहि थाके।[6] रामानन्द जी को कबीर का गुरू बतलाया गया हैं।[7] अतः कबीर का जन्म रामान्नद के बहुत बाद होना चाहिए। रामानन्द का समय (1382 से 1448ई.) माना जाता हैं। पीपा जी ने कबीर का वर्णन किया हैं –

''भगति प्रताप राज्य वे कारण जिन जन आप पठाया।
नाम कबीर सब परकास्या तहाँ पीपे कछु पाया।।''[8]

परशुराम चतुर्वेदी ने पीपा का जन्म काल सं. 1465–1475 लगभग माना हैं।[9] अतः कबीर जी पीपा के पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं। सिकन्दर लोदी के सम्बन्ध में कहैं पदों से सिकन्दर लोदी के समकालीन थे। सन् 1755 में प्रियदास द्वारा लिखी गई नाभादास के भक्तमाल की टीका से यह स्पष्ट होता हैं कि कबीर सिकन्दर लोदी के समकालीन थे। ''प्रभाव फैरि उपज्यों अभाव द्विज

आयो पातसाह्न सौ सिकन्दर सुनाव हैं।''[10]

प्रियादास ने 'भक्तमाल' टीका में सिकन्दर लोदी और कबीर में संघर्ष दिखलाया हैं। उसी टीका में एक टिप्पणी देते हुए श्री सीताराम शरण भगवान् प्रसाद ने लिखा हैं यह प्रभाव देखकर ब्राह्मणों के ह्रदय में पुनः मत्सर उत्पन्न हुआ। वे सब काशी राज को भी कबीर के वश में जानकर बादशाह सिकन्दर लोदी के पास जो आगरे से काशी आया या पहुँचे।[11] इतिहास ग्रन्थकारों के अनुसार इनका समय 1488–89 से 1517 तक हैं। सिकन्दर 1494 में काशी जाता हैं। इससे यह सिद्ध होता हैं कि कबीर सन् 499 तक विद्यमान थे। उस समय तक वे गुरू की पदवी प्राप्त कर चुके थे तथा हिन्दू और मुसलमानों पर तीक्ष्ण प्रहार भी करने लगे थे।

''जसराणा गढ़ में लिखी सुमिर ले करतार।[12]
राजा राणा छत्रपति सावधान किन होई।।[13]

कबीर के उपर्युक्त अन्तः साक्ष्य इस बात का संकेत करते हैं कि उन्होंने अपने समकालीन राजाओं का संकेत ही दिया हैं। राणा कुम्भा (1433 से 1468ई.) तथा राणा संग्राम सिंह सांगा (1508–1527ई.) राणा कुम्भा मेवाड़ के प्रतापी शासकों में से था। उसने अनेक बार मालवा और गुजरात के मुस्लिम सुल्तानों को घूल चटाई और मालवा के सुल्तान को पराजित करने की स्मृति में चित्तौड़ में एक विजय स्तम्भ का निर्माण करवाया।[14] राणा सांगा इस राज्य का दूसरा पराक्रमी और प्रतापशाली शासक हुआ। उसके समय में मेवाड़ राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर था। ''कहा जाता हैं कि उसने दिल्ली तथा मालवा के सुल्तानों को 18 बार पराजय दी थी। वह एक अद्वितीय सेनानी तथा महान् योद्धा था।''[15] ये दोनो राणा ही कबीर के समसामयिक थे। यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता हैं कि कबीर राणा की अद्वितीय विजयों से उसकी वीरता की गाथाओं से भली–भाँति परिचित थे। अतः उपर्युक्त साखियाँ 1515 या 1516 के आस–पास रची गई होंगी। इसी सम्बन्ध में डॉ. सरनाम सिंह शर्मा लिखते हैं कि– ''जिस समय कबीर ने राणा के सन्दर्भ से अपनी वाणी को उद्घाटित किया उस समय तक राणा को प्रभूत विजय गौरव मिल चुका होगा और यह समय उसके सिंहासनारूढ़ होने के काफी बाद का होना चाहिए। इस प्रकार हम सम्बन्धित साखियों के रचना–काल तक जा पहुँचते हैं। जो सन् 1515 या 1516ई. के आसपास होना चाहिए। इस प्रकार कबीर का मृत्युकाल 1518ई. ठीक दीख पड़ता हैं।[16]

कबीर के जीवन से सम्बन्धित विवरण अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें सबसे महत्वपूर्ण 'कबीर चरित्र बोध हैं। इसमें कबीर का जन्म चौदह सौ पचपन विक्रमी, जेष्ठ सुदी पूर्णिमा, सोमवार लिखा हैं।[17] डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने एस. आर. पिल्ले की ''इण्डियन क्रानालोजी'' के आधार पर गणित करके यह स्पष्ट किया हैं कि सं. 1455 की जेष्ठ पूर्णिमा को सोमवार ही पड़ता हैं।[18] कबीर पंथियों में निम्न पद बड़ा प्रसिद्व हैं –

"चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी बरसायत को पूर्णमासी प्रकट भए।
धन गरजै दामिनी दमके बरषै झर लाग गए।
लहर तालाब में कमल खिलै तंह कबीर भानु प्रगट भए।।"[19]

इसी पद के आधार पर बाबू श्याम सुन्दरदास ने गए का अर्थ व्यतीत हो जाना लगाकर इनका जन्म 1456 सिद्ध करने का प्रयास किया हैं, परन्तु डॉ. माता प्रसाद का तर्क अधिक प्रमाणिक हैं कि 1456 की जेष्ठ पूर्णिमा को सोमवार नहीं पड़ता हैं। सोमवार 1455 जेष्ठ सुदी पूर्णिमा को ही

पड़ता हैं। इसलिए निसंकोच कबीर का जन्म 1455 जेष्ठ सुदी पूर्णिमा, सोमवार को ही माना जाना चाहिए। उपर्युक्त पद कबीर के प्रधान शिष्य और उत्तराधिकारी धर्मदास का कहा हुआ बताया गया हैं। अतः यह ठीक भी जँचता हैं, क्योंकि अपने गुरू के सम्पर्क में आने के कारण उन्हैं उनका जन्म ठीक–ठीक मालूम था और तथ्य का उद्‌घाटन उन्होंने उपर्युक्त छन्द के माध्यम से किया हैं।

अतः उनके जीवनवृत के सम्बन्ध में विश्वासपूर्वक कुछ भी कहने से पहले आवश्यक हैं कि हम इस क्रम में अब तक के अध्येताओं द्वारा प्रस्तुत आधारभूत सामग्री की परीक्षा कर ले। समग्र आधार भूत सामग्री को दो वर्गो में रखा जा सकता हैं। अन्तस्साक्ष्य और बहिस्साक्ष्य। कबीर वाणी में उपलब्ध अन्तस्साक्ष्य की सामग्री अत्यल्प हैं। अत एवं पहले बहिस्साक्ष्य के सम्बन्ध में विचार करना समीचीन होगा।

बहिस्साक्ष्य के अन्तर्गत आने वाली साम्रगी को चार वर्गो में प्रमुत किया जा सकता हैं – (1) प्राचीन धार्मिक साहित्य (2) साम्प्रदायिक साहित्य (3) इतिहास ग्रन्थ (4) संतो और भक्तों के स्फुट उल्लेख।

(1) प्राचीन धार्मिक साहित्य – प्राचीन धार्मिक साहित्य के अन्तर्गत निम्नाकित कृतियाँ उल्लेखनीय हैं

(क) नाभादास कृत 'भक्तमाल' (संवत् 1642)

(ख) अनंतदास कृत 'कबीर साहिब जी की परचयी' (संवत् 1657)

(ग) गुरू अर्जुन देव द्वारा सम्पादित 'श्री गुरू ग्रन्थ साहब' (संवत1661)

(घ) प्रियादास कृत 'भक्तमाल की रस बोधिनी टीका' (संवत 1702)

(ड़) मुकुन्द कवि कृत 'कबीर चरित' (संवत 1708)

(च) राधोदास कृत 'भक्तमाल' (संवत 1717)

भक्तमाल (नाभादास)

इस कृति में अलग–अलग दो छप्पयों में कबीर साहब का उल्लेख मिलता हैं। एक छप्पय पूरा कबीर सबीर साहब के सम्बन्ध में हैं और सब रामानन्द के सम्बन्ध में जिसमें उनके शिष्यों की सूची दी गई हैं और प्रसंगत कबीर साहब का उल्लेख किया गया हैं। पहले छप्पय से कबीर के सम्बन्ध में निम्न लिखित बातें ज्ञात होती हैं।[20]

(क) कबीर साहब ने भक्ति विरोधी धर्म को अधर्म कहा। (ख) भक्ति के सम्मुख उन्होंने भोग, वृत, दान सभी को तुच्छ बताया। (ग) उन्होंने किसी के साथ पक्षपात नहीं किया और जो कुछ कहा सबके हित के लिए कहा। (घ) कबीर ने वर्णाश्रम धर्म और षट् दर्शनों में निरूपित सिद्वान्तों की परवाह नहीं की। (च) उन्होंने किसी की मुँह देखी नहीं कही। (छ) उनके द्वारा कथित रमैनी, शब्दी और साखी हिन्दुओं और तुर्को दोनो के लिए प्रमाण रूप मान्य हुई। उपर्युक्त समस्त बातें कबीर की प्रवृति और व्यक्तित्व से सम्बन्ध हैं। इनसे उनके जीवन–वृत्त के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं मिली। दूसरे छप्पय से इतना ही ज्ञात होता हैं कि कबीर साहब रामानन्द के शिष्य थे।[21]

कबीर साहिब जी की परिचयी

इनका समय संवत् 1645 निर्धारित किया गया हैं। यह अनुमान पर आधृत हैं। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तुत 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण में अनन्तदास को संवत 1645 के लगभग वर्तमान बताया गया हैं। इसी के आसपास उन्होंने कबीर साहब की परिचयी लिखी होगी। इन अनुमान के आधार पर 'परिचयी का समय संवत् 1645 माना गया हैं। इसमें कबीर साहब के जीवन–वृत के सम्बन्ध में निम्नलिखित महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं –

(क) कबीर साहब जुलाहा थे और काशी में निवास करते थे। (ख) उन्होंने बड़े भाग्य से रामानन्द जैसा गुरू प्राप्त किया था। (ग) सिकन्दरशाह ने काशी में कबीर पर अत्याचार किये थे। (घ) बथेलराजा वीर सिंह कबीर के समकालीन थे। (ड़) कबीर ने 120 वर्ष तक भक्ति साधना की थी और उसके बाद मुक्त हुए थे। (च) कबीरदास का बचपन धोखे में ही व्यतीत हुआ था और 20 वर्षो तक उन्हैं किसी प्रकार की आध्यात्मिक चेतना नहीं हुई थी। (छ) कबीर साँवले रंग के सुन्दर आकृति के व्यक्ति थे।

श्री गुरू ग्रन्थ साहब

इस ग्रन्थ में कबीर के 'सलोक' और रागु संगृहीत हैं। ग्रन्थ का सीधा सम्बन्ध कबीर के जीवन–वृत से नहीं हैं। इसके अन्तर्गत नानक, धन्ना, रविदास आदि संतो की जो बानियाँ संगृहीत हैं, उनमें कबीर की जाति का उल्लेख हैं। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में किसी अन्य घटना या ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख नहीं मिलता।

भक्तमाल की रस बोधिनी टीका

इस टीका में कबीर के जीवन–वृत से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी गई हैं। इन सूचनाओं का क्रमबद्ध विवरण निम्नाकिंत हैं– (क) कबीर दास रामानन्द के शिष्य थे। (ख) यह शिष्यत्व उन्हें पंचगंगा घटा की सीढ़ियों पर स्वामी रामानन्द की खड़ाऊ से टकराने के बाद प्राप्त हुआ था। (ग) कबीर दास कपड़ा बुनते और बेचते थे। (घ) यवन सम्राट सिकन्दर लोदी ने कबीर पर अत्याचार किए थे। (ड़) कबीर का निधन 101 वर्ष की अवस्था में हुआ था। (च) भगवान ने स्वयं व्यापारी के वेष में कबीर के घर पर भोज्य सामग्री बैलों पर लादकर पहुँचायी थी।

कबीर चरित–इसके रचयिता मुकुन्द कवि द्वारका निवासी औदित्य गुगली ब्राह्मण थे। इन्होंने भक्तमाल की रचना की हैं इसमें कबीर–चरित्र' एवं 'गोरक्षा चरित' ही उपलब्ध हैं। 'कबीर चरित में कबीर के महत्व के अतिरिक्त निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं– (क) स्वामी रामानन्द कबीर के गुरू थे। (ख) कबीर की मृत्यु के बाद हिन्दुओं और मुसलमानों में द्वन्द्व हुआ था। (ग) वीरसिंह ने काशी में कबीर की समाधि बनबाई। (घ) मुसलमानों ने गोरखपुर (मगहर से ताप्तर्य) एक बड़ी मस्जिद बनवाई।

भक्तमाल (राधोदास दादूपंथी कृत)

इसमें कबीर के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य दिये गये हैं – (क) इन्हैं काशी के पास किसी जुलाहैं ने वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ पाया था। (ख) बड़े होने पर यह एक सच्चे भक्त साधक हुए। (ग) सिकन्दर शाह ने इन्हैं पीड़ित किया था। (घ) कमाल, कमाली, पद्यनाभ, रामकृपाली, नीर, धीर, ज्ञानी, धर्मदास और हरदास ये कबीर के नौ शिष्य थे।

(2) साम्प्रदायिक साहित्य

कबीर पंथी भक्तों, संतो और जिज्ञासुओं द्वारा कबीर के जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाले अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। इन्हैं दो वर्षो में रखा जा सकता हैं – प्राचीन और अर्वाचीन। प्राचीन ग्रन्थों में मात्र दो का उल्लेख किया जा सकता हैं। (1) निर्भय ज्ञान और (2) आशा सागर। अर्वाचीन ग्रन्थ अनेक हैं –

निर्भय ज्ञान – नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज के आधार पर जो हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया हैं, उसमें इसे कबीर कृत बताया गया हैं। और इसका लिपिकाल संवत–1892 दिया गया हैं। श्री केदारनाथ द्विवेदी ने अपने शोध–प्रबंध–कबीर और

कबीरपंथ में नागरी–प्रचारिणी सभा की सन् 1909–11 की त्रैवार्षिक खोज रिर्पोट के आधार पर इसकी एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख किया हैं, जिसका लिपिकाल संवत 1633 हैं। दामा खेड़ा के कबीरपंथी मठ में जो प्रति स्वयं हजारी प्रसाद द्विवेदी जी को प्राप्त हुई हैं, उसका प्रतिलिपि काल सं. 1856 हैं। यह किसी कबीरपंथी साधु की रचना हैं और संवत् 1800 के आस–पास लिखी गई हैं। इसमें कबीर के रामानन्द के शिष्य होने, सिकन्दर शाह द्वारा उन पर अत्याचार किये जाने वाले तथा मगहर में उनकी मृत्यू होने का उल्लेख हैं शेष सारी बातें कबीर की अलौकिकता प्रकट करती हैं।

आशा सागर – इसकी एक प्रति श्री केदारनाथ द्विवेदी को पुरी के कबीर चौरा में ताड़पत्र पर उड़िया लिपि में लिखी हुई प्राप्त हुई थी। स्वयं द्विवेदी जी इसकी प्राचीनता में सन्देह न करते हुए भी इसे उन्नीसवीं शताब्दी या और भी इधर की रचना मानते हैं। इसमें कबीर साहब की जन्मतिथि संवत् 1455 की ज्येष्ठ पूर्णिया मानी गयी हैं। अर्वाचीन ग्रन्थों में 'कबीर कसौटी' (संवत् 1942, बाबू लहना सिंह कृत) 'कबीर मंसुर' (संवत् 1944, पंजाब निवासी स्वामी परमानन्द दास कृत) 'कबीर चरित बोध' (स्वामी युगलानन्द द्वारा संशोधित, श्री वेंकटेश्वर प्रेम, बम्बई से संवत् 1963 में प्रकाशित), 'श्री सद्गुरू चरितम्' ब्रह्मलीन मुनि द्वारा संस्कृत में रचित, संवत–2016) उल्लेखनीय हैं। 'कबीर कसौटी' में कबीर के जीवन वृत के सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं –

(1) कबीर ने माघ सुदी एकादशी दिन बुधवार संवत् 1575 को काशी से मगहर के लिए प्रस्थान किया और उसी दिन मगहर पहुँचे। इस तथ्य की पुष्टि निम्नलिखित दोहैं से की गई हैं –

संवत् पन्द्रह सौ पछतरा, किया मगहर को गौन।
माध सुदी एकादशी, रलो पवन में पवन।।[22]

(2) कबीर की मृत्यू के बाद वीरसिंह बधेला और बिजली खां में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। 'कबीर मंशूर' में मुख्यतः पाँच बातों का उल्लेख हैं– (1) कबीर संवत–1455 में काशी के लहरतारा तालाब में कमल पुष्प पर ज्योति रूप में अवतरित हुए थे (2) नीरू और नीमा दम्पति ने उनका पालन किया था। (3) उन्होंने रामानन्द को अपना गुरू स्वीकार किया था। (4) कमाल कबीर का शिष्य और कमाली शिष्या थी। (5) कबीर का देहावसान संवत् 1575 में मगहर में हुआ था।

'कबीर चरित्र बोध' में 'कबीर मंशूर' में उल्लिखित तथ्यों के अतिरिक्त दो बातें और ध्यान देने वाली हैं – (1) संवत् 1545 में सिकन्दर लोदी काशी आया था, वह कबीर से प्रभावित हुआ था, किन्तु शेख तकी ने उनके विरुद्ध षड़यन्त्र किये थे। कबीर 119 वर्ष 5 माह 20 दिन की आयु में मगहर से अन्तर्धान हुए थे।

'श्री सत्गुरूचरितम्' में कबीर पर लगाये गये आरोपों का खण्डन किया गया हैं। और 'कबीर मंशूर' में वर्णित तथ्यों को प्रायः ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया हैं।

(3) इतिहास ग्रन्थ

कबीर का उल्लेख करने वाले इतिहास ग्रन्थ भी दो प्रकार के हैं – (1) प्राचीन (2) अर्वाचीन। प्राचीन इतिहास ग्रन्थों में 'आईन–ए–अकबरी' (संवत्1655 अबुल–फजल अल्लायी कृत) और दबिस्तान–ए–मजाहिब' (संवत् 1700 के आसपास, मोहसिन फानी कृत) उल्लेखनीय हैं। 'आइन–ए–अकबरी' में कबीर का उल्लेख 'जगत्नाथपुरी' और 'रतनपुरा' (अवध में स्थित) इन दो स्थानों के प्रसंग में किया गया हैं – जिससे निम्न लिखित सूचनाएँ मिलती हैं –

(1) कबीर सिकन्दर लोदी के समसामयिक थे। (2) वे एकेश्वरवादी थे। (3) उन्हैं सत्य की झलक मिल गई थी। (4) उन्हैं हिन्दू और मुसलमानों दोनों प्यार करते थे। (5) उनकी समाधि रतनपुर (अवध) और (पुरी) (जगन्नाथपुरी) दोनों स्थान पर बताई जाती हैं। (6) उनकी मृत्यु के बाद ब्राह्मण उन्हैं जलाना चाहते थे और मुसलमान कब्रिस्तान में दफनाना चाहते थे। (7) वे समय की घिटी–पिटी रीतियों से अलग हो गये थे। (8) उनकी रहस्यमयी उक्तियाँ हिन्दी में प्राप्त हैं जो उनकी यादगार हैं।

दविस्तान–ए–मजाहिब में मुख्यतः दो बातों का उल्लेख हैं – (1) कबीर जाति के जुलाहैं थे (2) उन्होने रामानन्द को गुरू–रूप में स्वीकार किया था।

अर्वाचीन इतिहास ग्रन्थो की लम्बी सूची हैं। इनमें 'रेलिजस सेक्टस आफ दी हिन्दूज' (1846ई.एच. एच. विल्सन कृत) 'कबीर एण्ड कबीर पंथ' (1907ई. एस.जी. वेस्टकाट कृत) 'दी सिख रेलिजन' (1909 मैक्स आर्थर मेलालिफ कृत), 'आउटलाइन आफ रेलिजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया (1911ई. फर्कुहर कृत) 'वैष्णविज्य सेविज्म एण्ड माइनर रेलिजन सिस्टम्स' (1913ई. सर आर.जी. भंडारकर कृत), 'कबीर एण्ड हिज फालोवर्स' (1931ई. डॉ. एफ. ई. के. कृत), कबीर एण्ड दी भक्ति मूवमेण्ट' (1934ई. डॉ. मोहन सिंह कृत), 'दी निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री' (1936, डॉ. पीताम्बर दत्त बडथ्वाल कृत) आदि ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन इतिहासकारों ने वैज्ञानिक दृष्टि से कबीर का जीवनवृत्त प्रस्तुत करना चाहा हैं, किन्तु साम्प्रदायिक ग्रन्थों की चमत्कारपूर्ण घटनाओं और जनश्रुतियों के बीच से तर्क सम्मत तथ्यों का चयन असम्भव–सा हो गया हैं। इन इतिहासकारों ने कबीर पूर्व एवं कबीर के सम–सामयिक अन्य संतो का जीवनकाल निर्धारित करके उसके आधार पर कबीर का समय निर्धारित करने का प्रयत्न किया हैं। या स्वामी रामानन्द का समय निर्धारित

करके उसके आधार पर कबीर के समय की कल्पना की हैं या सिकन्दर लोदी के समय को ध्यान में रखकर कबीर का समय निर्धारित करना चाहा हैं। इन लेखकों ने जन श्रुतियों और अन्तस्साक्ष्यों का भी आधार लिया हैं। इन सबके बावजूद कबीर के प्रामाणिक जीवनवृत के सम्बन्ध में निर्भ्रान्त निर्णय लेने में प्रत्येक ने अपनी असमर्थता व्यक्त की हैं।

(4) सन्तों और भक्तों के स्फुट उल्लेख

कबीर का उल्लेख उनके समकालीन तथा परवर्ती अनेक सन्तों और भक्तों ने किया हैं इनमें धन्ना (संवत 1472 जन्म), पीपा (संवत् 1582 जन्म) नानक (संवत् 1526–95), रैदास (कबीर के समकालीन), मीराबाई (संवत् 1561) कमाल (संवत् 1564), व्यास जी (ओड़छे वाले हरिराम शुक्ल, संवत् 1618), दादू संवत् 1601–60), बखना (सत्रहवीं सती का मध्य), तुकाराम (संवत् 1655 जन्म) आदि विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इन संतों और भक्तों के उद्‌गार श्रदापूर्ण हैं। इनके कबीर के सम्बन्ध में कुल तीन बाते ज्ञात होती हैं। (1) कबीर के गुरू रामानन्द थे, (2) कबीर जाति के जुलाहैं थे। (3) कबीर भगवान के उच्चतम कोटि के भक्त थे। कबीर के जीवन से सम्बन्ध अन्य किसी धटना का उल्लेख इन संतो ने नहीं किया हैं।

निर्वाण – कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में निम्नलिखित चार पद बड़े प्रसिद्व हैं –

(1) संवत पन्द्रह सौ औ पाँच भो मगहर कियो गमन।
अगहन सुदी एकादशी मिले पवन मे पवन।।[23]

(2) सवत् पन्द्रह सौ पछतरा कियो मगहर को गबन।
माध सुदी एकादशी, रलो पवन में पवन।।[24]

(3) संवत पन्द्रह सौ उनहतरा हाई।
सतगुरू चले उठ हंसा ज्याई।।[25]

(4) पन्द्रह सौ उनचास में मगहर किनौ गौन।
अगहन सुदी एकादसी, मिली पवन में पवन।।[26]

इन चारों छन्दों में चार मत दिये हैं। अब हम इनमें से अधिक तर्क संगत मत को जानने का प्रयास करेंगे। पहला पद सम्वत् 1505 अर्थात् 1448 ई. कबीर का निधन काल मानता हैं। डॉ. बडथ्वाल इसी काल को कबीर का मृत्युकाल मानते हैं। डॉ. प्युहरट भी इसी काल को सही मानने के पक्षधर हैं। उन्होंने 'आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया' के अन्दर दिए गए निम्न अवतरण का हवाला दिया हैं– पनवाब बिजली खां ने सन् 1450ई. (संवत 1507) बस्ती जिले के दाहिने तट पर कबीरदास या कबीरशाह का स्मारक बनवाया।[27] बाद में सवत् 1567 में नबाब फिदाई खां ने उसकी

मरम्मत करवाई इनके आधार पर सन् 1550 से पूर्व उनकी मृत्यु माननी चाहिए। अर्थात् सन् 1448ई. में उनका निधन मानना चाहिए। डॉ. श्यामसुन्दर दास ने कबीर ग्रन्थावली की प्रस्तावना में इसे नकारते हुए कहा हैं कि यह मत किसी दृढ़ प्रमाण पर आधृत नहीं हैं। डा. रामकुमार वर्मा ने तर्क दिया हैं कि बिजली खां ने उनका समाधि स्थल नहीं बनवाया था, अपितु कबीर के प्रति अपनी श्रद्धा का स्मृति–चिह्न बनवाया था जिसे 27 वर्ष बाद फिदाई खां ने इसकी मरम्मत करवाकर इसे समाधि स्थल मान लिया।[28] किन्तु 1448 को सही मानने पर न तो कबीर का सम्बन्ध सिकन्दर लोदी से जुड़ता हैं। (1488–89 से 1517ई.) और न ही यह समय राणा कुम्भा का वैभवकाल माना जा सकता हैं। राणासंग्राम सिंह से सम्बन्ध की बात तो बहुत दूर रह जाती हैं।

"भुजा बांधि मिलाकर डारिओ। हसती कोपी मुंड महि मारिया।।
कंचरू पोट ले नमसकोर। बुझी नहीं कासी अंधियारे।।[29]
गंग गुसाइन गहरि गंभीर
जंजीर बाँधि करि खरे कबीर।।[30]

1448 को उनका निधन मानने से सिकन्दर लोदी व कबीर की समकालीनता बहैं खाते में चली जाती हैं। यह समकालीनता इतिहास प्रसिद्ध हैं, अधिकांश इतिहासकार इस तर्क से सहमत हैं कि सिंकन्दर लोदी ने कबीर पर अत्याचार किए। शेष तीनों पदों पर चर्चा करते हुए पद नं.3 की परीक्षा पर उनका निधन 1566 अर्थात् सन् 1512 तथा पद नं. 4 के आधार पर 1549 भी निधन काल सिद्ध नहीं होता हैं। पद नं. 2 के आधार पर अनन्तदास की परिचई में दिया हुआ समय 1518 ही ठीक बैठता हैं। अर्थात् कबीर की आयु 120 वर्ष के लगभग आँकी गई हैं। इस आधार पर कबीर का निधन 1518 सं. 1575 ठीक बैठता हैं। इससे उनका सम्बन्ध रामानन्द, सिकन्दर लोदी, पीपा, नानक तथा राणा संग्राम सिंह से ठीक–ठीक बैठ जाता हैं। अतः निर्विवाद रूप से सन् 1518 वि.स. 1575 को ही उनकी निधन तिथि माना जाना चाहिए।

कबीर जन्म स्थान

जन्म स्थान के सम्बन्ध में तीन मत प्रचलित हैं –

(1) वे मगहर में उत्पन्न हुए थे।

(2) उनका जन्म स्थान काशी था।

(3) वे आजमगढ़ जिले के बेहरा गाँव में उत्पन्न हुए थे।

डॉ. श्यामसुन्दर दास ने कुछ अतः साध्यों के आधार पर उनका जन्म स्थान काशी माना हैं।[31] किन्तु डॉ. रामकुमार वर्मा इनके मत का खण्डन करते हैं तथा उनका जन्म स्थान मगहर मानते हैं।[32] डॉ. रामकुमार वर्मा का कहना हैं कि काशी में कबीर का जन्म नहीं हुआ, अपितु वे बाद में काशी आकर रहने लगे। अब अंतः साक्ष्यों पर विचार करते हैं तो आपस में विरोधी रूख अपनाते हैं। उदाहरण के लिए निम्न पद्यांश प्रस्तुत हैं –

(4) 'काशी में हम प्रकट भए, रामानन्द चिताए'[33]

इस पंक्ति में कोई उलझन नहीं हैं और स्पष्ट रूप से कबीर का जन्म काशी में सिद्ध हो जाता हैं, परन्तु दूसरे अंतः साक्ष्य के आधार पर देखें – ''पहले दर्शन मगहर पायो, पुनि काशी बसे आई।[34] यहाँ 'दर्शन' शब्द विद्वानों के लिए विचारणीय बन गया हैं। मगहर को कबीर का जन्म स्थान मानने वाले (दर्शन) का अर्थ 'जन्म लेना' मानते हैं और दूसरे पक्ष वाले विद्वान इसका अर्थ (ईश्वर दर्शन) ईश्वरानुभूति मानते हैं। इनका कहना हैं कि सम्भवतः कबीर कभी पर्यटन करते–करते मगहर गए होंगे और वहाँ उनकी भेंट किसी सिद्ध पुरूष से हुई होगी या उन्हैं ईश्वर दर्शन प्राप्त हुआ होगा अथवा वहाँ उन्हैं ज्ञान प्राप्ति हुई होगी।

डॉ. त्रिगुणायत ने अनेक तर्क देकर उनका जन्म स्थान मगहर सिद्ध किया हैं। इस सम्बन्ध में उनके निम्नलिखित तर्क हैं – (1) मगहर में मुसलमानों की बस्ती हैं, उसमें अधिकतर जुलाहैं हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि कबीर इन्हीं जुलाहों में से किसी के घर में उत्पन्न हुए हों। (2) कबीर ने अपनी रचनाओं में बार–बार मगहर की चर्चा की हैं। इसी से उनका सम्बन्ध मगहर से घनिष्ठ माना जाता हैं। उनकी विचारधारा में मगहर भी काशी के समान उत्तम और पवित्र हैं। इतना अधिक लगाव और श्रद्धा जन्म स्थान के प्रति ही हो सकती हैं। (3) कबीरदास मृत्यु के समय मगहर चले गए, काशी में नहीं रहैं। मानव स्वभाव यह हैं कि जो जहाँ जन्म लेता हैं, वहीं मरना भी चाहता हैं। (4) कबीरदास जी ने स्पष्ट कहा हैं कि सबसे पहले उन्होंने मगहर को देखा था, उसके बाद में काशी में बस गए थे। इस उक्ति में खींचतान कर दूसरा अर्थ लगाना हठधर्मी भर होगी। (5) कबीरदास ने कहा हैं – ''तोरे भरोसे से मगहर बसियों, मेरे तन की तपन बुआई'' इस पंक्ति से स्पष्ट हो जाता हैं कि जन्म स्थान में पहुँचने पर ही इस प्रकार की शांति का अनुभव हो सकता हैं। (6) एक बात और हैं, ''आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया'' में लिखा हैं कि बिजली खां ने बस्ती जिले के पूर्व में आगी नदी के दाहिने तट पर संवत् 1500 में रोजा बनवाया था। सिकन्दर लोदी और कबीर के मिलन की घटना के आधार पर निश्चित किया जा चुका हैं कि कबीर उस समय जीवित थे। हमारा अनुमान हैं कि बिजली खां कबीर का भक्त था। उसने कबीर के जीवन काल में

कबीर के जन्म स्थान पर कोई स्मारक बनवाया होगा। आगे चलकर फिदाई खां ने उसी को रोजे का रूप दे दिया होगा। यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि जिन लोगों का यह मत हैं कि कबीर का जन्म मगहर में हुआ हैं तो भी उनका जन्म उस मगहर में नहीं हुआ था जो गोरखपुर से पन्द्रह मील दूर बस्ती जिले में हैं। जिस मगहर में कबीर का जन्म हुआ था, वह मगहर काशी के बहुत दूर नहीं था।[35]

कबीर पंथियों के अनुसार ''सत्य पुरूष का तेज काशी के लहरतारा तालाब में उतरा था अथवा उक्त तालाब में पुरइन के पते पर हुआ बालक नीरू जुलाहैं की स्त्री को काशी नगर के निकट मिला था।''[36] डॉ.त्रिगुणायत के सभी तर्को का खण्डन सही तथ्यों के आधार पर डॉ. सरनाम सिंह शर्मा ने किया और कहा कि ''इस विवेचन से साफ हो जाता हैं कि कबीरदास का जन्म मगहर में नहीं हुआ था। डॉ. त्रिगुणायत का 'मगहर' जो काशी के समीप हैं वही मगहर हैं जो रूढ़ मान्यता के लांछन से लांछित हैं और जहाँ 'लहरतारा' तालाब भी हैं, तो मुझे यह मानने में कोई आपति नहीं हैं कि कबीर यहीं पैदा हुए थे।[37] निम्नपंक्तियाँ भी उन्हैं काशी में ही पैदा होने वाला सिद्ध करती हैं –

(1) पहले दरसन काशी पायो, पुनि मगहर बसे आई।

(2) बहुत बरस तप कीया कासी, मरन भइया मगहर को वासी।[38]

(3) सगल जन्म शिवपुरी गंवाइया, मरती बार मगहर उठ धइया।[39]

(4) तू ब्राह्मण में काशी का जुलाहा, चिन्हु मोर गियाना।[40]

(5) काशी में हम प्रगट भए हैं रामानन्द चिताए।[41]

कबीर वाणी के अतिरिक्त कबीरपंथ के ग्रन्थ भी काशी के पक्ष में हैं। कोई भी कबीरपंथी कबीर को मगहर का नहीं कहता। अनंतदास, धनी परमदास तथा गरीबदास की रचनाओं में कबीर की प्रतिष्ठा काशीवासी के रूप में हुई हैं। अतः निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता हैं कि कबीर काशी या काशी के निकट किसी स्थान पर उत्पन्न हुए थे। उन्होंने काशी में वास किया, किन्तु निधन काल के निकट वे मगहर चले गए।

जाति–कबीर की जाति को लेकर विद्वानों में मतभेद रहा हैं। कोई उन्हैं ब्राह्मण कहता हैं तो कोई जुलाहा, कोई जुगी, योगी या जोगी जाति का बतलाया हैं। सभी अपने–अपने मत की पुष्टि 'कबीर बानियों' से सामग्री लेकर करते रहैं हैं। किन्तु विकट समस्या यह हैं कि कबीर ने अपने को 'कोरी' भी कहा हैं तथा एक स्थान पर 'पिता हमारों बड्ड गोंसाई' कहकर अपनी जाति विषयक इस

समस्या को और भी जटिल बना दिया हैं, फिर भी उपलब्ध तथ्यों के आधार पर हम किसी एक तथ्य पर पहुँचने का प्रयास कर रहैं हैं। निम्न तर्क देखिए –

(1) जाति जुलाहा मति को धीर, हरषि–हरषि गुण रमहि कबीर।[42]

(2) मेरे राम की अभै पद नगरी, कहैं कबीर जुलाहा।[43]

(3) तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, बूझहू मोर गिआना।[44]

(4) तू बहमनु मैं काशी का जुलाहा, मोंहिं तोहि बराबरी कैसे कै बनहि।[45]

इत्यादि वचन उन्हैं जाति से जुलाहा की सिद्ध करते हैं। अन्य संतो की बानियों में 'कासी बसे जुलाहा एक, हरि भगति की पकरी टेक।''[46]

'जुलहा गेहैं उत्पन्नयों साध कबीर।[47]

कबीर ग्रन्थावली में डॉ. श्यामसुन्दरदास ने उन्हैं एक विधवा ब्राह्मणी का पुत्र माना हैं, जिनका आधार कबीर–पंथियों में प्रचलित दंत कथाएँ हैं, परन्तु वे यह भी मानते हैं कि उनका पालन–पोषण मुस्लमान जुलाहा घर में हुआ। डॉ. बडथ्वाल, डॉ. श्यामसुन्दर दास के मत का खण्डन करते हुए लिखते हैं कि ''कबीर जुलाहा वंश में उत्पन्न हुए थे। कबीर के पूर्वजों ने शायद कुछ समय पहले ही अपने उस धर्म को छोड़कर इस्लाम धर्म स्वीकार किया था, जिसमें गोरखनाथ की बड़ी मान्यता थी। कबीर वंश के लोग बाहर से मुसलमान थे, किन्तु इनके अन्दर का परिवर्तन अभी नहीं हुआ था। इससे कबीर के उच्च हिन्दू विचार एवम् योग प्रवृति का कारण भी स्पष्ट हो जाता हैं।[48] डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कोरी, जुलाहा और जोगी, जुलाहा और योगी शब्दों की विस्तृत व्याख्या की हैं और निष्कर्ष रूप में लिखा हैं कि यदि कोरी किवदन्ती नही ंतो यह कहा जा सकता हैं कि कबीर जिस जाति में पालित हुए थे, वह एकाध पुश्त पहले ही योगी जैसी किसी आश्रम भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी। जोगी जाति का सम्बन्ध नाथपंथ से हैं। जान पड़ता हैं कि कबीरवंश में भी ये नाथपंथी संस्कार पूरी मात्रा में थे।[49] डॉ. रामकुमार वर्मा आचार्य जी से सहमत होते हुए लिखते हैं – ''कबीर के पिता ऐसी जुलाहा जाति से सम्बन्धित होंगे जो मुसलमान होते हुए भी योगियों के संस्कारों से सम्पन्न थे तथा दशनामी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण गोंसाई कहलाते थे। इन गोसाइयों पर नाथपंथ का पर्याप्त प्रभाव था।[50]

अतः इस विवेचन से यही सिद्ध होता हैं कि कबीर मुसलमान जाति के जुलाहैं थे और उनमें योगियों के संस्कार थे। ये जोगी जाति के थे, जिनका व्यवसाय कोरी जाति का था। धर्म बदलने पर भी उन्होंने अपने वंशगत व्यवसाय को नहीं बदला था।

(2) पारिवारिक जीवन परिचय

परिवार – कबीर का भरा–पूरा परिवार उनके अन्तः साक्ष्यों से सिद्ध हो जाता हैं। उनको माता–पिता कलत्र, दुहिता सब प्राप्त थे।[51] यदि इन्हीं अन्तः साक्ष्यों से यह अर्थ भी व्यंजित कर लिया जावे कि कबीर के बडे. और छोटे भाई थे, तो भी कोई आपति नहीं, हो सकता हैं कि वे कबीर के सगे भाई न होकर चाचा–ताऊ के पुत्र हों और कबीर से अलग रहते हों। और कबीर के अक्खड़, स्वभाव, सत्संग की दत्त चित्तता के कारण उनसे नाराज हो। आर्थिक अभाव कबीर के जीवन में रहा करता था। इसीलिए अपनी माँ और स्त्री से कबीर को बहुत सी ताना–कसी मिली हैं।[52] सत्संग की प्रवृति के कारण वे इतना भी अर्जन नहीं कर पाते थे, जिससे बच्चों को पेटभर भोजन नसीब हो जाता। इसीलिए घर के माहौल का कलहपूर्ण रहना स्वाभाविक लगता हैं।

माता–पिता कबीर के शिष्यों प्रशिष्यों ने उन्हें 'दिव्य–पुरुष' कहा हैं। यह तो जचने वाली बात हैं, क्योंकि जप और सत्य की कठोर साधना, त्राटक की साधना के कारण वे उस क्षमता तक अवश्य पहुँचे होंगे, इसमें सन्देह करना उचित न होगा, किन्तु उन्हैं साधारण माता के गर्भ से उत्पन्न हुआ न मानना, आज के वैज्ञानिक युग में अस्वाभाविक सा लगता हैं।

कबीर मंसूर में जो कथा दी गई हैं, उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। यह सत्य हैं कि यह कथा अधिकांशतः धार्मिक विश्वास पर टिकी हैं, किन्तु वहाँ से उपलब्ध नीरू और नीमा के अस्तित्व और उनके वंश को नकारना सरासर गलत होगा।[53] एक यह किंवदन्ती बहुत प्रचलित रही कि 'एक विधवा ब्राह्मणी अपने नवजात शिशु को लोक–निंदा के भय से काशी के लहरतारा तालाब के किनारे पर डाल गई थी, जिसे मार्ग में जाते हुए दम्पति ने बड़े हर्ष के उठा लिया। आगे चलकर यही बालक कबीर नाम से प्रख्यात हुआ।'[54] किन्तु एक तर्क को मानते हुए यह तथ्य खटाई में पड़ जाता हैं कि 'कबीर नीमा के औरस पुत्र थे। विधवा के गर्भ से उत्पन्न होने की बात का समर्थन वाला कोई अंतः साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता। सम्भवतः इस किंवदन्ती को मानने वाले कबीर की निम्न उक्ति का आश्रय लेते हैं –

''पूरब जनम हम ब्राह्मण होते, ओछ करम तप हीना।
रामदेव की सेवा चूका, पकरि जुलाहा कीना।।''[55]

इसमें 'पूरब जन्म का अर्थ जन्म के प्रारम्भ में' ग्रहण करते हो परन्तु इसका अर्थ साधारण व्यक्ति भी यही करेगा कि पूर्व जन्म मैं हम ब्राह्मण थे, अधम कर्म के कारण हमें इस जन्म में जुलाहा बनना पड़ा, अधिक सार्थक प्रतीत होता हैं। इसीलिए कबीर को नीमा का औरस पुत्र मान लिया जाए तो क्या आपत्ति हो सकती हैं। डॉ. सरनाम सिंह शर्मा भी ऐसा ही मानते हैं और कहते हैं – ''इस प्रकार इस अर्थ के समक्ष किंवदन्ती निरक्त हो जाती हैं। फिर यह क्यों न मान लिया जाए कि कबीर नीमा के औरस पुत्र ही थे। कबीर का विधवा ब्राह्मणी का पुत्र होना असम्भव नहीं हैं।[56] किन्तु इसको तथ्य रूप में स्वीकार करने के लिए कोई पुष्ट आधार नहीं हैं। अतः यही मानना समीचीन प्रतीत होता हैं कि कबीर नीमा के औरस पुत्र थे।[57]

कबीर के पिता उनके प्रति बड़े स्नेहशील थे। जब कभी कबीर मानसिक रूप से उद्वेलित होते थे, उस समय वे उन्हैं दिलासा दिया करते थे। इस तथ्य का उल्लेख उन्होंने निम्न पद में किया हैं। ''बाप दिलासा मेरी कीना।[58] किन्तु उनकी माता सदा आक्रोश युक्त ही रही हैं, उनके आक्रोश को कबीर ग्रन्थावली के पदों 116, 152, 161, 366 में स्पष्ट अनुभव किया जा सकता हैं। जहाँ उनका चिंता व्यक्त हैं कि यह बालक कैसे जियेगा? इसने ताने–बाने को भुला दिया हैं, सत्संग को पकड़ लिया हैं, इस निपूते ने माला को पकड़ लिया हैं। इसने हमारे सारे सम्बन्धो को तोड़ दिया हैं। यह मर क्यों नहीं गया। कबीर तो संत नदी मैं बह गया हैं, कोई उसे पकड़कर लाए तथा इन मुंडित संतो ने मेरे घर को तवाह कर दिया हैं। मेरे बेटे पर 'राम–रमौआ' सवार कर दिया हैं। मेरी बहु (पुत्र वधू) धनिया का नाम बदलकर 'राम जनिया' रख दिया हैं। यह सब इन संतो की ही करामात हैं।

यहाँ मैं एक तथ्य ही उद्घाटित करना चाहता हूँ कि कबीर के पिता जुलाहैं थे और कुछ समय पूर्व ही उनके पूर्वज मुसलमान बने थे। इसलिए उनमें धार्मिक सहिष्णुता अधिक थी और माता तुरकनी थी। वह अपने व्यवसाय को अधिक चाहती थी। कहा भी हैं – 'माय तुरकनी बाप जुलाहा, बेटा भक्त भए''[59] इस प्रकार का एक प्रमाण 'आदि गुरू ग्रन्थ साहब' मैं भी संत रैदास की बानी में उपलब्ध हो जाता हैं –

''जाके ईदि बकरीदि कुल गऊ रे वध करहि, मानि अहि सैब सहीद पीरा।
जाके बापि वैसी कर पूत ऐसी करि, तिहरे लोक परसिद्ध कबीरा।।[60]

उपर्युक्त विवेचन से यही स्पष्ट होता हैं कि कबीर के माता पिता नीरू और नीमा ही थे। वे पैशे से जुलाहैं थे और मुसलमान धर्म से सम्बन्ध रखते थे, कबीर उन्हीं की औरस संतान थे।

पत्नी–कबीर की स्त्रियों के सम्बन्ध में मतभेद हैं, कबीर पंथियों के अनुसार कबीर अविवाहित थे। उनके अनुसार 'लोई' उनकी शिष्यायी, पत्नी नहीं। किन्तु अन्तः साक्ष्य लोई को उनकी पत्नी ही सिद्ध करते हैं। देजिए –

'हम तुम बीच भयो नहीं कोई। तुमहि सुकंत नारि हम सोई।
कहत कबीर सुन हुरे लोई। अब तुमरी परतीती न होई।।[61]

डॉ. रामकुमार वर्मा तथा डॉ. त्रिगुणायत ने कबीर की दो पत्नियाँ स्वीकार की हैं। कबीर की पहली पत्नी घर वारी और लोकाचार को मानने वाली थी और घूँघट निकालती थी। कबीर इस थोथे लोकाचार का विरोध करते थे। इसीलिए दूसरी पत्नी को चेतावनी देते हुए कहते हैं –

''रहु रहुरी बहुरिया घूँघट जानि काढ़ै। अंत की बार लहैंगीन आढै।
घूँघट काढ़ि गई तेरी आगे। उनकी गैल तोहि जन लागे।
घूँघट काढ़े की इहाँ बढ़ाई। दिन दस पाँच बहु भले आई।
घूँघट तेरौ तौपरि साचै। हरि गुन गाबत कूदहि अरू नाचै।।[62]

लगता हैं, पहली पत्नी कबीर को रूचिकर नहीं थी। इसीलिए वे दूसरी पत्नी ले आए। पहली उन्हैं संसार में लगाने वाली थी, दूसरी उन्हैं ईश्वर भजन में प्रेरित करती थी इसीलिए कबीर कहते हैं –

''अबकी घरनि घरि जा दिन में, पीष सू बांन बन्यू रे।
कहैं कबीर भाग बपुरी को, आई रू राम सुन्यूं रे।।[63]

छोटी (धनिया) के घर आने पर बड़ी (लोई) ने किसी और को पति स्वीकार कर लिया और बाद में वह मर गई थी।[64] इस प्रकार कबीर की दो पत्नियाँ सवतः सिद्ध होती हैं।

उर्वशी सूरती के अनुसार ''इस प्रसंग पर उनकी दो पत्नियों का रहस्य समझना आवश्यक हैं। इस प्राप्त विवरण से एक बात निश्चित होती हैं कि उनकी एक ही पत्नी थी और उनके नाम तीन थे – पालन पिता द्वारा 'धनिया' नामकरण हुआ और उसे 'लोई' दुलारवश कहते रहैं। साधुओं ने उसे प्रसन्न होकर 'रामजनिया' कहकर उसके भक्त ह्रदय की सराहना की। यदि कबीर के द्वारा दो पत्नियों का उल्लेख मान लिया जाय, तो वह अध्यात्मपरक व्याख्या से स्पष्ट होता हैं और भ्रांति का निवारण कर देता हैं। कबीर ने माया याने सांसारिक चितवृत्ति को जीव की पत्नी कहा हैं जो साधना में बाधा डालती हैं और श्रद्धा उसकी दूसरी पत्नी हैं जो परमात्मामिलन में सहायक हैं

इसलिए कबीर की दो पत्नी विषयक अटकलवाजी छोड़कर एक पत्नी का होना ही प्रामाणिक तथ्य रूप में स्वीकार करना चाहिए।[65]

पुत्र–पुत्रियाँ–जन–श्रुति के अनुसार कबीर के घर एक पुत्र और एक पुत्री थी। जिनके नाम क्रमशः कमाल और कमाली थे। पंथ वालो के अनुसार ये उनके सगे लड़का–लड़की नहीं थे, अपितु कबीर ने अपनी करामात से मुर्दे बच्चे जिन्दा किए थे, जो उन्हीं के साथ रहते थे।

कबीर का अधिकांश समय सत्संग में व्यतीत होता था। इसलिए कबीर अपने करघे पर ध्यान नहीं दे पाते थे और जो कमाते थे, उसे साधु–संतों की सेवा में ही खर्च कर देते थे। इसके विपरीत पुत्र कमाल माता की प्रसन्नता के लिए धन संग्रह करता था, साधु सेवा के लिए नहीं। इससे कबीर बड़े दुखी हुए और उन्होंने कहा –

''बूड़ा वंश कबीर का, उपज्यो पूत कमाल।
हरि का सिमरन छांडिके ले आया घर माल।।[66]

लेकिन डॉ. रामकुमार वर्मा कहते हैं कि कबीर इसलिए असन्तुष्ट थे कि वह सगुणोपासकों की श्रेणी मैं सम्मिलित हो गया था।[67] डॉ. मोहन सिंह आदि कुछ विद्वान कबीर के दो लड़के और दो लड़कियाँ मानते हैं। जिनके नाम कमाल, जमाल, कमाली, और जमाली थे। कमाल और जमाली के स्थान पर निहाल और निहाली नाम भी बताए गए हैं।[68]

नामकरण–कबीर का नाम भी विचित्र हैं। इसका अर्थ बड़ा या श्रेष्ठ हैं। यह अरबी भाषा का शब्द हैं। भारत के धार्मिक साहित्य में यह नाम अमर हो चुका हैं। यही इनका प्रसिद्ध नाम रहा हैं। कहीं–कहीं आदर सूचक शब्दों के माध्यम से 'कबीरदास' कबीर साहब नाम उनके हिन्दू शिष्यों ने प्रयोग किया और कबीरसाहब उनके मुसलमान शिष्यों ने। डॉ. श्यामसुन्दरदास ने कहीं–कहीं 'कबीरदास' का प्रयोग किया हैं। और परशुराम चतुर्वेदी ने 'कबीरसाहब' का प्रयोग किया हैं लेकिन डॉ. बड़थ्थेवाल और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने केवल 'कबीर' नाम का ही प्रयोग किया हैं। यही इनका प्रसिद्ध नाम हैं।

डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने शंका उठाई हैं। कबीर का उनके माता–पिता का दिया हुआ नामकरण था? और फिर स्वयं ही समाधान करते हुए कहा हैं–'यह असंभव नहीं हैं कि वे मुसलमान कुल में उत्पन्न थे, इसलिए कबीर उनके नाम का सर्वप्रमुख अंग रहा हो।''[69] कबीर कसौटी 'में कहा गया हैं कि मुसलमानी प्रथा के अनुसार बालक कबीर का नामकरण करने के लिए काजी को बुलाया गया। काजी ने जब कुरान खोला तो उसमें चार नाम निकले कबीर, अकबर, कुब्र, किब्रिया।

इसमें पहला शब्द, 'कबीर', ईश्वर–बोधक था और अन्य उसी के समानार्थी थे। इसीलिए दूसरे काजियों को भी बुलाया गया और उचित नाम प्राप्त करने के लिए फिर से प्रयत्न किया गया। इस बार भी चार नाम निकले – 'जिन्द', खिजर', 'पीर, और 'हक', फिर वही संकट सामने आया। इनमें भी पहला और चौथा नाम ईश्वर–बोधक था और शेष दो एक मामूली जुलाहैं के लड़के के लिए आवश्यकता से अधिक गौरव–बोधक थे। अतः काजियों ने निर्णय दिया कि बच्चे को मार डाला जाये। इस पर बच्चा स्वयं बोल पड़ा – मैं शरीर रहित और सभी बंधनों से मुक्त था। मैंने स्वेच्छा से यह शरीर धारण किया हैं। इस शरीर में मैं 'कबीर' कहा जाऊँगा। यह कथा कबीर की दिव्य उत्पति सिद्ध करने के लिए कल्पित की गयी होगी। किन्तु इसमें इतना सत्य अवश्य हैं कि 'कबीर' को कबीर (श्रेष्ठ, महान्) कहैं जाने का आरम्भ में काजियों ने विरोध किया होगा। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने 'कबीरा' की व्यत्पतिः कवि–कब्बि–काव्य+डा' से सिद्ध करते हुए इससे 'हल्के ढंग का काव्य' अर्थ लिया हैं। मुमकिन हैं आरम्भ में उच्चवर्गीय लोग कबीर की उक्यिों को हीन दृष्टि से देखते रहैं हों और उन्हैं 'कबीर' (अर्थात–हल्की बात कहने वाला) कहते रहैं हों, किन्तु बाद में उनकी भक्ति से प्रभावित होकर उन्हैं कबीर (श्रेष्ठ, महान) कहने लगे हों। कबीरदास ने अपनी एक साखी में यह कहा हैं कि मैं किसी लायक नहीं था, जो कुछ किया, भगवान ने किया। उन्हीं की कृपा से 'कबीर' (साधारण रचना करने वाला) 'कबीर' (श्रेष्ठ, महान्) हो गया।

कबीर की शिक्षा–दीक्षा

कबीर के सभी आलोचकों ने उन्हैं अनपढ़ बताया हैं। इस सन्दर्भ मैं प्रायः सभी विद्वानों ने उनके अन्तः साक्ष्यों का उल्लेख किया हैं। ''मसि कागद छुयां नहीं, कलम गहि नही हाथ' तथा ''विद्या पढूँ बाद नहीं जानूँ।'' इन दोनों उक्तियों से प्रायः सभी विद्वानों ने यह आशय ग्रहण किया हैं कि कबीर पढ़े–लिखे नहीं थे। किन्तु इनमें यह ध्वनित भी होता हैं कबीर ने बावन अक्षर वाली वर्ण माला तथा तत्कालीन व्याकरण, न्याय, दर्शन, मीमांसा आदि का अध्ययन नहीं किया। यह भी सत्य हो सकता हैं कि इतनी छोटी जाती में उत्पन्न होने के कारण और निर्धनता के कारण कबीर किसी विद्यालय में या किसी मस्जिद में जाकर पढ़ने में असमर्थ रहैं हो।

किन्तु प्रखर बुद्धि, मेधावी कबीर ने कभी तो अक्षर बोध की बात सोची होगी। विनम्रतावश कबीर ने 'मसिकागद' वाली बात कही होगी ऐसा अनुमान कर लेना अतिश्योक्ति नहीं होगी। इसके अतिरिक्त सत्संग से कबीर ने सामाजिक और आध्यात्मिक क्षेत्र का जो ज्ञान प्राप्त किया वह बेजोड़ रहा हैं। बड़े–बड़े दार्शनिक व उच्च विचारक भी कबीर दर्शन के कायल हो जाते हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीक, संकेत, प्रखर व्यंग्य और चुटुल प्रयोग का कोई सानी नहीं हैं। अतः कबीर वाणी का

अभिधेय अर्थ जब सही नहीं हैं तो उसके द्वारा प्रयुक्त 'मसि कागद' का अभिधेय अर्थ लगाकर उनके व्यक्तित्व का अध्ययन करना अन्याय होगा। इसलिए हम तो यही मानते हैं कि तत्कालीन युग के पढ़े–लिखे लोगों की श्रेणी तक कबीर शिक्षा ग्रहण नहीं कर सके, किन्तु अनपढ़ नहीं थें। यदि उनकी इन उक्तियों को विनम्रता प्रदर्शन मान लिया जाए तो समस्या का समाधान भी उपस्थित हो जाता हैं।

गुरू

कबीर के समर्थक और पंथीय लोगों का यह मानना हैं कबीर समर्थ थे उन्हैं गुरू की आवश्यकता नाम मात्र के लिए पड़ी थी, क्योंकि लोग उन्हैं निगुरा कहकर उनकी वाणी का आदर नहीं करते।[70] किन्तु हमारी दृष्टि में कबीर ने गुरू की आवश्यकता अनुभव की और किसी प्रकार तत्कालीन प्रसिद्ध संत रामानन्द को अपना गुरू बना लिया, किन्तु डॉ. मोहनसिंह, बैस्क्ट साहब, डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी रामानन्द को कबीर का गुरू नहीं मानते हैं। कुछ विद्वानों ने शेखतकी को कबीर का गुरू माना हैं, किन्तु अन्तः साक्ष्य शेख तकी को सामान्य फकीर से अधिक नहीं मानते, बल्कि कबीर का प्रतिद्वन्द्वी स्वीकार करते हैं। देखिए –

(1) 'नाना नाच नचाय कै नाटे नट का भेष।

घर–घर अविनासी अहैं, सुनहु तकी तुम शेष।।[71]

(2) 'शेख तकी तब कहैं रिसाई, हैं कोई बाँध कबीरा भाई।।[72]

(3) 'शेख तकी तब मीजै हाथा, सूखे मुंह नहिं आवै बाता।।[73]

इन प्रमाणों से सिद्ध होता हैं कि शेख तकी कबीर के गुरू नहीं हो सकते। कबीर जैसा व्यक्ति जो गुरू को परमात्मा से भी ऊँचा मानता हो, वह अपने गुरू के प्रति ऐसी भाषा का प्रयोग भी कभी नहीं कर सकता। प. रामचन्द्र शुक्ल का निर्णय भी अवलोकनीय हैं – ''कबीर ही शेखतकी को उपदेश देते जान पड़ते हैं।[74] रामानन्द को कबीर का गुरू मानने के पीछे एक तो जनश्रुति का आधार हैं और दूसरा रामानन्द चेताये रामानन्द राम रस भाते, कहहि कबीर हम कहि–कहि थाके के अन्त साक्ष्य भी रामनन्द को ही कबीर का गुरू स्वीकार करते हैं। डॉ. भंडारकर, मिस्टर मेंकालिक, पं. रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. श्यामसुन्दरदास, डॉ. बड़थ्थवाल, हजारीप्रसाद द्विवेदी इन सभी विद्वानों ने जनश्रुति को असिद्ध करने वाले प्रमाणों के अभाव में रामानन्द को ही कबीर का गुरू स्वीकार किया हैं।

(3) निजी जिन्दगी

कबीर जाति के जुलाहा थे। वे कताई पर सूत कतवाते थे और बुनाई पर कपड़ा भी बुनते थे। वे सूत और वस्त्र का वाणिज्य करते थे। कुछ अन्तः साक्ष्यों से यह भी स्पष्ट होता हैं कि उनके घर में कपड़ा रंगने या सूत रंगने का काम भी किया जाता था। कबीर ने अपना कुटुम्ब पालने के लिए इस धंधे के साथ–साथ कोई और भी धन्धा चलाया था, किन्तु वह अधिक समय तक नहीं चल पाया। उनके निम्न पद से ऐसा संकेत ग्रहण किया जा सकता हैं कि कबीर ने अपने व्यापार में पूँजी ऋण लेकर लगाई थी, परन्तु लाभ नहीं हुआ। फलतः उन्हैं वह वाणिज्य त्यागना पड़ा देखिए–

''मेरे जैसे बनिज सौं कवन काज, मूल घटै सिरि ब्याज।[75] अनेक धन्धों का उल्लेख करते हुए कबीर कहते हैं – ''हरि का सिमरन छाड़िकै, पाल्यौ बहुत कुटुम्ब''[76] यहाँ कबीर का अनुताप स्पष्ट रूप में अनुभव किया जा सकता हैं कि वे ईश्वर–भजन में अनुरक्त रहने वाले जीव थे। इसके अतिरिक्त सब कुछ को जंजाल मानते थे। इसीलिए कबीर ने अपनी शांति को सोना उचित नहीं समझा और सारे धन्धे छोड़ दिए। इससे दुःखी होकर कबीर की माँ अपने पुत्र से कहती हैं –

''तनना बुनना सब तज्यौ हैं कबीर।
हरि का नाम लिखि लियो हैं शरीर।।[77]

अपनी माँ को इसका कारण समझते हुए कबीर कहते हैं –

''जब लग तागा बाहडं बेही।
तग लग बिसरै राम स्नेही।
ओछी मति मेरी जाति जुलाहा
हरि का नाम लह्यौ मैं लाहा।।[78]

कबीर ने अपने व्यवसाय से सम्बन्धित हटवाड़ो, सूत की विविध किस्मों तक का वर्णन किया हैं। पतला, महीन, बारीक सूत 'हजरी' कहलाता था जो मंहगा बिकता था। इसी प्रकार अपने व्यवसाय से सम्बन्धित एक पद में उन्होंने 'जूलाहा' और 'कोरी' दोनो का एक साथ प्रयोग करके अपने व्यवसाय को पाठक के सम्मुख उपस्थित कर दिया हैं

'जोलाहैं घर अपना चीना, घट ही राम पछाना।
कहत कबीर कार गह तोरी, सूते सूत मिलाये कोरी।''[79]

कहने का अभिप्राय यही हैं कि सूत से कपड़ा बुनना कबीर का पैत्रक व्यवसाय था। कबीर इसी व्यवसाय में जुटे थे। परिश्रम करने पर भी जब इससे कुटुम्ब का पालन–पोषण नहीं हुआ तो कुछ अन्य धन्धे भी किए, किन्तु व्यापारिक बुद्धि न होने से उनमें भी हानि हुई। इसीलिए इसको गोरखधन्धा कहकर छोड़ दिया और हरि–भजन में लग गए।

यह सत्य हैं कि कबीर का अधिकाशं समय काशी में ही व्यतीत हुआ था, किन्तु विविधोंन्मुखी ज्ञानार्जन के लिए, अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में सन्त समागम के लिए अपने शिष्यों के आग्रह पर गुरू प्रेरणा से मिथ्याचारों और रूढ़ियों का खण्डन करने के लिए वे बहुत घूमे–फिरे हैं। इसीलिए कबीर की भाषा को खिचड़ी भाषा कहा जाता हैं। उसके विविध प्रदेशों के शब्दों की भरमार हैं। कबीर मंसूर में कबीर का मक्का, बगदाद समरकन्द और बुखारा आदि नगरों में जाने का उल्लेख हैं। 'हज' जाने के विषय में तो स्वयं कबीर ने कहा हैं –

''हज कावै हैं हैं गया, केती बार कबीर।
सांई मुझ मंहि क्या खता, मुखहु न बौले पीर।।[80]

लगता हैं कबीर निरूद्देश्य नहीं भटकते थे उनका उद्देश्य मात्र सत्य का अन्वेषण और संत समागम हैं। वह संत से भेंट को सबसे बड़ा लाभ मानते हैं। इसीलिए कहते हैं – ''राम सरीधे जन मिले, तिन सारे सब काम।[81] रामानन्द जी को अपना गुरू बनाने के लिए कबीर ने अनेक प्रयत्न किए और अपने प्रयासों से अन्त में उन्हैं गुरू रूप में प्राप्त कर लिया था। यह एक प्रसिद्ध जनश्रुति हैं। इसीलिए कबीर अपने गुरू रामानन्द के साथ इधर–उधर बहुत घूम चुके थे। 'पीपा की परचई' से इस तथ्य का ज्ञान हो जाता हैं कि जब गुरू रामानन्द अपने शिष्य गागरोन नरेश पीपा के यहाँ जाने लगे तो रैदास तथा अन्य चालीस भक्तों सहित कबीर भी उनके साथ गए थे। वहाँ से पीपा को साथ लेकर यह भक्त मंडली द्वारका गई थी। पीपा वहीं रह गये थे और अन्य सब लोग वहाँ से चलकर तीसरे मास मथुरा पहँचे और कुछ दिन वहाँ रहकर काशी लौट आए।[82] इससे सिद्ध होता हैं कि कबीर सत्संग के बड़े प्रेमी थे और संत समागम को वे अपना सौभाग्य समझते थे। तीर्थ के प्रति उनकी आसक्ति का कारण मात्र संत की संगति करना ही था। इसलिए वे कहते हैं –

''मथुरा जावै द्वारिका या जावै जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन, कछु न आवै हाथ।।[83]

वे यह भी स्वीकार करते थे कि तीर्थो में परमात्मा नहीं हैं। शुद्ध मन वाले को परमात्मा मिल सकता हैं इसीलिए शुद्ध मन वालों को मथुरा, काशी व द्वारका जाने से क्या फायदा होगा? वे कहते हैं –

''मन मथुरा दिल द्वारका काया काशी जाणि।
दसवां द्वारा देहुरा, तामे जोति पिछाणि।।[84]

इन उपर्युक्त सन्दर्भो में से एक तथ्य सामने आता हैं कि कबीर के पर्यटन के पीछे तीर्थ–स्थान का दर्शन करने का लोभ न होकर संतो का, साधुओं का प्रत्यक्ष दर्शन करना उनका उद्देश्य था। इसीलिए वे विविध तीर्थ स्थानों एवम् अन्य स्थानों पर गए थे। साधुओं के आवास ही उनके सच्चे तीर्थ स्थान थे। इसीलिए उन्होंने कहा हैं– ''हज हमारों गोमती तीर जहाँ बसहि पीताम्बर पीर''

कहावत हैं 'रंग लाती हैं हीना पत्थर पे घिसने के बाद' इसलिए किसी भी व्यक्ति का व्यक्तिव संघर्ष झेलने के बाद ही सुर्खरू होता हैं यह तथ्य कबीर के व्यक्तित्व पर खरा उतरता हैं। यह सत्य हैं कि अन्य साधु संतो की तरह इन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि आंतरिक शत्रुओं से तो संघर्ष झेला हैं, किन्तु सबसे बड़ी बात उनका सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और पारिवारिक संघर्ष रहा हैं। इनकी आन्तरिक प्रवृति इन्हैं जिस मार्ग पर ले जाना चाहती थी, उसमें सबसे बड़ी बाधा इनका परिवार बना। कबीर जैसे ही भक्ति–मार्ग को अपनाया तो इनकी माता ने इनका विरोध किया। इनकी माँ कहने लगी कि कबीर कैसे जीयेगा?[85] वह राम नाम का व्रत लेकर संत बन गया हैं। भक्ति–भाव के कारण हमारे परिवार पर दुखों का पहाड़ टूट पड़ा हैं। इसने अपनी पत्नी धनिया को रामजनिया बना लिया हैं। इस पर माता ने बड़ा क्षोभ व्यक्त किया।[86] अन्त में कबीर की माँ ने चीखकर कहा –

''कबीरो सन्त नही गयो वहि रे
ठाडी माई कराड़ै टेरै, हैं कोई ल्यावै गहि रे।।"[87]

कबीर की माँ ही नहीं, अपितु कबीर की स्त्री 'लोई' भी उनके सन्ताचरण से क्षुब्ध रहती थी। इसका कारण परिवार की आर्थिक स्थिति थी। उनके द्वारा कमाया गया अधिकांश धन साधु–संतो की सेवा शुश्रूषा में खर्च होता था। द्रव्याभाव के कारण घर वालों को अपना समय अधिकांशतः चबैना चबाकर ही व्यतीत करना पड़ता था। इसीलिए वह असन्तुष्ट रहती थी।[88] यद्यपि कबीर स्वभाव से झगड़ालू नहीं थे, किन्तु निम्न संवाद पारिवारिक संघर्ष की ज्वाला के रूप में दर्शनीय हैं–

''टूटू तागे निखुरी पानि द्वार ऊपर झिल कावहि कान।
कूच विचारे कुए काल। या मुंडिया सिर चड़िवों काल।
इहु मंडिया सगलो द्रव खोई आवत जावत कसर न कोई।
तुरी नारी की छोडि बाता। राम नाम बाका मन राता।

लरिकी लरिकन खैबों नाहि। मुंडिया अनदिन छाये जाहिं।
इक दुई मंदर एक हुई बाट। हमकौ साथरन उनकौ खाट।
मूडँ पलोसि कमर बधि पोथी। हमको चाबन उनकौ रोटी।
मुंडिया मुंडिया हुए एक। एं मुंडिया बूडत की टेक।
सुनि अंधलि लोई बेपीर। इन मुंडियन भजि सरन कबीर।"[89]

इसीलिए लोई से खिन्न कबीर कहते हैं –

पहली को धाल्यौ भरमत डौल्यौ सच कबहुँ नहीं पायौ।[90]

पारिवारिक संघर्ष में शीतल श्वास लेते हुए लोई की मृत्यू को अपने लिए शुभ मानते हुए कबीर ने कहा भली सरी मुई मेरी पहली बरी।[91]

पारिवारिक संघर्ष के साथ–साथ कबीर को सामाजिक संघर्ष भी झेलना पड़ा। अनेक दंभी, पाखंडी, छद्मी कबीर के विरोधी हो गए। कबीर की सुधारवादी नीतियों के कटु–आलोचकों ने कबीर को दबाना चाहा, किन्तु कबीर का बुरा चाहने वाले पांडे, मुल्ला, पुजारी सभी को उनकी स्पष्टवादिता की फटकार सहन करनी पड़ी।

''तु ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा चीन्हि न मोर गियाना।
तैं सब मांगे भूपति राजा, मोरे राम धिनाया।[92]

आडम्बर और मिथ्याचारी पांडे को आड़े हाथों लेते हुए कबीर ने कहा –

कहु पांडे सुचि कवन ठांव, जिहि धरि भोजन बैठ खांउ।
कहैं कबीर तेई जन सूचे जे हरि भजि तजहिं विकारा।।[93]

संक्षेप में कबीर संतोष वृति वाले थे, वे अपने तथा अपने परिवार के लिए उतना ही धन चाहते थे जिससे जीवन का निर्वाह हो सके। वे ईश्वर के उतना ही मांगते थे। इस प्रकार वे जीविकोपार्जन करते थे जहाँ ऐशो आराम के लिए कोई स्थान न था।

(4) क्रांतिदर्शी कबीर

सन्तों की देन के रूप में तीन बातें महत्वपूर्ण रही हैं – (1) कवित्व, (2) समाज–सुधारक (3) क्रान्तिदर्शी कबीर (क्रांतिदर्शिता)।

(1) कवित्व – संन्तों की यह महत्वपूर्ण देन हैं सर्वप्रथम कबित्व को लेकर उनकी इस क्षेत्र की देन को भी नकारा नहीं जा सकता। हिन्दी में आरम्भ में उसकी उपेक्षा की गयी किन्तु आज उस भूल को पूरी तरह पहचाना जा चुका हैं। कवित्व के क्षेत्र में भी संत कवियों को अनुठी सफलता मिली हैं। जीवन के जिस सहज रूप को उन्होंने लक्ष्य किया हैं, वह बरबस मन को मोह लेता हैं। उसमें रसमग्न करने की भरपूर क्षमता हैं। कलापक्ष सम्बन्धी कभी बाधा नहीं बन पाती।

(2) समाज सुधारक – कवित्व के साथ–साथ उनकी दूसरी महत्ता या देन हैं समाज सुधारक होना। समाज सुधार और कवित्व में संतुलन बनाए रखना सरल नहीं हैं। बहुत बड़ी कला का काम हैं। समाज सुधारक प्रायः कवित्व को दबा लेता हैं। पीछे कर देता हैं। खुद आगे आ जाता हैं। संत कवियों ने इस दृष्टि से जिस अनूठेपन का परिचय दिया हैं, वह सत्य हैं। संत कवियों की शक्तियाँ उपयोगी भी मिलेगी और सरस भी। इस दृष्टि से संत कवि निश्चय ही सदैव याद किए जायेंगे।

(3) क्रांतिदर्शीता – संतों की महत्ता का तीसरा क्षेत्र हैं– क्रान्तिदर्शिता वे क्राान्तिदर्शी थे। समन्यवाद उनका लक्ष्य नही था। वे स्वतंत्र विचारक थे। उनकी विचारणा न तो तत्कालीन किसी एक विचारधारा में बंध पाती हैं और न ही उसे हम प्रचलित विचारधाराओं में कोई समन्वित रूप कह सकते हैं। वे किसी को भी अपना विश्राम स्थल नही बनाती हैं। उसका सुत्र केवल एक हैं ''कबीर जाग्या ही चाहिए''

कबीर अथ से इति तक क्रान्तिकारी थे। क्रान्ति की प्रतिमूर्ति। क्रान्ति स्वतन्त्रता का दूसरा नाम हैं, वे स्वतंत्र थे। कोई बंधन नहीं, बड़ा उच्च, पुराण, शास्त्र सम्मत, परम्परागत का उनके लिए कोई महत्व नहीं था। महत्व था तो 'सत्य' का। वे सच्चे अर्थो में सत्यान्वेषी थे।

मौलिक सत्यान्वेषी – ''पंडित मुल्ला जो लिख दिया, छाँड़ि चले हम कछु न लियो। वास्तव में कबीर सत्यान्वेषी होने के कारण वे असत्य, विषमता, आडम्बर, पाखण्ड, अंधविश्वास, अनीति के विरूद्ध लड़ने वाले सच्चे सूरमा थे और एक सच्चे सूरमा की भाँति उन्होंने थकना हतोत्साह होना या पीछे हटना सीखा ही नहीं था। उन्होंने सच्चे सूरमा की परिभाषा दी हैं –

''पुरिजा पुरिजा हमै पडे, तऊ नछाडें खेत।[94]

ऐसे अडिग और अथक योद्धा में अक्खड़पन का होना भी स्वाभाविक हैं। जन्मजात, अक्खड़, मस्तमौला फक्कड़। किसी की चिन्ता नहीं। खरा, लाग–लपेट से दूर निर्भिक स्पष्टवादी और आत्मविश्वास के जैसे अवतार। कबीर की ये पक्तियाँ–जिनमें लोगों को 'अंह' की गंध मिलती हैं, वस्तुतः आत्मविश्वास से अनुप्रणित हैं। लोक में उनके नाम से प्रसिद्ध एक दोहा हैं–

''कबीरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके अपना चले हमारे साथ।।"[95]

कबीर के अंगारे जैसा कवि व्यक्तित्व, जो बुरे को जलाने और अच्छे पथ प्रकाशित करने का सामर्थ्य रखता हैं। कबीर एक जन्मजात नेता थे। सुधरे सुधारक आज के नेताओं की तरह नहीं जो घंटाघर की तरह दूसरों को जगाते हैं और स्वयं सोये रहते हैं। वे सच्चे अर्थो में नेता थे। कुछ कहने से पहले वे उसे सोचकर और समझकर अनुभूत कर लिया करते थे और फिर पूरी ईमानदारी से और इसीलिए आकर्षक अन्य कवियों का सा मोहक नहीं, अपितु झकझोर देनेवाला हैं, उनकी शैली लट्ठमार हैं इसीलिए कि उनका व्यक्तित्व भी वैसा ही था। 'शूगर कोटेड पिल्क में उनका विश्वास नहीं था कुनैन शक्कर सी लगे, यह उन्हैं पसन्द न था। जो उन्हैं कहना था सीधे और मुंह पर कहना और करना चाहते थे। सोचना, कहना, करना तीनों ही उनके यहाँ एक साथ और एक से थे। एक दुनियादार को यह अटपटा भले लगे, किन्तु इसमें सच्चाई और ईमानदारी का आकर्षण हैं, जिसका कार्य ह्रदय को रसासिक्त करना नहीं अपितु प्रसुप्त चेतना को उद्‌बुद्ध करना, उद्‌बुद्ध को आन्दोलित करना और आन्दोलित करे सक्रिय करना हो और यह भी किसी एक क्षेत्र में नहीं, अपितु समाज, धर्म, दर्शन, आदि जीवन के अनेक क्षेत्रों में उनका हाथ समाज की नाडी पर था, उसकी हर समस्या ने उनका ध्यान खींचा और वे द्रोणाचार्य की तरह सबके समाधान का पक्ष प्रशस्त करते गए। निश्चत इतने बड़े तत्वदर्शी, क्रान्तिदर्शी कवि इस धरती पर कम ही मिंलेगे। किसी ने सत्य ही कहा हैं –

''तत्व तत्व सब कबीरा कहिला, सूसै कहीं अनूठी।
बची खुची कठमलिया कहिमा, कहिमा, सेस कही सब झूठी।।"[96]

उस अप्रितम व्यक्तित्व ने कई सदियों पूर्व माननीय समता के उन सारे रूपों का दर्शन और संकेत कर लिया था, जिसकी प्राप्ति के लिए आज सभी राष्ट्र प्रयत्नशील हैं। वह सच्चे अर्थो में कवि था – अतीत पर खड़ा और भविष्य का द्रष्टा। कबीर ने जातिगत, समाजगत भेदभाव को देखा था। इनकी आंतरिक दृष्टि जितनी खुली थी। ब्राह्य चक्षु उतने ही खुले थे। उन्होंने समाज की सारी विषमता को ललकारा। रूढ़ियों, परम्पराओं, कर्मकाण्डों और बाह्याचारों को उन्होंने कहीं चुनौती दी। सारे मध्ययुग में कबीर जैसा चेतन, कबीर जैसा बुतशकन, कबीर जैसा तेजवान, व्यक्तित्व और कहीं भी नहीं था। उन्होंने सारमात्र को ग्रहण किया। रूढ़ियों और परम्परा की जरा भी चिन्ता नहीं की। सच्चे साथी की तरह वह अकेले चारों ओर के प्रहारों को झेलते रहैं परन्तु दीप्ति कम नहीं हुई वे सचमुच अपने युग के महारथी थे।

कबीर का युग सामाजिक भेदभाव, रूढ़िवाद और विषमता का युग था। एक ओर ब्राह्मण थे तो दूसरी ओर छोटी जातियों के लोग जिन पर सब हँसते थे। कबीर इन्हीं छोटी जातियों के प्रतिनिधि थे। जहाँ ब्राह्मण सबसे बड़ा था वहाँ जुलाहा जाति के इस नये पैगम्बर को कौन पूछता। ब्राह्मण वर्ग संध्या, स्नान, गायत्री को ही सब कुछ समझता था। उसने वेद स्मृति की श्रृंखलाओं से सारे समाज को जकड़ रखा था। सूतकपातक के विचार से सारा जीवन इतना कुंठित हो गया था वहाँ स्वतंत्रचेता व्यक्ति के लिए कुछ भी करना असंभव था। वह जनता को स्वर्गलोक के सुखों का भुलावा देकर नरक भय दिखलाते थे। मूर्तिपूजा के नाम पर स्वयं छप्पन भोग भोगते थे। लोक व्यवहार और तीर्थव्रत में धर्म की पराकाष्ठा समझ रखी थी। काशी में मूल्य प्राप्त होने से मनुष्य सहज में मुक्त हो जाता हैं इस प्रकार न जाने कितने ठकोसले थे जो हिन्दू समाज अनेक देवी–देवताओं को पूजता था। रूढ़िवाद सामान्य जनता में चल रहा था, वह मानवभाव को छोटा करता था। उसी तरह मुसलमान समाज भी काजी, मुल्ला और कुरान के द्वारा अनुशासित था। मुसलमान अल्लाह को मस्जिद तक सीमित समझते थे। कबीर ने इस्लामी धर्म के ब्राह्यचार की निंदा की और लोगों से अन्तर्मुख होने को कहा। कबीर ने अपने तेजपूर्ण द्वारा सत्य की पुनर्स्थापना की।

परन्तु मुसलमानों का एक वर्ग ऐसा था जो कबीर के सबसे निकट था। वह सूफी वर्ग था। कबीर के काव्य में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं हैं परन्तु उनकी सारी साधना इसी वर्ग के प्रभाव लक्षित करती हैं। स्वयं कबीर (पीताम्बर पीर) की तरह गा बजाकर हिन्दू तूरक में साम्यभाव और प्रेम का प्रचार करते थे। कबीर का सारा साहित्य सूफी साधना का सार उपस्थित करता हैं। उस समय समाज में जोगी, जंगम, वेदी, सबदी, जती–तपी, वैष्णव, शाक्त आदि अनेक शक्तियाँ समाज में काम कर रही थी। इनमें से प्रत्येक कहता था कि उसने सिद्धि प्राप्त कर ली हैं। शाक्तों से कबीर को विशेष रूप से चिढ़ हैं। शाक्तों में वामाचार और हिंसा का भाव था। अन्य साधनों को अहंभाव भी खलता था। पंडितो को पुरान का गर्व था। योगी ध्यान धारणा को ही सब कुछ समझता था। सन्यासी ब्रह्म बन बैठे थे। तपस्वी रूप के घमण्ड में चूर थे। भक्तिभाव के किसी को काम नहीं था विनय भक्ति और दया क्षमा के महत्व को कोई भी नहीं जानता था।

कबीर ने इस आचारहीन बाह्याडम्बरपूर्ण वातावरण को नैतिकता सत्य और साधना की प्राणवायु द्वारा स्वच्छ करना चाहा। उन्होंने सभी धर्मो के सारतत्वों को ग्रहण किया और मनुष्य मात्र की मूल समता की ओर इंगित किया। उन्होंने अपनी रहस्यात्मक अनुभूति में सब धर्मो को एक बिन्दु पर केन्द्रित होते हुए देखा। उनके रहस्यवाद पूर्व, परिश्चम, हिन्दू–मुसलमान, गृहस्थी और सन्यासी ब्राह्मण और शूद्र, सैय्यद और जुलाहैं सब मानवता प्रेम और सद्भाव के समान धरातल पर उतर

आये। परन्तु रहस्यवाद तो कबीर के आभ्यंतरिक व्यक्तित्व विस्फोट मात्र हैं – उनके व्यक्तित्व का प्रकाशन एक नई सामाजिकता में भी हुआ हैं जो उनके युग को देखते हुए काफी क्रान्तिकारी हैं। कबीर का युग सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में स्वेच्छाचार का युग था। एक ओर थे हिन्दू एक औंर मुसलमान दोनों के धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण भिन्न थे। इसलिए दोनों आपस में झगड़ते थे। उन्होंने दोनों दलों के निर्बल पक्षों को ललकारा और अन्तर की सहज एकता का राग अपनाया। इस सन्दर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा हैं – ''कबीर ऐसे ही मिलन बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता हैं तो दूसरी ओर मुसलमानत्व जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता हैं। दूसरी ओर भक्तिमार्ग, जहाँ से एक तरफ निर्माण भावना निकल जाती हैं। दूसरी ओर सगुण साधना उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे।[97]

उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों में समानता का प्रयास किया। उन्होंने जहाँ मुसलमानों की हिंसा की निंदा की वहाँ हिन्दुओं के छूआछूत की भी भर्त्सना की। इस शरीर से, जन्म से, व्यवसाय से, किसी भी भाँति से भी क्या मनुष्य में भेद हो सकता हैं। इस शरीर का क्या गर्व हैं मिट्टी–मिट्टी में भेद कैसा? मध्ययुग में यह बात कितनी क्रान्तिकारी थी आज के साम्यवाद और विश्वबंधुत्व के युग में हम नहीं समझ सकते। कबीर की विशेषता यह हैं कि उन्होंने धार्मिक और सामाजिक वैमनस्य के उस युग में अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ मनुष्य–मनुष्य की समानता की बात उठाई उन्होंने मनुष्यता की सामान्य भूमि की ओर संकेत किया। उन्होंने कहा न कोई शुद्र हैं, न कोई ब्राह्मण हैं। म्लेच्छ कौन हैं? हिन्दू–मुसलमान में क्या भेद हैं? ये भेद ईश्वरकृत नहीं मनुष्यकृत हैं। अनेक तुच्छ बातों में मनुष्य व्यापक मनुष्य धर्म को भूल गया हैं। कबीर निष्ठावान पुरूष थे। वे कुरीतियों से समझौता करने वाले नहीं थे। मध्ययुग के जाति भेद के युग में उनकी आवाज कितनी क्रांतिकारी हैं –

''हिन्दू तूरक का साहिबु एक।
कह करै मुल्ला कह करै सेख।।[98]

कबीर को मानवता प्रिय थी। मानवता के नाम पर जो पाखण्ड चलता हैं, उससे उन्हैं घृणा थी। यदि कोई व्यक्ति मानवता से विहीन हैं, मानवोचित सद्गुणों से शून्य हैं तो वह कुल की दृष्टि से अपने को चाहैं जितना ऊँचा कहैं कबीर उसे ऊँचा नहीं मानते थे। उच्चकुल में पैदा होने पर भी मानव के स्वभाव में गुण और कर्म में कोई उच्चता नहीं हैं तो कुल की उच्चता उसे उच्च नहीं बना सकती। उसी प्रकार शरीर से कोई लम्बा हैं, दृढ़ हैं और बलिष्ठ हैं परन्तु दूसरों की सहायता करने के स्थान पर निर्बलों को पीड़ित करता हैं तो लम्बा और सुदृढ़ शरीर कबीर की दृष्टि से हैंय हैं,

तुच्छ हैं और व्यर्थ हैं। कबीर कुल को नहीं, शरीर को भी नहीं, सद्‌गुणों को और सदाचार को महत्व देते हैं। ह्रदय की शुद्धि के बिना तीर्थ, व्रत, जप, तप से क्या होता हैं। जिस मिट्‌टी की जैसी महिमा हैं, जिसमें पीर पैगम्बर, ऋषि–मुनि सब समा गए, उस मिट्‌टी में छूत कैसी। ऐसे बाह्‌यडंबरो को धिक्‌कारते हुए कवि का तेज थकता नहीं। वे जीवन को अत्यन्त व्यापक भावना से देखते हैं और मनुष्य की संकीर्णता, मनुष्य की दुर्बलता, मनुष्य बाह्‌याचारिता उनसे चिंतिंत भी सहन नहीं होती। जब सब झूठा हैं तो फिर जूठा–जूठा चिल्लाकर तिरस्कार करने से क्या? कैसी–क्रान्तिकारी वाणी हैं। कबीर मुल्ला, पंडित, सूफी, योगी, हिन्दू, मुसलमान सभी के बाह्‌याचारों, आडम्बरों और युग पुरातन रीति रिवाजों का खंडनकर सारी मानवता को प्रेम और सहानुभूति की भूमि पर उतारते हैं। इसी उत्साह में संयम को भूलकर तीक्ष्ण व्यंग्य भी कर बैठते हैं जैसे –

ह्रदै कपटु मुख गिआनी। झूठे कहा बिलोवसि पाकी।
कोइया मांजसि कउन गुना। जउ घट भीतरि हैं मलना।
लड़की अठसठि तीरथ न्हाई कउरापनु तऊ न जाई।[99]

इस मनुष्यता की सामान्य भूमि पर कबीर ने संतमत को खड़ा किया जो वास्तव में सामान्य धर्म हैं। जब मनुष्य में अन्तर नही हैं तो जिनको वे पूजेगे उन देवताओं में अन्तर क्यों होगा? भेद होगा भी तो नाम मात्र का। वही अल्लाह हैं, वहीं राम हैं, वही ब्रह्‌मा हैं, वही आदम हैं।

उस समय समाज में चारों ओर अराजकता थी। प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक धर्म अपने छोटे–छोटे ढकोसलों की पिटारी लेकर बैठ गया था। मूल मानवभाव की हत्या कर डाली थी। ऐसे मनुष्य की आवश्यकता थी जो मूल तथ्यों की ओर इशारा करता बिखरा हुआ भारतीय समाज को प्रेम के सूत्र में बांधना। कबीर ने ऐसे समाज की रचना की जो आंतरिक्ता में देखेगा। मनुष्य की सामान्य भाव भूमि पर स्थापित होगा। कहाँ हिन्दु–मुसलमान, ब्राह्‌मण, शूद्र, काजी–मुल्ले, ऊँचे–नीचे, गरीब–अमीर, पापी–पुण्यवान एक होंगे। सारी मानवता समान होगी, सभी धर्मो का तत्व एक हैं, नामों की विविधता से क्या होता हैं? ब्राह्‌माचारी बाह्‌याडम्बरों, निरर्थक रीति–रिवाजों, कर्मकाण्डों और अनेक भेदोपभेदों ने मानवता को खण्ड–खण्ड निरर्थक कर दिया हैं। यह खण्ड मानवता फिर अखण्ड विश्व मानवता बन जाए, ऐसा प्रयत्न कबीर और अनके अनुयायी संतों द्वारा हुआ। मानवता के इतिहासकार के इस महान प्रयत्न को भूला नहीं देंगे, ऐसा विश्वास हैं। आज भी कबीर और अन्य सन्तों को सपना कब सत्य हुआ हैं? आज भी मानवता भीतर बाहर विभाजित हैं, जब तक खण्ड मानवता अखण्ड विश्वसनीय की स्थिति प्राप्त नहीं कर लेती तब तक कबीर का साहित्य, उनका सपना, उनकी क्रान्तिदर्शिता का संदेश तेजवान बना रहैंगा। कबीर ने कहा हैं –

'अनगढ़िया देव, कौन करे तेरी सेवा।
गढ़े देव को सब कोई पूजैं, नित ही लावे मेवा।।'[100]

यह अनगढ़ देवता – यह सामान्य मानवभाव आज भी अनगढ़ हैं। कबीर की विशेषता, उनकी क्रान्ति यही हैं कि उन्होंने राम, कृष्ण, रहीम, करीम, ईसा मूसा, जैसे गढ़े देवताओं को छोड़कर इन अनगढ़े सत्य देवताओं की झाँकी हमें दी और अप्रगतिशील शक्तियों ने इस अनगढ़े भावी जीवन के सपने की ओर उन्मुख किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मध्ययुग के संत और सूफी सच्चे अर्थो में क्रान्तिकारी थे। उन्होंने समाज के भेदभाव के विरूद्ध बहुत कुछ कहा। मूल मानव भाव तक पहुँचकर वे चुप नहीं रहैं। उन्होंने मनुष्य–मात्र की समानता की घोषणा की और मनुष्य के आत्मा के प्राचीन बंधन तोड़ डाले। ये सरल काम नहीं था। उन्हैं समाज के सभी वर्गो को घोर विरोध का सामना करना पड़ा। काजी, मुल्ला, पंडित, ब्राह्मण, गृहस्थी, बैरागी सभी उसके विरोधी बन बैठे। परन्तु जिसने सत्य का साक्षात्कार कर लिया, उसे इसकी क्या परवाह, उन्होंने कहा सब बैंकुंठ जाने की बात कहते हैं, परन्तु मैं तो जानता ही नहीं बैंकुठ कहाँ हैं। जो अपने अस्तित्व का तत्व ही नहीं जानते वे ही बैंकुठ के सम्बन्ध में बड़ी–बड़ी बातें कहते हैं।

सच्चा बैकुंठ तो साध संगति में हैं। उन्होंने पंडित मुल्ला को छोड़ दिया। पंडित, मुल्ला के शास्त्रों में जो लिखा था वह उन्होंने त्याज्य माना। ये दोनों ही झगड़े के मूल थे। उन्होंने सन्यासियों, नाथों, हठयोगियों की कड़ी से कड़ी आलोचना की। अलिवाद और धार्मिक असहिष्णुता के उस युग में कबीर ने सुकरात की भाँति बड़े–बड़े प्रश्न उठाये और एक बार तो समाज में हलचल मचा दी। उन्होंने अपने युग के सैकड़ौ आदमियों को सोचने के लिए मजबूर किया। परवर्ती युग में उतम भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक अनेकानेक साधकों ने यह सत्य की खोज जारी रखी। नानक, दादू, बावालाल, धरनीदास, मलूकदास, चरणदास, गरीबदास, पलटूदास, प्राणनाथ, रामचरण, तुलसीदास (हाथरस वाले निर्मणी संत) कबीर के क्रान्तिवाद को 19वीं शताब्दी के आरम्भ तक ले जाते हैं। कदाचित संसार के किसी साधक ने जनमन पर इतना प्रभाव नहीं डाला। इन परवर्ती साधकों ने जहाँ अध्यात्मभाव में ऊँचे से ऊँचे तत्वों का आविष्कार किया, वहाँ–उन्होंने जन–जीवन को भी परिष्कृत किया और समान भाव से मानव मात्र की धर्मोपरिता और महिमा के गीत गाए। वर्षो तक जनता के अल्प संस्कारी दीनवर्ग का नेतृत्व कबीर और इन परवर्ती साधु–सन्तों की तेजमयी वाणी ने ही किया और यह परम्परा समाप्त नहीं हुई हैं। दयानन्द और गाँधी की सशक्त वाणी में कबीर के साहित्य और उनके चितंन अनेक अंग पूर्णतः गुंफित हैं इसे कौन अस्वीकार करेगा जो उपनिषद का जीवन जीता हैं उसे वेदी समझता हैं। भक्त, जीवन कला परम हंस, संत जो कहो परन्तु तत्व एक ही हैं। यह तत्व शास्त्रचिंतन में नहीं। इसे प्रतिदिन,

प्रतिपल के लौकिक जीवन में, लोक व्यवहार में इन्द्रिय निग्रह में सार्वभौतिक प्रेमभाव में ही प्राप्त किया जा सकता हैं। कबीर ने मध्ययुग की औपवैदिक चिंता को प्रयोग और अनुभूति का बल दिया और इसी में उसकी वाणी में वह तेज, वह सत्य, वह मर्म अनायास ही आ गया जो उपनिषदों को आज भी सर्वमान्य और सर्वकालिक बताता हैं। कबीर के व्यक्तित्व और उनकी साधना के समन्वयात्मक और सनातन रूप को नये ढंग से समझने की आवश्यकता हैं। तभी हम कबीर की सामाजिक क्रान्ति के सन्देश की महत्ता पूर्ण रूप से समझ संकेगे कबीर ने काव्य के माध्यम से सबल क्रान्ति की। कबीर के विचारों में एक क्रान्ति भी तथा सामाजिक अन्याय के विरूद्ध उनकी अन्तर्पीड़ा अनेक स्थानों पर फूट–फूट पड़ी हैं। उन्होंने आत्मसुधार पर बल दिया। जीवन में सबसे बड़ी उपलब्धि हैं प्रेम सहानुभूति संगठन, एकता की भावना का अनुभव होता हैं।

(5) कबीर का सृजन

यह सत्य हैं कि कबीर साहब ने ज्ञानार्जन अधिकतर सत्संग द्वारा ही किया था। इन्होंने स्वयं कुछ अध्ययन किया हो ऐसा प्रतीत नहीं होता था, किन्तु 'बावन अखरी' जैसी रचनाओं से यह अवश्य ही ज्ञात होता हैं कि इन्हैं नागरी अक्षरों की वर्णमाला अवश्य ही ज्ञात थी।[101]

अतः इन्होंने कोई ग्रन्थ लिखा हो ऐसा भी अनुमान गलत प्रतीत होगा। इन्होंने जो कुछ भी रचा, वह सभी कुछ फुटकर पदों, साखियों, रमैनियों व अन्य प्रकार की कविताओं के संग्रह मात्र हैं।, हाँ, उनमें से अधिकाशं रचनाएँ गेय हैं। अतः इनकी रचनाएँ लोगों को कंठस्थ थी। भिन्न–भिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चरित होने के कारण उनमें पाठ–भेद स्वाभाविक हैं। इनके समानान्तर कुछ अन्य कवियों ने रचना करके कबीर के नाम से समाहित कर दी हैं। इसीलिए अनेक संग्रह कबीर की बानियों के हैं। उनमें यह निश्चिय करना कठिन हो गया हैं कि कौन से संग्रह मौलिक व प्रामाणिक हैं। लेकिन एक बात अधिक प्रसिद्ध हैं कि कबीर साहब के शिष्य धर्मदास ने सर्वप्रथम 1521 में इनकी रचनाओं का कदाचित एक संग्रह बीजक के रूप में तैयार किया था।[102]

इनकी रचनाओं का दूसरा संग्रह 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित किया गया हैं। जिसकी 50 साखियाँ 5 पद 'गुरू ग्रन्थ साहिब' के पदों से मेल खाते हैं। शेष लगभग साढ़े सात सौ साखियाँ, चार सौ पर भिन्न हैं। इस संग्रह में 'रमैणी' नामक रचना भी संग्रहित हैं। यह दूसरा संग्रह दो पुरानी हस्तलिपियों के आधार पर तैयार किया गया हैं। जिनमें से एक सं. 1881 तथा दूसरी 1561 की कही जाती हैं। ..... इसमें अंतिम पृष्ठ की प्रतिलिपि में जो 'सम्पूर्ण संवत् 1561' आदि लिखा हैं, वह दूसरी लेखनी और दूसरे समय का लिखा जान पड़ता हैं, जिस कारण

वह उस अंश तक बढ़ाया गया समझ पड़ता हैं जो ऐसा सन्देह करने के लिए हमें उत्साहित करता हैं कि संभव हैं। उक्त प्रति सं. 1561 की ही प्रतिलिपि न हो।[103]

डॉ. पारसनाथ तिवाड़ी ने 'कबीर ग्रन्थावली' का सम्पादन करते हुए पहले पद, फिर रमैनियाँ और साखियाँ दी हैं। जिसमें पदों की संख्या 200, रमैनियों की संख्या20, चोंसीसी रमैनी तथा साखियाँ कुल 744 दी हैं, जो 34 अंगो में विभाजित हैं। सन् 1961 में डॉ. तिवारी ने 'कबीर ग्रन्थावाली का सम्पादन किया, इसके तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में भूमिका हैं दूसरे में कबीरवाणी कर निर्धारित पाठ हैं। कबीर के नाम पर उपलब्ध साहित्य को डॉ. साहिब ने निम्न रूप में प्रस्तुत किया हैं –

प्रथम वर्ग – (1) विचार माल (2) काफिर बोध (3) रतन जोग अथवा अष्टांग जोग (4) जैन धर्म बोध (5) नामदेव को झगड़ों (6) अजब उपदेश (7) नाम माला (8) नसीहत नामा (9) चेतावनी (10) मीन गीता।

द्वितीय वर्ग – (क) गोष्ठी साहित्य (1) कबीर गौरव गोष्ठी (2) कबीर शंकराचार्य गोष्ठी (3) कबीर दतात्रेय गोष्ठी (4) कबीर देवदूत गोष्ठी (5) कबीर जोगाजीत (6) कबीर सर्वजीत गोष्ठी (7) कबीर वशिष्ट गोष्ठी (8) कबीर हनुमान गोष्ठी (ख) सृष्टि प्रक्रिया तथा कबीर के जीवन से सम्बन्ध पौराणिक शैली के ग्रन्थ (1) अनुरा सागर (2) ज्ञान सागर (3) अम्बुसागर (4) स्व संवेदबोध (5) निंरजन बोध (6) सर्वज्ञ सागर (7) सुक्रित ध्यान (ग) पंथ के बाह्याचार से सम्बन्ध ग्रन्थ (1) सुमिरन बोध (2) ज्ञान सागर (3) अम्बुसागर (4) स्व संवेद बोध (5) निंरजन बोध (6) सर्वज्ञ सागर (7) सुक्रित ध्यान (घ) नाम महात्म्य सम्बन्धी ग्रन्थ (1) लान बोध (2) कबीर भेद (3) मुक्ति बोध (4) कबीरवाणी (5) नाम महात्म्य (6) ब्रह्म निरूपन (7) हंस मुक्तावली (8) मूल बानी (9) मूल ज्ञान (ड़) भोग साधन सम्बन्धी ग्रन्थ (1) कापा पाँजी (2) मूल पाँजी (3) पंचमुद्रा (4) श्याम गुंजार (5) सन्तोष बोध (6) कबीर सुरति योग (7) शब्द संवार (8) स्वर पाँजी (च) नीति ग्रन्थ (1) ज्ञान गूदड़ी (2) ज्ञान स्तोत्र (3) तीस जन्त्र (4) मनुष्य विचार (5) उग्रज्ञान मूल विद्वान्त या दस मात्रा (6) अखरावट (7) अक्षर खण्ड की रमैनी (8) अलिफ नामा (छ) अन्य ग्रन्थ (1) मोहम्मद बोध (2) सुलतान बोध (3) गरूड़ बोध (4) अमर सिंह बोध (5) वीर सिंह बोध (6) जगजीवन बोध (7) भूपाल बोध (8) कमाल बोध (9) गुरू महात्म्य (10) अर्जनामा (11) कबीर अष्टक (12) पुकार (13) संतनाम या संत कबीर बंदी छोर (14) मन्त्र (15) जंजीरा (16) उग्र गीता (17) यज्ञ समाधि (18) वशिष्ठ बोध (ज्ञान सम्बोधन ग्रन्थ) (19) निर्णय सागर (20) कबीर परिचय (तिरजा साणी) (21) रामसार (राम सागर) (22) ग्रन्थ आत्मबोध (23) ज्ञान तिलक (24) रामरक्षा (25) ग्रन्थ बतीसी (कबीर बतीसी अथवा सार बतीसी

अथवा ज्ञान बतीसी) (26) जन्म बोध (जन्म पत्रिका की रमैनी अथवा जन्म पत्रिका प्रकाश की रमैणी) (27) अगाध बोध (28) राम मंत्र (29) सब्द योग (30) ब्रह्य निरूपन।

कबीर की रचनाओं की संख्या निर्धारित करने तथा उसकी प्रमाणिकता को सिद्ध करने का प्रयास यद्यपि अनेक विद्वानों ने किया फिर भी कबीर की रचनाओं की संख्या निश्चित नहीं हो सकी और न इसकी प्रमाणिता ही सिद्ध हो पायी हैं। कबीर की रचनाओं की खोज और प्रामणिकता के सम्बन्ध में मुख्य रूप से दो मत मिलते हैं –

(1) कबीर पंथ साधुओं द्वारा प्रचलित।

(2) साहित्य मर्मज्ञा और शोधकर्ताओं द्वारा अन्वेषित।

कबीर पंथियों का मत हैं कि उनकी वाणी अनन्त हैं। वनस्पति में जितने पत्र एवं बालुका में जितने कण हैं, कबीर ने श्रीमुख से इतना ही कहा हैं।[104] कबीर पर 18वीं शताब्दी मे कार्य प्रारम्भ हो गया था, किन्तु कबीर साहित्य की वैज्ञानिक खोज का कार्य सन् 1903 में एच. एच. विल्सन ने किया।

एच.एच.विल्सन ने कबीर के केवल आठ रचनाओं के नाम दिए हैं जिनमें से कुछ का परवर्ती होना स्पष्ट जान पड़ता हैं।[105] इसके बाद वेस्टकाट ने (स. 1936) इस संख्या को बढ़ाकर 82 कर दिया। मिश्रबन्धुओं के अनुसार कबीर की रचनांए बीजक आदि मे सग्रहीत हैं। इसकी संख्या 75 कर दी हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा (सं. 2000) ने अपने द्वारा सम्पादित पुस्तक संत कबीर की प्रस्तावना में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की निपोर्टो (सं. 1958 से लेकर सं. 1976 तक की खोज रिपोर्टो) के आधार पर ऐसे पचासी ग्रन्थों की तालिका तैयार की जो कबीर द्वारा रचित कही जाती हैं। पर उनमें से 61 रचनाएँ [106] उपलब्ध हैं, जिनमें से 43 प्रकाशित हैं। इनमें से अधिकाशं की प्रमाणिकता संदिग्ध हैं।[107] इस कार्य को व्यवस्थित ढंग से डी.एफ.ए. की (सं. 1988) ने आरम्भ किया। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल (सं. 1963) ने अपनी पुस्तक दि निर्गुण ऑफ पोयट्री के परिशिष्ट में इसी प्रकार का प्रयत्न किया हैं।

इसके अतिरिक्त आचार्य परशुराम चतुर्वेदी[108] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी[109] डॉ. सरनामसिंह शर्मा ने पर्याप्त चर्चा की फिर भी कबीर की रचनाओं की प्रमाणिकता अद्यतन संदिग्ध बनी हुई हैं।

कबीर की रचनाओं के प्रमाणिकता संग्रह –

कबीर की रचनाओं को सग्रहीत करने का प्रयास अनेक विद्वानों ने किया हैं और इस कार्य में अनेक सफलता भी प्राप्त हुई हैं। इसमें मुख्य संग्रह निम्नलिखित हैं –

(1) संतवानी संग्रह – बेडवेडियर प्रेस, प्रयाग।

(2) कबीर ग्रन्थावली – सं. श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

(3) संत कबीर – डॉ. रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन, इलाहाबाद।

(4) कबीर – आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

(5) कबीर ग्रथावली – डॉ. पारस नाथ तिवारी, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

(6) कबीर वचनावली – अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔद्य, काशी, नागरी प्रचारिणी सभा,

(7) कबीर – ग्रन्थावली – डॉ. माताप्रसाद गुप्त, प्रामाणिक प्रकाशन, आगरा।

(8) कबीर साहब की शब्दावली (चार भागों में) वेड वेडियर प्रेम, इलाहाबाद।

(9) कबीर वाड्मय, खण्ड – 1 रमैनी, खण्ड–2 सबद, खण्ड–3 रमैनी – डॉ. जयदेव सिंह, डॉ. वासुदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

इसके अतिरिक्त मुंशी शिवव्रत लाल संत कबीर की साखी, स्वामी युगलानन्द ने कबीर की साखी विचारदास शास्त्री ने सद्गुरू साहब का साखी ग्रन्थ, महाराज राघव दास ने सटीक साखी ग्रन्थ तथा अन्य विद्वानों ने भी कबीर की साखियों का पृथक रूप से संग्रह किया हैं।

संत बानी संग्रह – 'संत बानी संग्रह नाम से संतो की बानियों का संग्रह करके उनकी सीरीज प्रकाशित करके वेलवेडियर प्रेस ने हिन्दी साहित्य को बहुत बड़ा योगदान दिया हैं। परन्तु इनकी प्रामाणिकता संदिग्ध हैं, क्योंकि इनकी हस्तलिपि की आधारभूत प्रतियाँ नहीं प्राप्त हैं और न संकलन कर्ता ने कही इनके लिपिकाल को निर्देशित किया हैं।

कबीर ग्रन्थावली –श्यामसुन्दरदास – कबीर साहित्य की प्रामाणिकता और पाठ निर्धारण आदि के सम्बन्ध में मुख्य रूप से दो दिशाओं में कार्य हुए हैं – एक साहित्यिक विद्वानों द्वारा और दूसरा कबीर पंथियों द्वारा। साहित्यिक क्षेत्र में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण कार्य बाबू श्यामसुन्दर दास ने किया।

उन्होंने सवत् 1985 में दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर कबीर ग्रन्थावली का सम्पादन किया। जिसमें से एक संवत् 1561 की और दूसरी 1881 की मानी जाती हैं। डॉ. श्याम सुन्दर दास का कथन हैं कि इन दोनों प्रतियों के लिपिकाल में 320 वर्षो का अन्तर हैं। संवत् 1881 की प्रति में सं. 1561 वाली प्रति की उपेक्षा 131 दोहैं और 5 पद अधिक हैं। सं. 1561 वाली प्रति कवि के जीवनकाल के समीप की हैं, अतः इसे प्रामाणिक माना जा सकता हैं। प्रथम प्रति के संवत् 1561 में लिखे जाने के विषय में विद्वानों को सन्देह हैं, जिसका कारण इस प्रति के अन्तिम पृष्ठ की अंतिम पंक्ति में समपुरण शब्द मिलता हैं। तथा बाद में सम्पूर्ण भाषागत् विभिन्नता के अतिरिक्त लिपि की बनावट में भी भिन्नता दिखाई देती हैं। अंतिम पंक्ति अधिक मोटे अक्षरो में तथा अधिक गाढ़ी स्याही में लिखी गयी हैं, इसलिए विद्वान अप्रामाणिक मानते हैं तथा इस 1561 में लिखी हुई न मानकर बाद में लिखी हुई मानते हैं। ऐसा होने पर भी इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता संदिग्ध हैं।

कबीर ग्रन्थावाली में कबीर कृत रचनाओं का बाहुल्य हैं तथा अब तक प्रकाशित कबीर की रचनाओं के संग्रह ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रमाणिक संग्रह प्रतीत होता हैं।

सन्त कबीर – सिक्खों के धर्म ग्रन्थ गुरूग्रन्थ साहिब में कबीर की जो बाणियाँ संगृहीत हैं उन्हीं का सम्पादन डॉ. रामकुमार वर्मा ने संत कबीर में किया हैं। सिक्ख लोग गुरू के शब्द को इतना महत्व देते हैं कि उसमें कुछ भी घटाना–बढ़ाना अधर्म मानते हैं। इसीलिए इसकी प्रामाणिकता विश्वसनीय हो सकती हैं। और संवत् 1661 के बाद की संकलित प्रतियों में सबसे अधिक प्रामाणिक मानी जा सकती हैं। गुरूग्रन्थ साहब के आधार पर 228 पद और 243 साखियाँ (सलोक) दी गई हैं। इस संग्रह में रमैनियों को बिल्कुल छोड़ दिया गया हैं। फिर भी गुरूग्रन्थ साहिब के आधार पर सम्पादित संत कबीर प्रमाणिक संकलन माना गया हैं।

कबीर – इसमें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बीजक, कबीर ग्रन्थावली, कबीर वचनावली तथा संत कबीर की साखी में से 225 चुने हुए पदों को संकलित किया हैं। इस पुस्तक की भूमिका विशेष महत्वपूर्ण हैं। इसमें द्विवेदी जी ने कबीर की जाति निर्धारण का विशेष प्रमाण किया हैं और पुष्ट प्रमाण देकर उनको जुगी जाति का सिद्ध किया हैं।

कबीर ग्रन्थावली (पारसनाथ तिवारी) – डॉ. तिवारी ने इसका सम्पादन 1961 में किया। कबीर वाणी का पाठ निर्धारण एवं प्रामाणिक रचना संकलन के लिए इन्होंने विभिन्न पुस्तकालयों,कबीर पंथी, दादूपंथी एवं निरंजन पंथी सस्थानों तथा व्यक्तिगत संग्रहालयों से प्राप्त हस्तलिखित एवं मुद्रित

सामग्री का अत्यन्त श्रम से निरक्षण एवं परीक्षण करके प्रस्तुत संग्रह तैयार किया हैं। इसमें उन्होंने 200 पदों, 50 रमैनियों, एक चौंतीसी रमैनी और 744 साखियों को संग्रहित किया हैं।

कबीर ग्रन्थावली (डॉ. माता प्रसाद गुप्त) – डॉ. पारमनाथ तिवारी ने पी.एच.डी. की उपाधि हैंतु डॉ. माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन में इस पुस्तक का सम्पादन किया था। परन्तु गुप्त जी को उनके पाठालोचन से पूर्ण संतोष नहीं मिला। इसलिए डॉ. गुप्त ने कबीर ग्रन्थावली के पाठ निर्धारण की नये सिरे से आवश्यकता समझते हुए इसका सम्पादन किया। इसके लिए उन्होंने आधार ग्रन्थ आगरा विश्व विद्यालय के के.एम. मुंशी विद्यापीठ में सुरक्षित संवत् 1662 की बनारसीदास की परम्परा की इस प्रति को आधार बनाया हैं जो सबसे प्राचीन उपलब्ध पाठ देती हैं।

कबीर वचनावली (अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध) – हरिऔधजी का कथन हैं कि उन्होंने इस संग्रह का संकलन 'कबीर बीजक', चौरासी अंग की साखी तथा बेलवेडियर प्रेम की पुस्तकों के आधार पर किया हैं। परन्तु आधार ग्रन्थों की प्रामाणिकता संदिग्ध होने के कारण इस संग्रह ग्रंथो की प्रमाणिता संदिग्ध हैं।

कबीर वाड्मय (डॉ. जयदेव सिंह, डॉ. वासुदेव सिंह) – कबीर बाड्मय तीन भागों में विभक्त हुआ हैं। खण्ड–1 रमैनी में जगत्, खण्ड2–सबद में ब्रह्म और खण्ड3– साखी में जीव सम्बन्धी विचार प्रकट किया गया हैं। रमैनी शब्द का प्रयोग तीन अर्थो में हुआ हैं – (1) जिसमें संसार के जीवों के रमण का विवेचन हुआ हैं, (2) परम तत्व में रमण करने वाली (3) एक छन्द विशेष जिसके प्रत्येक चरण में 16 मात्राएं होती हैं।

'साखी' शब्द संस्कृत के साक्षी का तद्भव हैं। जिसका अर्थ होता हैं साक्षी या गवाह। 'सबद' का प्रयोग दो भावों को ध्यान में रखकर किया गया हैं – एक तो परम तत्व के अर्थ मैं दूसरा पद के अर्थ में।

इस ग्रन्थ के पूर्व प्रकाशित कबीर सम्बन्धित रचनाओं की दो परम्पराएँ मिलती हैं – एक बीजक की, दूसरी ग्रन्थों अथवा संग्रहो की। बीजक परम्परा में रमैनियों का विशेष महत्व दिया गया हैं और साखियों तथा पदों की संख्या कम हैं, जबकि संग्रहों और ग्रन्थावलियों में पदों और साखियों की संख्या अधिक किन्तु रमैनियों की उपेक्षा की गई हैं। कबीर बाड्.मय में दोनों परम्पराओं में संतुलन स्थापित किया गया हैं। इसके तीनों खण्डों में कुल मिलाकर चोरासी रमैनियों 809 साखियों 350 पदों के अतिरिक्त कबीर द्वारा प्रयुक्त अन्य 8 काव्य रूपों को सम्मिलित कर लिया गया हैं। इस प्रकार इसकी सार्थकता और उपादेयता बढ़ गई।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता हैं कि कबीर साहित्य को लेकर जितने भी संग्रह ग्रन्थ अद्यतन प्रकाशित हुए हैं उसमें से श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित कबीर ग्रथावली डॉ. रामकुमार वर्मा द्वारा सम्पादित 'संत कबीर' तथा डॉ. वासुदेव सिंह द्वारा सम्पादित कबीर बाड्.मय ही अधिक प्रामाणिक एवं अधिकाशं विद्वानों द्वारा मान्य रहैं हैं। अधिकाशं संग्रहों से ज्ञात होता हैं कि शुद्धि के आग्रह ने बानियों की मौलिकता को नष्ट कर दिया हैं।

♦♦♦♦

सन्दर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य कोश भाग – 2, पृ. 63
2. हिन्दी साहित्य कोश भाग – 2, पृ. 63
3. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 328
4. मैकलिप : सिख रिलिजन, ग्रन्थ 6, पृ. 10
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 80
6. कबीर बीजक, पद – 77
7. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास, पृ. 25
8. सरब गोटिका (सं. 1848) पृ. 188
9. उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ. 234 – परशुराम चतुर्वेदी
10. भक्तमाल, पृ. 66
11. भक्तमाल सरीक – सीताराम शरण भगवान प्रसाद (लखनऊ 1913)
12. कबीर ग्रन्थावली – पृ. 21.7
13. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 21.6
14. दिल्ली सल्तनत – रतिभानु सिंह 'नाहर', पृ. 700
15. दिल्ली सल्तनत – रतिभानु सिंह 'नाहर' पृ. 707
16. कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एवम् सिद्वान्त – डॉ. सरनाम सिंह शर्मा पृ. 6–7
17. कबीर चरित्र बोध, पृ. 160
18. संत कबीर – माता प्रसाद गुप्त, पृ. 555–56
19. कबीर ग्रन्थावली भूमिका, पृ. 18
20. भक्तमाल – सं. श्री ब्रजवल्लभशरण, छप्पय60, पृ. 414
21. भक्तमाल – सं. श्री ब्रजवल्लभशरण छप्पय – 31
22. कबीर कसौटी – बाबू लहना सिंह – संवत – 1942
23. कबीर ग्रन्थावली – श्यामसुन्दर दास, प्रस्तावना पृ. 19
24. कबीर ग्रन्थावाली – श्यामसुन्दरदास, प्रस्तावना पृ. 19
25. धर्मदास कृत द्वादस पंथ से भक्तरित
26. प्रियादास कृत भक्तमाल की टीका से अवतरित
27. अबारिर्तमालजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू सारिज नार्थ वैस्टर्न प्राविसेज, भाग – 2, पृ. 224
28. संत कबीर – भूमिका
29. संत कबीर – रागु गौड़
30. संत कबीर राग मेरड़

31. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 25
32. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 25
33. कबीर की विचार धारा, पृ. 33–34
34. तुलसी साहब, घट रामायण, पृ. 133
35. कबीर व्यक्तित्व और सिद्धान्त – डॉ. सरनाम सिंह शर्मा पृ.12
36. सं. वा. र. 3
37. सं. क. ग्रं. 15
38. सं. क. ग्रं. 15
39. वा. प. 15.8 या 15
40. कबीर वचनावली, 12, 187
41. कबीर ग्रंथावली पृ. 128 पद – 124
42. कबीर ग्रन्थावली पृ. 131 पद 134
43. संत कबीर – रागु आसा, 26 (पृ. 116)
44. कबीर ग्रंथावली – 289/84
45. कबीर साहब की परचई अन्नददास
46. रज्जब : महामुनि सर्वागी साध महिमा 13
47. डॉ. बड़थ्वाल : निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी थोइट्री पृ. 250–51
48. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीः कबीर, पृ. 11
49. डॉ. रामकुमार वर्माः संत कबीर, पृ. 61
50. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 165, पद 229
51. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 137, पद 151
52. कबीर मंसूर, पृ. 149–50
53. कबीर ग्रन्थावली, प्रस्तावना, पृ. 22
54. श्याम सुन्दरदास : कबीर ग्रन्थावली, पृ. 173, पद 250
55. कबीर ग्रन्थावली, प्रस्तावना – पृ. 22
56. कबीर व्याक्तव्य, कृतित्व और सिद्धान्त पृ. 26
57. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 309 पद 9
58. कबीर कसौटी पृ. 13
59. आदि गुरू ग्रन्थ साहब, तरन–तारन, पृ. 698
60. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 275–38
61. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 319 पद 174

62. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 165, 229
63. कबीर जीवन और दर्शन उर्वशी सूरती, पृ. 45
64. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास, पृ. 263, 285
65. संत कबीर, प्रस्तावना (जीवन वृत्त) पृ. 72
66. कबीर : हिज बायोग्राफी, पृ. 32
67. कबीर ग्रन्थावली, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, भूमिका पृ. 81
68. चन्द्रवली पाण्डेय, ना. पृ. प. कबीर का जीवन वृत्त भाग – 14, अंक 4, पृ. 504
69. कबीर बीजक पृ. 68
70. कबीर सागर (स्वामी भुगलानन्द) पृ. 67
71. कबीर सागर (स्वामी भुगलानन्द) पृ. 279
72. हिन्दी साहित्य का इतिहास – शुक्ल – 93
73. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 215, 383
74. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 362 – 160
75. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 317, 166
76. श्याम सुन्दर दासः कबीर ग्रन्थावली, पृ. 317–166
77. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 279–49
78. कबीर ग्रथावली, पृ. 856
79. कबीर ग्रन्थावली पृ. 49, 28.5
80. पुरूषोतम श्री वास्तवः कबीर साहित्य का अध्ययन, पृ. 45
81. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 29, 28.3
82. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 44.10
83. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 317.166
84. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 302.129
85. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 317.167
86. कबीर ग्रन्थावली पृ. 269.109
87. श्याम सुन्दर दासः कबीर ग्रन्थावली, पृ. 169.109
88. श्याम सुन्दर दास : कबीर ग्रन्थावली पृ. 165.129
89. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 305.136
90. कबीर ग्रन्थावली पृ. 173.250
91. कबीर ग्रन्थावली पृ. 173.251
92. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास पृ. 102 पद 9

93. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास पृ. 101
94. कबीर दास दृष्टि और सृष्टि – डॉ. शिवाजी नामदेव देवरे – पृ. 62
95. कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 144
96. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास, पृ. 288 पद 157
97. कबीर दास दृष्टि और सृष्टि – डॉ. शिवाजी नामदेव देवरे 65
98. कबीर दास दृष्टि और सृष्टि – डॉ. शिवाजी नामदेव देवरे 66
99. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परम्परा पु. 176 – 77
100. वही पृ. 177
101. वही पृ. 177–78
102. कबीर : बीजक, साखी 261
103. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : कबीर साहित्य की परख, पृ. 82
104. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास – डॉ. रामकुमार वर्मा पृ. 121–22
105. हिन्दी साहित्य – डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 144
106. कबीर साहित्य की परख – आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ. 32
107. कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी – प्रस्तावना, पृ. 29,30
108. कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त – डॉ. सरनाम सिंह शर्मा, पृ. 120–28
109. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – भूमिका, पृ. 1

द्वितीय अध्याय
कबीर की संवेदनाः सामाजिक और धार्मिक यथार्थ

(1) कबीर के युग की सामाजिक स्थिति

(2) कबीर के युग की धार्मिक स्थिति

(3) सामाजिक और धार्मिक यथार्थ

(4) आन्तरिक व बाह्य रूढ़िवादिता

द्वितीय अध्याय

कबीर की संवेदनाः सामाजिक और धार्मिक यथार्थ

विषम और कराल परिस्थितियाँ महापुरुषों को जन्म देती हैं। कबीर के पूर्व का परिस्थितियाँ एवं कबीर की समकालीन परिस्थितियाँ भी कबीर को उग्र और सौम्य बनाती हैं। युग पुरुष कबीर के आविर्भाव काल में राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और साहित्यक परिस्थितीयाँ संक्रमण काल से गुजर रही थी। उक्त सभी क्षेत्र में सामान्य जन का शोषण हो रहा था। हिन्दू राजा महाराजा आपसी विद्वेष और फूट के कारण शक्तिहीन हो गये थे, भारत की अपार संपदा पर मुसलमानों की गीद्ध दृष्टि लगी थी। पहले तो लुटेरों के रूप में आकार भारत में मुसलमान लूटपाट कर अपने वतन को चले जाते थे, किन्तु कालान्तर में भारत में ही रहने लगे। कबीर दास के व्यक्तित्व और कृतित्व को, उनके जीवन और दर्शन को वास्तविक रूप में समझने के लिए विशेष रूप से उनके पूर्व और उनकी समकालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को जानना आवश्यक हैं उनकी प्रतिभा में पूर्ण मौलिकता रखते हुए भी उनके जीवन और दर्शन के निर्माण में उन्हैं प्राप्त परम्परओं का, सदगुरू की प्रेरणाकता और अपने समय के समाज जीवन की प्रतिक्रिया का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव निश्चित रूप से देखने में आता हैं।

कबीर दास पूर्व परिस्थितियाँ

शुद्ध ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर भारत के मध्ययुग की धार्मिक परिस्थितियों के विश्लेषण में 5वीं से 16वीं शती का समय महत्वपूर्ण माना जायेगा। परन्तु ऐतिहासिक तथ्य मानव के मन को विशेष दिशा में मोड़कर बहुत दूर तक अपना प्रभाव डालते हैं। इस दृष्टि से धार्मिक प्रवृतियों की प्रधानता से मध्य युग का समय 18वीं शती तक मानना उचित प्रतीत होता हैं। धर्म के प्रति आधुनिक मनोवृति के दर्शन 18वीं शती के बाद होते हैं। देश की राजनीतिक परिस्थतियाँ इन धार्मिक प्रवृतियों के लिए विशेष रूप के जिम्मेदार रही। काव्य, नाटक, शिल्प, संगीत, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि क्षेत्रों में भारत पिछड़ा रहा, परन्तु भगवद् भक्ति के क्षेत्र में वह आगे रहा।

धार्मिक परिस्थिति

भारत में प्रथम शताब्दी के बाद धर्मसाधना एवं दर्शन का महत्पूर्ण साहित्य निर्मित हुआ। इन धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों के निर्माण की प्ररेक शक्ति उस समय देश में प्रवर्तित एवं नवोदित विभिन्न सम्प्रदाय थे। ये प्रवृतियाँ प्रारम्भ से ही क्रान्तिकारी और जातीयता के प्रति नया दृष्टिकोण

देने वाली होने से नवीन उत्साह और जोश से पूर्ण थी। उस समय भारत के उत्कर्ष के लक्षण व्यक्त हो रहैं थे, पतन की कोई संभावना न थी।

छठी शताब्दी के बाद धर्म प्रवृतियों में नवीनता आई। उन पर तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट दिखता था। इस प्रभाव से ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म भी नहीं बच पाये। प्राथमिक, प्रभाव के रूप में तन्त्रशास्त्र उनके लिए सहायक सिद्ध हुआ परम्तु, आगे चलकर उनमें अनेक विकृतियों का प्रवेश हो गया। इसके फलस्वरूप होने वाले अनिष्टों को देखकर भारत के महान् मनीषी भी स्तब्ध रह गये। 18वीं शती के अन्त तक उन्मुक्त विकास के लिए अनुकुल परिस्थितियों का तो अभाव रहा, प्रतिकूलता भी इसमें बाधा बन के आयी थी। परन्तु मध्यकालीन भक्ति साहित्य को देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि भारत की प्राण रूप उसकी अध्यात्म–चेतना का दमन किसी के द्वारा भी सम्भव न हुआ, बल्कि दमन का परिणाम विपरीत हुआ। यह प्रवृति और अधिक शक्ति सम्पन्न हुई, परन्तु इसके साथ दो अनिष्ट तत्व भी आये (1) धर्मान्तर की स्थिति–इस लोभ के प्रचार के कारण और ब्राह्मण धर्म की संकुचितता के परिणाम स्वरूप हिन्दू का मुसलमान हो जाना और (2) अपने सम्प्रदाय की गूढ़ता को सुरक्षित रखने के प्रयत्नों में स्वस्थ दृष्टि और विवेक के अभाव से विकृतियों का प्रवेश।

इन दो कारणों से मूल वैदिक आस्तिक परम्परा से विच्छिन्न होकर धर्म प्रवृतियों में नास्तिक स्वच्छन्दता आ गई उदाहरणार्थ राजा भोज के समय 'नील परी–दर्शन' का अर्विभाव हुआ। उसके सिद्धान्त में त्रिरत्न अर्थात सुरा–सुन्दरी और काम को प्रथम स्थान दिया गया।

पूर्व मध्ययुग की विविध साधनाओं के अन्तर्गत छठी से दसवी शताब्दी तक मन्त्र, यन्त्र और बुद्वा के तांत्रिक सिद्वान्त का प्रभाव वैष्णव, शाक्त, शैव, गाणपत्य, सौर, बौद्ध और जैन सब धार्मिक सम्प्रदायों पर पड़ा। उन्होंने अपने–अपने आराध्य को सर्वश्रेष्ठता की मान्यता देकर उपासना–भाव को अधिक प्रगाढ़ता दी। इस भाव विकास के साथ दर्शन–पक्ष भी पुष्ट हुआ। इसके महान् मनीषियों के जीवन में कर्मव्यता, व्यक्तित्व में जागरूकता और दर्शन में प्रतिभा का उत्कर्ष देखने मे आता हैं। परन्तु विदेशी आक्रमणों के साथ यह स्थिति बदल गई। इस्लाम–धर्म के आंतक से भयभीत प्रजा क्षुब्ध हो उठी। विदेशों से तो उनके सम्बन्ध शिथिल हुए ही, सामान्य प्रजा के जीवन में भी शिथिलता आ गई। महान् मनीषियों के धर्म–निर्देश का आश्रय पाकर ही लोठा कुछ आश्वस्त हो पाए।

तंत्र और प्रमाण–ग्रन्थों को सामान्य मनुष्य हृदयंगन नहीं कर सकता था, परन्तु पांच राज का वैष्णव–मन सबके लिए ग्राह्य था और पंचदेवो पासना के विधान से सबकी रूचि की रक्षा भी हो

जाती थी। इसके अलावा पाशुपत–मत के साथ शैवागम का प्रवर्तन भी था जो शिव–शक्ति की एकता के प्रतीकात्मक वर्णन में आत्मा–ब्रह्मा की एकता का निरूपण कर रहा था। इस काल में प्रत्येक धर्म–सम्प्रदाय संघटित और प्रौढ़ हो रहा था। दक्षिण में आलवारों द्वारा प्रवर्तित वैष्णव–धर्म की बागडोर ऐसे कट्टर–पंथी आचार्यो के अधिकार में आई कि वे परम्पराओं से प्राप्त शास्त्रीय मर्यादाओं की रक्षा में भी अपने धर्म की सुरक्षा समझते थे। दूसरी ओर भक्तों में खानपान के व्यवहार में जाति भेद एवं छूआछूत की भावना न थी। वे शूद्र तथा स्त्री को भक्ति का अधिकारी मानते थे। परन्तु इन आचार्यो ने शूद्रों से भक्ति के अधिकार भी छीन लिए और भक्ति की व्यवस्था अपने वर्ग के उच्च वर्ग के हाथों में रखी।

तब 'श्री पर्वत' प्रसिद्ध तांत्रिक पीठ था। उसके आश्रम में शैवमत की एक शाखा–कापालिक मत का प्रर्वतन हो रहा था। 8वीं 9वीं शताब्दी में बौद्ध, शैव, शाक्तों तथा योगियों एवं तांत्रिकों के ग्रन्थों में कुछ समान विशेषताएँ देखने में आती हैं, जैसे कि बाह्याचार का विरोध, चितशुद्धि, परमात्म प्राप्ति में शरीर का साधन के रूप में महत्व, समरसी–भाव, स्वसंवेदन आदि। 'स्वसंवेदन' उस युग की महत्वपूर्ण साधना थी। उससे उनका तात्पर्य था – 'निष्कंचुक जीव का शिव हो जाना' अर्थात् जीव–शिव की अभिन्नता का अनुभव।

परमात्म रहस्य के अनुभवी जैन सन्तों को 'मरमी' की संज्ञा दी जाती थी। जैन साधक जोइन्दु ने स्वंसवेदन का रहस्य स्पष्ट करते हुए कहा हैं – ''देवालय, शिक्षा, चित्र या चन्दन में देवता नहीं हैं। वह अक्षय, निरंजन, ज्ञानमय शिव तो समचित्त में निवास करता हैं।'' यह रहस्य–साधना पद्धति सन्तों की निर्गुण–भक्ति की परम्परा में अविकल रूप से चली आई हैं। कबीर ने भी इसी रहस्य साधना–पद्धति द्वारा ब्रह्मात्मैक्यानुभव किया।

इस निर्गुण भक्ति के पनपने में 4 दिन की मूल वैष्णव–भक्ति में योग साधना एवं ज्ञान मार्ग के समन्वय ने विशेष योगदान दिया। प्रारम्भ में भोगमत का प्रादुर्भाव उत्तर भारत में एक शक्तिशाली साधना पद्वति के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसके साथ दक्षिण की स्त्री–शूद्रों की भक्ति की पात्रता प्रदान करने वाली विचार धारा से भी उत्तर के नाथ और संत प्रमाणित हुए। सर्वप्रथम गोरखनाथ ने हिन्दू–मुस्लिम सता की भावना में प्रेरित होकर एक मुसलमान 'रतन हाजी' को अपना शिष्य बना कर इस विचारधारा का समर्थन किया। परन्तु नवीन भक्ति मार्ग के प्रवर्तन का श्रेय गुरू राघवानन्द के शिष्य और काशी में शंकर अद्वैत की शिक्षा प्राप्त करने वाले स्वामीनन्द को दिया जाता हैं। जिन्होंने अनुभव किया कि स्त्री–शुद्रो के हृदय में भी ईश्वर प्रेमानुभूति की सच्ची लगन होती हैं।

और वह अदम्य होती हैं। अतः उन्होंने वर्ण–विभेद एवं धार्मिक विद्वेष का परिहार करके सबके लिए भक्तिमार्ग उन्मुक्त कर दिया और ऊँच–नीच, हिन्दू–मुसलमान सबको अपना शिष्य बनाया।

एक ऐतिहासिक तथ्य के अनुसार फैजावाद के सूबेदार ने कुछ हिन्दुओं को धर्म भ्रष्ट करके जबरदस्ती मुसलमान बना दिया था। स्वामी रामानन्द ने मानव के नाते मानव का स्वीकार करते हुए उन्हैं पुनः धर्मशुद्धि के संस्कार से हिन्दू बनाकर सुधारक, प्रगतिशील दृष्टिकोण एवं ईश्वर प्रेम का परिचय दिया। स्वामी रामानन्द के गुरू राधवानन्द और भी सम्प्रदाय के अन्य अनुयायिओं ने उनकी इस सुधारक प्रवृति को नापसन्द किया और उनके साथ खान–पान का व्यवहार बन्द कर दिया। उस समय धार्मिक संकीर्णता वश ऊँच–नीच के भेद इतने प्रबल थे कि दृष्टि–स्पर्श भी हैंय माना जाता था। अतः समाज जीवन में प्रवर्तित हिन्दू–मुसलमान और द्विज–शूद्र के भेदभाव का निवारण असम्भव सा ही था। परन्तु उनके प्रयत्नों ने इस भेदभाव को शिथिल अवश्य किया। उनका अधूरा कार्य आगे चलकर कबीर ने पूरा किया।

कबीर में वेदांत की उच्च विचारधारा के साथ वर्ण–भेद के प्रति विरोध एवं हिन्दू तथा मुसलमान दोनों धर्मो की कट्टरता के प्रति नाराजगी थी। जड़ धर्म–बन्धनों द्वारा मर्यादित समाज व्यवस्था को नाबूद करने के लिए उन्होंने बड़े साहस और निर्भयता के साथ सक्रिय प्रयत्न किये। दूसरे, इस्लाम के एकेश्वरवाद और वेंदान्त की अद्वैत भावना में सूक्ष्म एकता को लक्षित कर उन्होंने इन दोनों धर्मो के दोषों का निवारण कर उनकी अच्छाइयों को समन्धित कर एक नयी विचार धारा दी।

इस युग का साहित्य धर्म–भावना, दर्शन और भक्ति की प्रेरणाओं से निर्मित था। संत साहित्य की मूल प्रेरणा सिद्ध–साहित्य था। सं. 797 वि. से सं. 1257 वि. तक सिद्ध–साहित्य और सं. 1100 वि. से 1300 वि. तक नाथपंथ का संत साहित्य रचित हुआ। कबीर की विचारधारा के अनेक तत्व आदि सिद्ध सरहपाद में भी मिलते हैं। वे स्वयं ब्राह्मण भिक्षु होने पर भी धर्म की जड़ रूढ़ियों से मुक्त थे उन्होंने जातिभेद का विरोध किया। कर्मकांड को तोड़ने के उद्देश्य से उन्होंने वेद को भी निरर्थक बताया और कहा कि – ''जब कोई वस्तु नहीं हैं तो ईश्वर भी एक पदार्थ हैं और वह भी कैसे रह सकता हैं?'' शून्यवाद की यह एकांगी परिभाषा तात्विक पृष्ठभूमि की कमजोरी के कारण अनेक प्रकार के परिवर्तनों और रूपान्तरों के साथ सन्तों की परम्परा में परिणत हुई।

जिन्होंने वेद को न माना उन्होंने सनातन धर्म अर्थात्–सनातन सत्य को भी न माना। कर्मकाण्ड का विरोध अज्ञानता और अन्धश्रद्वा के निवारण के लिए करना आवश्यक था, परन्तु उसके मूल तत्व सनातन धर्म से प्रभुत होने के कारण उसके स्वरूप का अस्वीकार सनानत सत्य का भी

अस्वीकार था। कर्मवाद कहता हैं – ''मनुष्य को अपने कर्म का फल मिलता हैं।'' जिन्होंने व्यवहार में अकारण किसी को दुखी देखा, उन्होने ज्ञान सिद्वान्त का खण्डन किया। वेद में निरूपित कर्म–सिद्वान्त पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को मानता हैं और कर्म तथा उनके फल को उनसे सम्बन्द्ध कर संगति देता हैं। इसमें सनातन धर्म त्रिकाला बाधित सिद्ध होता हैं। वेद को न मानने वाले पुनर्जन्म और पूर्वजन्म को न मानने के कारण कर्म और उसके फल का सम्बन्ध नहीं समझ पाते। इसलिए सब वैदिक मतो ने कर्मकाण्ड का विरोध किया हैं। बौद्ध धर्म इस विरोध में सबसे आगे था। प्रारम्भ में बौद्ध सिद्धों के दो पंथ हुए–महायान और हीनथान। ये दोनों सैद्धान्तिक मतभेद वश स्वतन्त्र रूप के प्रवर्तित हुए। महायान पंथ में प्रविष्ट दोषों से बचने के लिए वज्रयान पंथ चला। उनकी नैतिक प्रवृति के साथ दर्शन में यथार्थवादी, अनेक वादी और नेरात्म्यवादी लक्षण थे। जब यह पंथ नैतिक प्रवृत्ति में अपनी गतिविधि को ठीक से न सम्हाल पाया, तब इस पंथ के कुछ अनुयायियों ने 'सहजयान' और कुछ ने 'मंत्रयान' नाम से अपना अलग सम्प्रदाय शुरू किया। मंत्र के साथ तंत्र का प्रवेश भी अनिवार्य हो गया और उसमें गुह्य तत्वों की ओर सांकेतिकता की प्रधानता रही। उन्हीं का रूपांतर वृज्रयान में हुआ।

इतिहास में भी इसका उल्लेख मिलता हैं – 8वीं शताब्दी के बाद नालंदा, विक्रमादित्य, ओदन्तपुरी आदि विद्या पीठों में प्रचलित बौद्धधर्म तांत्रिक और योग–क्रियाओं की नवीनता के कारण तीन प्रधान मतों में प्रस्फुटित हुआ – वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान।'' तीसरा ''कालचक्रयान का मत आज तिब्बती अनुवाद में सुलभ हैं। वज्रयान पंथ ने सबको साधना का अधिकार दिया, इससे वह अधिक लोकप्रिय हुआ। इस पंच के सिद्धां ने बुद्ध में देवतत्व का आरोप कर ईश्वरवाद की प्रेरणा दी और अनेक जातक–कथाएँ लिखी। यही पंथ साधना की सहजता को व्यक्त करने के कारण सहजयान नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने धर्म और सामाजिक आचरण में व्यावहारिक एकता की स्वाभाविकता का प्रतिपादन किया।

सहजयान में 'वज्र' पुमिन्द्रिय का प्रतीक हैं। उसे प्रज्ञा का बोधक और बोधिचित्र का सारस्वरूप बताया गया। यह महासुख अर्थात् पूर्णानन्द की समरकता की सहज स्थिति हैं। चित्र शुद्धि के लिए इसकी साधना–पद्धति में 'योगिनी–मार्ग' एक अपूर्व विशेषता रखता हैं। इसमें पुरूष के लिए अपनी पत्नी के साथ साधना करने का विधान हैं। इसके समर्थन में बताया गया हैं कि बन्धन मुक्ति में कारण रूप चित्त सहवास–सुख की अनुभूति के बल पर महासुख की अनुभूति प्राप्त कर सकता हैं। इस मार्ग को राग मार्ग, अवधूती, चांडाली, डोंबीन आदि नाम भी दिए गए हैं। इन विविध परम्पराओं के परिवर्तन, रूपांतर, विकास और प्रवर्तन की प्रक्रिया में सर्वाधिक मुखरित विशेषता उनका कार्मिक दृष्किोण हैं। प्रारम्भिक काल के सन्त आध्यात्मिक बातों को अधिक महत्व

देते थे। अतः उनके सुधारक तत्व भी धार्मिक थे। परन्तु समय के प्रवाह के साथ मानवतावादी और समाजवादी तत्वों का प्रवेश हुआ, जिससे एकांगी धार्मिक वातावरण में संशोधन मूलक परिवर्तन हुआ।

कबीर की पूर्व–परम्परा में जयदेव से नामदेव तक के सन्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विक्रम की नवीं शताब्दी से सिद्ध सरहपा तथा अद्वैतवाद के आचार्य 'शंकर' से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी में गुरू गोरखनाथ के समय तक प्रादुर्भूत और निर्मित विविध मतों के जिन संतों की आध्यात्मिक विचारधारा का निर्माण भक्ति भाव द्वारा हुआ, उनमें किसी युग प्रवर्तक प्रतिज्ञा का उदय न होने से सन्तमत को स्पष्ट और प्रौढ़ कष्ट न मिल पाया।

नामदेव कबीरदास के पथ प्रदर्शक एवं पूर्वकालीन सन्तों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। वे अपने क्षेत्र की सीमा में अपने उपदेशों का प्रचार करते रहैं। अतः उत्तर भारत में प्रवर्तित सन्तमत की सारी विशेषताओं को हम उनमें देख नहीं पाते। वे बारकरी सम्प्रदाय के अनुयायी तो थे परवाद की संन्कीर्णता का बंधन उनके लिए भी अक्षय था। उन्होंने कभी भी उसके सिद्धान्तों का शब्दशः पालन करना आवश्यक नहीं माना। स्वानुभूति के आधार पर ही वे जो उपदेश देते थे वे अपने आप में पूर्ण स्वतन्त्रता रखते थे। इसी कारण उनके विचारों में सरलता और सजीवता हैं और उसी से वे लोकप्रिय हुए। देश भ्रमण के सिलसिले में जब वे मालवा, गुजरात, राजस्थान, पंजाब आदि प्रदेशों में गये और हिन्दी में अपने उपदेश वहाँ की जनता को सुनाये, तो वह उनके प्रति ऐसी आकृष्ट हो गई कि कई लोग उनके अनुयायी हो गये। उनकी पद–रचना उत्तर भारत में कुछ दूर पूर्व में भी पहुँची। वे जब हाथ में करताल लिए, पद गाते, तब उनकी भावुकता देखकर लोग मुग्ध रह जाते और उनके पदों को कंठस्थ करके गाने लगते। ऐसा प्रतीत होता हैं इन्हीं प्रचलित पदों से प्रभावित होकर ही कबीर बड़ी श्रद्धा के साथ उनका नाम लेते हैं।

इस प्रकार भारत के विभिन्न आन्दोलनों ने कबीर के आर्विभाव के पूर्व ही संत विचारधारा को बहुत कुछ प्रदान किया था। अजपाजाप के साथ योगाभ्यास, तत्रों से गृहीत रहस्यपूर्ण शरीर–रचना और प्राण आदि का उपासनापरक साधना के विकास में उपयोग, शंकराचार्य का अद्वैतवादी ज्ञानमार्ग, वैष्णव–सम्प्रदाय की भक्ति–पद्धति सब ने अपनी व्यापकता के साथ भी एक संश्लिष्ट, सुंरूगत रूप में समन्वय के कारण नया रूप धारण किया सतं साहित्य में प्रयुक्त भक्ति मार्ग के 'हरि', 'नारायण' तथा बौद्धधर्म के 'शून्य' 'निर्वाण', 'विज्ञान' जैसे शब्द इसके मूल स्रोतों का संकेत करते हैं। इस नवीन धारा के प्रवाह में कबीर ने अपूर्व योगदान देकर उसकी रहस्यमयी साधना से संकलित विचारधारा को पहचाना तथा उसे स्पष्ट और व्यापक रूप दिया।

राजनीतिक परिस्थिति

विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत की राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था में भारी उथल–पुथल मचा दी। गजनी तथा गोरी वंहा के मुसलमानों के आक्रमण हुए और तराइन की लड़ाई (सं. 1250) में विजय प्रकट मुहम्मद गोरी ने यहाँ पर अपने स्थायी राज्य की नींव डाली। उस काल के इस भूखण्ड पर मुसलमानी शासन का आरम्भ हो गया। गुलाम वंश (सं. 1263–1347), खिलजी वंश (1347–1377) तथा तुगलक वंश (1377–1469) के भिन्न–भिन्न व्यक्ति क्रमशः सुलतान बन कर यहाँ के सिंहासन पर बैठै। ये सुलतान अपने मजहब–इस्लाम की शरीअत के न्यूनाधिक पाबंद रहते हुए भी अपना शासन अपरिमित अधिकार की प्रभुता के अर्थ में चलाते थे। परन्तु व्यावहारिक बातों में ये सदा निरकुंश बने रहते थे। मुसलमान उमरां पूरे ठाठ–बाट के साथ जीवन व्यतीत करते थे और इसमे कला, साहित्य आदि की उन्नति भी होती जा रही थी।

सामाजिक परिस्थिति

मध्ययुग का समाज–जीवन धर्म द्वारा संचालित और नियंत्रित था। यह तथ्य हमें तत्कालीन साहित्य में प्रतिबिंबित युग–जीवन में उपलब्ध होता हैं। उस समय समाज के प्रत्येक स्तर पर धर्मजीवन की धड़कन थी। इसी कारण विधर्मियों के आक्रमक–अभियानों में राजनीतिक जुल्मों में सामाजिक सुधारक प्रवृतियों में और साहित्य में धर्म के उन्मूलन या उसकी प्रतिष्ठा के संघर्ष मूलक प्रयत्न स्पष्ट दिखते हैं। समाज की प्रिय धार्मिक भावना को अपनाने वाला विदेशी धर्ममतावलंबी लोकप्रिय हो सकता था और अपनी धार्मिक भावनाओं का प्रचार–प्रसार कर लोक – जीवन को प्रभावित भी कर सकता था।

धर्मशास्त्र और धर्मसाधना एक दूसरे में ओत प्रोत हैं। मध्ययुग के सर्वमान्य गृहस्थ जीवन में धर्मशास्त्र का अनुशासन था। विभिन्न सम्प्रदायों में दीक्षित साधक अपने–अपने सम्प्रदाय में मान्य ग्रन्थों के निर्देशानुसार साधना करते थे। लोगों को तीर्थाटन, स्नान, व्रत, उपवास, पुण्यकर्म, स्वर्ग–नरक, कर्मफल और पुर्नजन्म पितृश्राद्ध वर्णाश्रम व्यवस्था आदि में पूर्ण श्रद्धा थी और कर्मकाण्ड के अनुरूप विविध देवी–देवताओं की वे पूजा करते थे। इन्हीं कारणों से मनुष्य अधिक बहिर्मुख हो गया था और बाह्याचार मूर्तिपूजा आदि को विशेष महत्व देता था।

सांस्कृतिक वातावरण

भिन्न–भिन्न विचारों तथ्य संस्कृतियों के संघर्ष के कारण एक नवीन प्रकार के समाज का निर्माण होता जा रहा था। लोगों को किसी योग्य मार्ग दर्शक की आवश्यकता थी। यह विकट कार्य

उसी के द्वारा संभव था, जिसकी बुद्धि परस्पर–विरोधी प्रकृति के बीच समन्वय तथा सामंजस्य लाने के अतिरिक्त किसी स्थायी व सार्वभौम नियम तथा आदर्श का प्रस्ताव रखने में भी समर्थ हो। उक्त युग के पूर्वार्द्ध तक यहाँ का क्षेत्र तैयार हो चुका था। उसके उत्तरार्द्ध के आरम्भ से ही कुछ ऐसे व्यक्यिों का प्रादुर्भाव होने लगा था, जिन्हैं कम से कम पथ–प्रदर्शक संतो के नाते स्मरण करने की प्रवृति होती हैं। परिस्थितियों की प्रतिक्रिया से उनका आंतरिक चैतन्य उद्‌बुद्ध हुआ। उन्होंने अबाधगति से कार्यक्षेत्र में प्रवेश किया, अदम्य प्रखरता से समस्या की गंभीरता की चाह ली और संघर्ष का निर्भय होकर सामना किया। इसमें समाज का उद्धार हुआ और धर्म की रक्षा हुई। तब समाज की रक्षा में राजनीति और धर्म दोनों जिम्मेदार माने जाते थे।

परन्तु राजनीतिक वातावरण विषय था। मालवा, जौनपुर, गुजरात में राजपूत राजा और मुसलमान सुलतानों में युद्ध होते थे, दिल्ली और बंगाल के प्रदेशों में सिकंदर लोदी निर्दयतापूर्वक हिन्दुओं का कत्लेआम करता था। इन परिस्थितियों से धर्म, कला, साहित्य और समाज प्रभावित हुए। लोगों की आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई। मुसलमान शासन में हिन्दू निर्धनता और संघर्ष से हार – से गये थे। हिन्दू को उच्च पदाधिकार नहीं दिया जाता था और शासक वर्ग विलासी था। चौदहवीं शताब्दी के अंत तक प्रजा की शक्ति और पौरूष का ह्रास हो गया, उनकी प्रतिभा कुंठित हो गयी। ऐसे ही मौके पर स्वामी रामानन्द और कबीर जैसे वैष्णव भक्त हो गये।

धर्म – सहिष्णु हिन्दू और कट्टर एकेश्वरवादी मुसलमानों के बीच दीर्घकाल तक विद्वेष चलता रहा और उनका वैमनस्थ बढ़ता गया। इससे सर्वत्र अशांति और अराजकता फैल गयी। संतो ने उद्धार का एक ही मार्ग बताया ''हिन्दू मुसलमान की एकता।'' एकेश्वरवादी मुसलमानों ने हिन्दू धर्म के तात्विक रहस्य की अज्ञानता के कारण बहुदेववाद की निंदा की और मूर्तिभंजक का क्रूर रूप अपनाया। वास्तव में हिन्दू बहुदेववाद वैसा नहीं हैं, जैसा ऊपरी दृष्टि से दिखाई देता हैं। हिन्दुओं के प्रत्येक देवता का द्वैध रूप हैं। एक व्यावहारिक और दूसरा पारमार्थिका। उनकी मूर्ति–पूजा और बहुदेव वाद हिन्दूधर्म के गहन सिद्धान्तों के बाहरी आवरण मात्र हैं। यदि हिन्दूधर्म के पूजा–विधान की इस मूल भावना की अवहैंलना न की गई होती तो कबीर उसका विरोध न करते।

एकेश्वरवाद मूर्तिभजंक होकर भी बहुदेववाद की आत्मा से भिन्न हैं। लेकिन निर्गुण सन्तों ने परमात्मा सम्बन्धी जिस विचार धारा का प्रसार किया, वह इन दोनों मे तत्वतः भिन्न थी। मुहम्मद ने अपने कुल और राष्ट्र के लोगों में जिस धर्म का प्रचार किया था, वह एक सनातन सत्य था और आवश्यक कल्पना के योग से बना था। गिबन द्वारा व्यक्त इस मंतव्य में कल्पना के तत्व को कबीर ने अस्वीकार कर सत्य के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए निर्गुण को सबल साधन बनाया। कबीर ने

मुहम्मद के इतत्व को भी अस्वीकार करके ईश्वर, सम्बन्धी विचार को और भी महान् और आकर्षक बना दिया। उस परिस्थिति में हिन्दू–मुसलमान में अड़ोसी–पड़ोसी की भाँति प्रेमभाव की अपेक्षा थी। उदार चेता सन्तों ने इसी में मानव–जीवन का कल्याण और देश की शांति–सुरक्षा को देखा। वे जातीय पक्षपात से रहित, विरक्त और परमात्मा के सच्चे सेवक थे और प्रेम का सन्देश देते थे।

कबीर के युग की परिस्थितियाँ –

(1) कबीर के युग की सामाजिक परिस्थिति

कबीर ने जिस काल में जन्म लिया उस काल में सामाजिक परिस्थितियाँ भी अनुकुल नहीं थी। कबीर श्रमजीवी निम्नवर्गीय मध्यम आय के दस्तकार थे। उनके युग में धनवान और गरीब के बीच की खाई काफी गहरी थी। राजा और उसके अधिकारी वर्ग सत्ता, खुश, सुन्दरी एवं अश्लील संगीत के भंवर जाल में पड़े थे। सम्पदा उन्हैं ह्रदयहीन और पशुतुल्य बना दिया था। मारकाट, हत्या, बलात्कार भुखमरी, बेरोजगारी, बहू–बेटियों के क्रय–विक्रय आदि की परिस्थितियाँ कबीर जैसे व्यक्ति के ह्रदय को पीड़ित कर रही थी।

भारत कृषि प्रधान देश हैं। भले की कबीर जुलाहैं थे, किन्तु वे किसानों से अलग नहीं थे। सामंती ढ़ांचे पर आधारित मघ्यकाल के किसान ही बुनियाद थे। सांमतो, अधिकारियों और जमीनदारों की विलासिता संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दस्तकारों को प्र्याप्त काम मिलने लगा। बावजूद इसके न तो उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी न ही सामाजिक स्थिति। कबीर के काल में किसानों की हालत दयनीय थी। किसानों पर बहुत कर लगाये गये थे, जिसे खराज कहा गया था। किसानों के आवास और पशुधन पर लगे कर घरी और चराई कहैं जाते थे। मोरलेंक ने लिखा कि राजस्व अधिकारी और उनके सहायक गाँव के मुखिया से मिलकर किसानों को पीड़ित करते थे।[1]

प्रोफेसर इफरान हबीब के अनुसार 'अधिकारों से वंचित मध्यकाल के किसान अर्द्धदास जैसे थे। दस्तकार और किसान एक प्रकार से शोषित वर्ग में आते थे।[2] इस प्रकार एक ओर समाज में जहाँ मुसलमान शासक राजा, जमीनदार, पटवारी आदि शोषण वर्ग में आते थे, वहीं दूसरी ओर किसान, मजदूर, दस्तकार आदि शोषित वर्ण में आते थे। शोषण वर्ग द्वारा शोषित वर्ग का बहुआयामी शोषण ही कबीर के व्यक्तित्व को बनाता हैं। कबीर एक ओर शोषण के अत्याचारों का पर्दाफाश करके रोद्र रूप लेते हैं. वहीं दूसरी ओर शोषित वर्ग के दुखों को देखकर द्रवित हो जाते हैं' और उनका स्वर करूणामय हो जाता हैं। भारतीय समाज, हिन्दू, बौद्ध, जैन, मुसलमान, आदि कई मतावलम्बियों से निर्मित हुआ हैं। कबीर के पूर्व बौद्विक शक्ति अति दुर्बल हो गई थी और

जैनियों का उतना प्रभाव नहीं था, हिन्दू यहाँ के प्रमुख निवासी थे जिनका सम्पर्क अरब, फारस, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान, आदि जगहों के आने वाले मुसलमानों के साथ हुआ।

हिन्दू समाज – भारत के तत्कालीन हिन्दू शासक शासित हो गये। सन् 712 ई. में सिन्ध पर अरब की विजय हुई, फिर महमूद गजनी, मोहम्मद गौरी के भीषण आक्रमण और लूटपाट के बाद मुसलमानों के स्थायी शासक का शिलान्यास गुलाम वंश के साथ हुआ। इस राज्य में गैर मुसलमान के लिए स्थान नहीं था। मुस्लिम राज्य का वास्तविक शासन ईश्वर हैं। राजा तो मात्र उसका एजेण्ट होता हैं जिसका कर्त्तव्य ईश्वर प्रदत्त कुरान शरीफ के नियमों को लागू करना होता हैं।[3]

ईसाई जजिया टैक्स देकर द्वितीय श्रेणी की जिन्दगी यापन कर सकते थे, लेकिन मूर्ति पूजक (काफूर) के लिए इस्लाम ग्रहण या मृत्यु को छोड़कर जजिया टैक्स की व्यवस्था नहीं थीं। मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध के 17 वर्ष से अधिक आयु के पुरूषों का वध करवा दिया था।[4] हिन्दू अपने ही घर अपमानित जीवन व्यतीत करने के लिए विवश थे। उनमें विदेशी मुसलमानों के प्रति घृणा थी। इन विदेशी मलेच्छों के साथ पारस्परिक विवाह अथवा किसी प्रकार का अन्य सम्बन्ध खाना–पीना उठना–बैठना आदि हिन्दुओं ने वर्जित कर दिया क्योंकि ऐसा करने से वे अशुद्ध हो जाते।[5]

इब्नबतूता ने लिखा हैं – कभी कभी मजबूरी में हमें भारतीय काफिरों से अपना गोश्त पकवाना पड़ता था। वे उसे पकाने वाले बर्तनों में लाते थे और हमसे दूर भागते थे। वे अपने साथ केले के पत्ते भी लाते थे। जिस पर चावल परोस देते थे, हमारे खाने से बचे हुए अन्न को कुत्तों और पक्षियों को फेंक दिया जाता था। यदि कोई मासूम बच्चा उस अन्न को अनजाने में खा लेता तो वे उसे पीटते थे वे उसे गोबर खिलाते थे। जो उनके विचार से पवित्र रखने की शक्ति रखता था। परन्तु इसके विपरीत मुसलमानों को हिन्दुओं के हाथ का दिया हुआ भोजन स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं थी। ऐसा जान पड़ता था कि मुसलमान ऐसे अवसर की खोज में रहते थे कि वे हिन्दुओं के निकट आये और यह नहीं चाहते थे कि अछुतों जैसा उनके साथ व्यवहार हों।[6]

हिन्दू चार वर्णो में विभाजित थे – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह वर्गीकरण पहले गुण पर आधारित था लेकिन बाद में इसे जन्मानुसार मान लिया गया जिसका दुष्परिणाम हिन्दुओं को आज भी भोगना पड़ रहा हैं। ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि हैं क्योंकि उनका जन्म ब्रह्मा के मुख से हुआ हैं।[7] कौटिल्य ने विभिन्न जाति के लिए ऋण की अलग–अलग ब्याज दर निश्चित की थी – ब्राह्मण दो, क्षत्रिय तीन, वैश्य चार और शूद्र पाँच प्रतिशत।[8] ब्राह्मण को किसी भी परिस्थिति में मृत्युदण्ड नहीं दिया जाएगा।[9]

वशिष्ठ समृति के अनुसार प्रजा को धन का छठा भाग कर देना पड़ता था लेकिन ब्राह्मण कर से मुक्त था।[10] ब्राह्मण की पवित्रता अग्नि और जल के तुल्य बतायी गई हैं। उसका वचन कभी व्यर्थ नहीं जाता था। इसलिए उसे प्रसन्न रखना चाहिए। क्षत्रिय एक योद्धा जाति थी जिसका कर्त्तव्य था देश की रक्षा करना मुसलमानों से पराजित होने के बाद उसे धक्का लगा था। वैश्य का काम कृषि वाणिज्य के द्वारा देश का भरण – पोषण करना था। शूद्र को सेवा – भार सौंपा गया था।

शूद्र ब्रह्म के पैर से पैदा हुआ[11], जिसका काम सेवा करना, [12] फटा कपड़ा पहनना, जुठा खाना।[13] मनु का आदेश हैं कि शूद्र को बुद्धि, धर्मोपदेश, व्रत का आदेश नहीं देना चाहिए।[14] शूद्र का अन्न ग्रहण करना ब्राह्मण के लिए रूधिर के समान हैं।[15] महाभारत के अनुसार शूद्र की अपनी सम्पति नहीं हो सकती। कौटिल्य के अनुसार अपने को ब्राह्मण घोषित करने वाले की आँख, विष द्वारा नष्ट कर दी जाएगी। वशिष्ठ ने शूद्र नारी के साथ तीनों वर्णो को विवाह में वर्जित किया हैं।

वर्ण व्यवस्था का यह नियम मरने के बाद भी लागू होता हैं। मार्कण्डेय पुरान के अनुसार–अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः ब्रह्मालोक, मारूत लोक और गन्धर्वलोक में स्थान मिलता हैं।[16] मुस्लिम काल में समस्त हिन्दू समाज द्वितीय श्रेणी का नागरिक था। तत्कालीन हिन्दू को राजनीतिक अधिकारच्युत होने के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पर मुखापेक्षी होना पड़ा था।

प्रो. जदूनाथ सरकार ने औरंगजेब कालीन हिन्दुओं की दयनीय दशा का जो चित्रण किया हैं वह वस्तुतः समग्र मुसलमान कालीन हिन्दुओं की दशा थी जब किसी वर्ग के लोगो पर सार्वजनिक रूप से कानून तथ्य शासकीय व्यवहार दोनों तरह के दमन एवं अत्याचार किये जाते हैं तो वे पशुओं जैसा जीवन बिताने में ही सन्तोष मानने लगते। जब हिन्दुओं की उदार भावनाओं को कुचला जा रहा था। जबकि उनके बौद्धिक संस्कार उनकी अपनी अपमानित दशा का और भी तीखा अनुभव करा रहैं थे, तक ऐसी स्थिति में उनसे उत्कृष्टतम सृजन की आशा नहीं की जा सकती थी, जिसके लिए वे सुयोग्य थे। उनके हिस्से तो अपने प्रमुखों का लकड़हारा और कहार बनना, राजस्व की चक्की में पीसने की सामग्री जुटाना और स्वयं अपने परिश्रम के फलों को बचाने की लिए ओछी मक्कारी और चापलूसी को साधन के रूप में अपनाना ही, आया था। ऐसी सामाजिक स्थिति में मानवीय श्रम एवं बुद्धि श्रेष्ठतम फल नहीं प्राप्त कर सकती, मानव हृदय उच्चतम स्तर पर आरूढ़ नहीं हो सकता। हिन्दू बुद्धि की अनुर्वशता और उच्च वर्ग के हिन्दुओं में नीच प्रवृत्तियाँ भारत के

मुसलमान शासक के बड़े अभिशाप थे। इस्लामी राजनैतिक वृक्ष, इसके फलों को देखते हुए पूर्णयता निकल रहैं।[17]

निष्कर्षतः कहा जा सकता हैं कि मुस्लिम शासन में –

(1) समस्त हिन्दू द्वितीय श्रेणी के नागरिक थे।

(2) हिन्दुओं में परस्पर भेद – भाव चरम सीमा तक बढ़ गया था। यह भेद – भाव जन्म पर आधारित था, गुणों पर नहीं अर्थात् जन्म की प्रधानता थी गुण की नहीं।

(3) हिन्दू समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि था। नियम को बनाना, उसमें परिवर्तन करना आदि इसी के हाथ में था। ब्राह्मणों ने नियम बनाते समय अपने हित को हमेशा सामने रखा।

(4) शूद्र का स्थान हिन्दू समाज में सबसे नीचे था। हिन्दू होकर भी हिन्दूओं के सामान्य अधिकार से ये वंचित थे। अपनी सुरक्षा के लिए जब ये शासक के शरण में जाते थे तो वहाँ भी इन्हैं घोर निराशा मिलती थी। अतः यह जाति या वर्ग जिसकी संख्या सर्वाधिक थी, हिन्दू और मुसलमान दोनों की चक्की में निर्दयतापूर्वक पीसी जा रही थी। कबीर के जाति विरोध का मूल स्रोत यही से निकला होगा।

मुस्लिम समाज – समानता और विश्वबन्धुत्व के आधारशिला पर इस्लाम धर्म की स्थापना रखी गई थी। तलवार के बल पर सिन्ध के साथ भारत के अन्य मागों में इसका प्रवेश हुआ। लूट–पाट करने वाले मुसलमान यहाँ स्थायी रूप मे बस गये और भारतीय समाज के धार्मिक अंग बन गए। आज के मुसलमान पहले हिन्दू थे। इसी तरह हिन्दू की चाण्डाल जाति में धर्म परिवर्तन किया और वे कसाई मुसलमान कहलाने लगी।[18]

इसके अतिरिक्त अनेकों ने भय और लोभ से इस्लाम धर्म स्वीकार किया। मुसलमान पिता और हिन्दू माता के मौन सम्बन्ध से जो वर्ण संकट पैदा हुए उसके लिए हिन्दू समाज में स्थान नहीं था। अतः उन्हैं मुसलमान समाज में स्थान मिला। इस तरह मुसलमान समाज के दो रूप हुएः

(1) विदेशी मुसलमान (2) भारतीय मुसलमान (धर्म परिवर्तित, वर्ण संकर)।

सैद्धान्तिक दृष्टि से मुसलमानों में भेदभाव नहीं था, लेकिन व्यवहारतः समानता नहीं थी। विदेशी मुसलमान जो अरब तुर्किस्तान, फारस, अफगानिस्तान आदि से आये थे इसकी तुलना में भारतीय मुसलमानों की आर्थिक स्थिति निम्न दर्जे की थी। विदेशी मुसलमानों का शासन से सीधा सम्बन्ध था। इसके अतिरिक्त मुसलमानों में शिया, सुन्नी आदि का भी भेद–भाव था। सत्ता प्राप्ति के लिए जो युद्ध होता था उसके लिए मुसलमान–मुसलमान की ही निर्मम हत्या करते थे। अमीर

खुसरों के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी ने दिल्ली के भवन निर्माण में कई हजार मुगलों का वध कर उसका खून उस पर छिड़का था।[19] फिरोजशाह तुगलक की माँ राजपूत नरेश रणमल की पुत्री थी, गयासुद्दीन तुगलक की माँ जाट कन्या और कबीर के समकानीन सिकन्दर लोदी जीवा नामक सुनारिक का पुत्र था, इनके पिता मुसलमान थे। विवाह सम्बन्ध में जाति भेद–भाव नहीं था। इनके मध्य एक से अधिक पत्नी रखने की रीति थी। नारी समाज में पर्दा (बुर्का) का प्रचलन था।

हिन्दू एवं मुसलमान दोनों जातियों में भ्रष्ट राजनीति एवं शासकों की क्रूर मनोवृति द्वारा विभेदक खाई गहरी होती रही। इस युग में कुछ ऐसे महान व्यक्तियों की आवश्यकता थी, जो दोनों के मध्य की खाई पाट सकें। तथा वैमनस्य के विष को नष्ट कर सकें। समय की आवश्यकतानुसार एक वर्ग ऐसा आया, जो दोनों जातियों को एक सूत्र में बँधा देखना चाहता था। इसमें हिन्दू–मुस्लिम, दोनों मतों के सारग्राही महात्मा थे, जो जाति–पाँति एवं धर्म की संकुचित परिधि से ऊपर उठे हुए थे। युगीन परिवेश में सबसे प्रमुख बात यह दिखाई पड़ती हैं कि उच्च वर्ग के लोगों में एक दूसरे के प्रति असहिष्णुता थी लेकिन निम्न वर्ग सहिष्णु हो एक–दूसरे के निकट जाने के लिए लालायित हो रहा था। ऐसे ही अनुकूल समय में रामानन्द, उनके शिष्य कबीर और प्रेमाख्यानक कवि जायसी ने अपनी अमृतमयी वाणी द्वारा दोनों वर्गो के लोगो को अपना शिष्य बनाया, जिससे दोनों की विभेदक खाइयाँ पाटने में सहायता मिली, तथा ऐक्य भावना स्थापित करने की प्रेरणा भी प्राप्त हुई।

(2) कबीर के युग की धार्मिक स्थिति

कबीर से पूर्व ही हिन्दू पर संकट छा गए थे। इस्लाम ने हिन्दुओं को जो कुछ दिया वह सब उन्हैं प्राप्त हुआ। उसने धर्म पर जो भयंकर उत्पात किए, हिन्दुओं का विवशतावश। सब सहन करना पड़ा। इस्लाम समाज की छत्र–छाया में हिन्दू मुसलमान बन रहैं थे। इस्लाम प्रचार की प्रतिक्रिया से हिन्दू भावना अनेक रूपों में व्यक्त हुई, अपनी भूमि पर इस्लाम को अपना सहचर समझकर अनेक भारतीय धर्म सम्प्रदाओं ने उसके प्रति जिस सहिष्णुता का परिचय दिया, वह सहज सांस्कृतिक विरासत थी।

बौद्धधर्म में विकृति आने पर आर्य – संस्कृति को बहुत बड़ा धक्का लगा। हिन्दू धर्म की एकता खण्डित हो गई। बौद्धधर्म के प्रायः लुप्त हो जाने पर भी वह अपने सिद्धान्तों की छाप अवश्य छोड़ गया। अमात्यवाद की चरम अभिव्यक्ति नागार्जुन के शून्यवाद में हो चुकी थी। औपनिषदिक आत्मा के खण्डन पर शून्य की प्रतिष्ठा ने भारतीय चिंतन की परम्परा में एक बड़ी क्रान्ति और प्रगति को जन्म दिया। शंकर के मायावाद पर आधारित अद्वैतवाद. शून्यवाद के लिए एक चुनौती

थी। बौद्धमत की विकृति और विफलता के कारण की बज्रयान और सहजयान सम्प्रदायों की उत्पति हुई, किन्तु कालक्रम से वे भी विकृतियों से विगलित हो गए। फिर भी वे अपनी कुछ परम्पराएं और साधनाऐ छोड़ गए थे।

बज्रयान और सहजयान की प्रतिक्रिया में ही नाथपंथ की उत्पति हुई। आचार्य द्विवेदी के अनुसार 'नाथपंथ' सहजयान और बज्रयान का ही परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप हैं।[20] राहुलजी ने तो नाथपंथ के प्रधान आचार्य गोरखनाथ को वज्रयान का ही आचार्य कहा हैं। नाथपंथ के स्रोत की विवेचना करते हुए विद्वानों के मत द्रष्टव्य हैं – 'नाथपंथ को दार्शनिक दृष्टि से शैवमत के अन्तर्गत रखा हैं, किन्तु व्यावसायिकता की दृष्टि से उसे पतंजंलि के योग से सम्बन्द्ध किया हैं।[21] सभी वर्गो एवं श्रेणियों में इसका आदर होता था। यही कारण हैं कि राजा से रंक तक की कथाएं इससे संबंध रखती हैं। कबीर के समय में भी यह मत प्रचलित था। नाथपंथ में 'निरंजन' शब्द का गान किया गया हैं। यह निरंजन शब्द निर्गुण का ही पर्याय हैं। इस्लाम धर्म की अपेक्षा सूफीमत कबीर–युग में अधिक प्रबल था। आचार्य द्विवेदी के अनुसार मजहबी मुसलमान हिन्दू धर्म के मर्मस्थल पर चोट नहीं कर पाये थे, वे केवल उसके बाहरी शरीर की विक्षुब्ध कर सके थे, पर सूफी लोग भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनके उदारतापूर्ण प्रेममार्ग में भारतीय जनता का चित्त जीतना आरम्भ कर दिया था। फिर भी ये लोग आचार प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उनका सांमजस्य आचार – प्रधान हिन्दू धर्म के साथ नहीं आ सका।

बौद्ध धर्म के साथ–साथ जैन–धर्म का भी प्रचलन था। जैन धर्म के अन्तर्गत भी विभिन्न सम्प्रदायों का उदय हो गया था। स्पर्धा की भावना में कटुता के फल लगकर वे न केवल धर्म को छिन्न–भिन्न कर रहैं थे, अपितु सामाजिक जीवन को भी संकीर्ण बना रहैं थे। जैन धर्म भारत – भर में फैला हुआ था, किन्तु उसका अधिक प्रसार राजस्थान, गुजरात और सौराष्ट्र में ही था।

इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी अराजकता छाई हुई थी। विभिन्न धार्मिक साधनाएं प्रचलित थी, जिन्हैं डॉ. सरनामसिंह शर्मा ने वैदिकधारा एवं वेद विरोधी धारा दो नामों से अभिहित किया हैं। वैदिकधारा के अन्तर्गत आने वाली साधनाएं केवल उच्च वर्ग को प्रश्रय देती थी और वेद विरोधी धारा के द्वार समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए खुले थे। इन दोनों वर्गो की साधनाओं और सम्प्रदायों में वैष्णव, शैव और शाक्त प्रधान थे। इनके अतिरिक्त बौद्ध, जैन और वैदिक कर्मकाण्डी भी थे। इन सम्प्रदायों के भी उपविभाग हो गये थे – वैष्णवधर्म में शंकर, रामानुज, माध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि के सम्प्रदाय और वीर शैव सम्प्रदाय।[22] इस प्रकार कबीर के जीवन काल में छः दर्शन एंव 96 पाखण्ड विधमान थे और इसी प्रतिफल धार्मिक परिस्थिति में कबीर का जीवन बीता।

भारत अनेक धार्मिक मतों का देश हैं। पहले बौद्धों ने हिन्दुओं के पैर उखाड़ दिये और अपना उत्थान किया। इस पर मुसलमानों ने विजय प्राप्त कर इसको समूल विनष्ट कर दिया।[23] इत्खियारूद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने उद्‌ण्डपुर नामक विहार पर आक्रमण कर वहाँ पर अनेकों बौद्ध भिक्षुओं का वध किया। अनेक बौद्ध मारे गए, कुछ तिब्बत की ओर भाग गए और कुछ देहात में जा बसे।[24] जैन धर्म के मतावलम्बियों की संख्या कम थी। हिन्दू धर्म के पुनरूद्धार का श्रेय शंकराचार्य और कुमारिल भट्ट को हैं। ब्राह्मण हिन्दू के निर्वाचक थे, शूद्रों को कोई धार्मिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। वे वेद को स्पर्श नहीं कर सकते थे। वैदिक ग्रन्थ का श्रवण करने वाले शूद्र के कर्णछिद्र को पिघले रांगे के बन्द कर देने और मन्त्रोच्चारण करने वाले की जिह्वा काट लेने तथा स्मरण करने वाले के शरीर को टुकड़े–टुकड़े कर प्राणदण्ड देने का शास्त्र ने निर्देश दिया।[25]

इस्लाम धर्म के आगमन से हिन्दू धर्म को संकट पैदा हो गया था। पैगम्बर मुहम्मद साहब अथवा इस्लाम धर्म की त्रुटियों के विरूद्ध एक शब्द भी कोई नहीं बोल सकता था। ऐसा करने वालों को मृत्यू दण्ड मिलता था।[26] इस धार्मिक असहिष्णुता का सिकन्दर कबीर को होना पड़ा। इस्लाम धर्म स्वीकार न करने वाले हिन्दू को अनेक प्रकार की यातनाएँ दी जाती थी, यथा – तलवार के धार उतारना, अपहरण एवं अंग–भंग करना, बलात्कार और विवाह करना, सांप से डसवाना, शेर से फड़वाना, खाल निकालना, कान–नाक कटवाना, मन्दिर को मस्जिद में बदलना, कैद करना आदि। इस प्रकार से विभिन्न प्रकार के दण्ड से दण्डित होने वाले इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लेते थे। इब्नबतुता ने कुतुबुद्दीन मुबारक शाह के शासन काल का वर्णन करते हुए लिखा हैं कि इस्लाम धर्म स्वीकार करने के इच्छुक हिन्दू को सुलतान के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था। सुल्तान उसे बहुमूल्य वस्त्र और सोने के कंकण प्रदान करता था।[27]

फिरोज तुगलक और सिकन्दर लोदी ने अपनी नीति का मुख्य लक्ष्य ही बना लिया था – हिन्दू को इस्लाम (मुसलमान) में परिवर्तित करना।[28] हिन्दू धर्म त्याग कर इस्लाम धर्म स्वीकार करने वाले नवदीक्षित मुसलमान इस्लाम धर्म के रोजा–नमाज से अधिक उसे नहीं जान सके और अपने पूर्व के रीति रिवाज को नहीं छोड़ा अथवा तदनुकूल मजार का पूजन, ताजिया निकालना, कव्वाली गाना आदि का सृजन किया जो हिन्दू धर्म के अधिक नजदीक और इस्लाम धर्म के विपरीत हैं।

यवनों के अत्याचारों द्वारा हिन्दुओं की धर्म–व्यवस्था अस्त–व्यस्त हो गयी थी। परिणामस्वरूप उस समाज में नाना प्रकार की धार्मिक साधनाएँ प्रचलित हो गयी। इन समाप्त चिन्तन धाराओं एवं साधनाओं को दो भागों में विभाजित किया जा सकता हैं – (1) एक वे, जो उच्च वर्ग में मान्य एवं प्रिय थी। (2) दूसरी वे, जिनमें निम्न वर्ग अभिरूचि लेता था।

डॉ. सरनाम सिंह ने प्रथम को वैदिक धारा तथा द्वितीय को वेद–विरोधी धारा की संज्ञा प्रदान की हैं। वैदिक धारा तथा वेद–विरोधी धाराओं का संघर्ष इतने जोरो पर था कि उस संघर्ष को ततयुगीन जीवन के सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता हैं। वेद–विरोधी साधना के द्वारा सबके लिए खुले थे, चाहैं वह हिन्दू हो, चाहैं मुस्लिम हो, चाहैं ईसाई हो और चाहैं किसी जाति का या वर्ग का हो, परन्तु वैदिक धारा यह गवारा नहीं कर सकती थी, वह तो केवल उच्च वर्गो के लिए थी और उन्हीं को प्रश्रम देती थी। इन दोनों साधनाओं और सम्प्रदायों में वैष्णव–सम्प्रदाय, शैव सम्प्रदाय, शाक्त सम्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय और जैन सम्प्रदाय विशेष प्रसिद्ध थे। इनके अतिरिक्त इन सभी के उपसमुदाय भी थे। इस युग में हिन्दू धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय में बाह्यडम्बरों का बाहुल्य था। हिन्दू बने रहने के लिए तथा हिन्दू कहलाने के लिए उन बाह्याडम्बरों एवं आचरणों को निष्ठापूर्वक करना पड़ता था। पाखण्ड प्रिय समाज ने धर्म भी व्यापक भावनाओं एवं उसके उदात्त अर्थ को जय, माला, तिलक, गेरूए वस्त्रों एवं पत्थर–पूजा तक सीमित कर रखा था। सवर्ण हिन्दू असवर्णो पर अत्याचार कर रहैं थे, उनकी छाया तक से घृणा करते थे, अतः उनका जीवन दूभर हो गया था।

ऐसी विकट परिस्थितियों में निम्न वर्ग के हिन्दुओं के सम्मुख एक ही मार्ग था, जिसका अवलम्बन ग्रहण कर वे समादृत एवं उचित सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकें, वह था इस्लाम। यद्यपि उस समय इस्लाम के अतिरिक्त भारत में नाथ–पंथ भी ऐसा ही वेद–विरोधी सम्प्रदाय था, जिसे जाति–पाँति का भेद स्वीकार न था, किन्तु पता नहीं, क्यों निम्न वर्ग नाथों की गुहा साधना से भड़कर सूफी मत एवं इस्लाम स्वीकार कर रहा था। इसका प्रमुख कारण यह हैं कि बौद्ध धर्म जिस वैभव से फूला–फला, वैसे ही लुप्त प्रायः हो गया और उससे उद्भुत नाथपंथ सहजयान सम्प्रदाय आदि अपनी साधना की गुहयता के कारण काल कवलित हो रहैं थे। हम देखते हैं कि हिन्दू धर्म ने इस प्रकार की विषय परिस्थितियों में भी अद्भुत धैर्य का परिचय दिया। इस्लाम का वैभव अधिकांश जनता को आकृष्ट न कर सका, वह सवर्ण हिन्दुओं की यातनाओं से पिसकर भी हिन्दू बनी रही। फिर भी हम इस सत्य से मुँह नहीं मोड़ सकते कि यदि हिन्दू धर्म ने अपने दलित समझे जाने वाली जाति को उपेक्षित एवं तिरस्कृत न किया होता और मुसलमानों ने तलवार का सहारा ले भीषण रक्तपात इस्लाम के प्रचार के लिए न मचाया होता तो शायद ही भारतीय जनता एकाध प्रतिशत कठिनाई से मुसलमान बन पाती, परन्तु दुर्भाग्य के कारण हिन्दुओं की तो उस समय बुद्धि ही मारी गयी थी। जिन्होंने जितना ही अपने को पवित्र रखने का प्रयत्न किया, उतना ही अपना अधिक भाग खोकर हिन्दुओं की संख्या कम की, और इस्लामियों की वृद्धि में अनजाने में महत्वपूर्ण योग दिया। समय के प्रभाव से इस्लाम धर्म भी अधूरा न रहा। धीरे–धीरे उसमें भी ब्राह्याचार एवं अन्य विश्वासों

का महत्व बढ़ने लगा। कुरान, रोजा, नमाज सम्बन्धी विविध आचरणों में ही धर्म केन्द्रित हो रहा था तथा इस्लाम के प्रचारक कंचन, कादम्ब एवं कामिनी–विलास में फँसते जा रहैं थे।

कबीर उस युग के लोक–नायक थे एवं युग–द्रष्टा थे। उन्होंने दोनों धर्मो के आडम्बरों, पाखण्डों एवं अभावों को बड़े निकट से देखा–परखा था। उन्हैं अपने जन्म के कारण कुछ ऐसी सुविधाएँ प्राप्त थी, जो मध्यकाल के किसी अन्य साधक एवं सवि को नहीं थी। उन्होंने खुलकर हिन्दू मुस्लिम दोनों पर व्यंग्य प्रहार किये जिसमें दोनों तिल मिला उठे, तब उन्हैं प्रेम–भक्ति का मार्ग–निर्देशन किया। संयोग से वह ऐसे युग–सन्धि के उपरान्त हुए थे जिसे हम विविध धर्मसाधनाओं और मनोभावों का चौराहा कह सकते हैं। उन्हैं सौभाग्य वश सुयोग ही ऐसा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं, वे प्रायः उनके लिए बंद थे। वह मुसलमान होकर असल में मुसलमान नहीं थे। वह हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वह साधु होकर भी साधु नहीं थे। कबीरदास ऐसे मिलन बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता हैं और दूसरी ओर मुसलमानत्व। जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता हैं और दूसरी और निर्गुण भावना निकल जाती हैं, दूसरी ओर सगुण भावना। उसी प्रशस्त चौराहैं पर वह खड़े थे। वह दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरूद्ध दिशा में गए मार्गो के गुरूदोष उन्हैं दिखाई दे जाते थे।

उपर्युक्त विवेचनोंपरान्त कहा जा सकता हैं कि कबीर ऐसे समय में उत्पन्न हुए थे, जिस समय देश विषम परिस्थितियों से गुजर रहा था। मस्तमौला संत को ये विषम परिस्थितियाँ ही वरदान बनकर अनुकूल हो गयीं और उसी के सहारे वह मध्य युग का प्रवर्तक सन्त और महाकवि बन गया। युगीन परिस्थितियों के अध्ययन एवं मनन के द्वारा कबीर ने जो कुछ कहा हैं, उसमें तत्कालीन समस्त समस्याओं का समाधान ढूढ़ां जा सकता हैं। कबीर ने अपनी वाणी के द्वारा एक अभिनव समाज का निर्माण किया और समाज ने अपने लिए एक कुशल मार्गदर्शन संत प्राप्त किया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामाजिक परिस्थितियों ने कबीर जैसे अदम्य साहसी व्यक्तित्व को गढ़ा और विलक्षण व्यक्तित्व वाले कबीर ने नए समाज का निर्माण किया।

(3) सामाजिक और धार्मिक यथार्थ

कबीर का काल धार्मिक, सामाजिक पुनरूत्थान अथवा नव जागरण का था। कबीर काल दो संस्कृतियों के मिलन से उत्पन्न तनाव का था। दो सस्कृतियों के संगम से हर क्षेत्र में परिवर्तन एक सहज परिणाम था। जीवन दृष्टि, जीवन पद्धति और विचारों में एक क्रान्ति अपेक्षित थी। मूल्यों में बदलाव स्वाभाविक था। जिस प्रकार आज विज्ञान और धर्म में तनाव हैं – न हम विज्ञान को छोड़ सकते हैं और न धर्म आचरण को। एक ओर जड़ जगत के परमाणु को तोड़कर हमने अद्भुत

आणविक शक्ति अर्जित कर ली हैं, दूसरी ओर चेतना, विवेक, धर्म, आस्था, सदाचार, पारस्परिक प्रेम, समता, संवेदना से हम करते जा रहैं हैं। हम विज्ञान–विवेक के समन्वय की खोज में तत्पर हैं। विज्ञान ने हमें सभी सुविधाएँ दी हैं – विनाश और निर्माण दोनों की कुंजी हमारे पास हैं और धर्म ने सम्यक् आचरण, विश्वबन्धुत्व, सर्व भूतहित की चेतना जगाई हैं।

कबीर युग में विज्ञान और धर्म के बीच तनाव नहीं था। उस समय परम्परागत रूढ़िवादी जीवन, शासनवादी चिंतन, निष्प्राण धर्म, सेवा – समता रहित आदर्श और सर्व धर्म समभाव, अभेद दृष्टि, आंतरिक पवित्रता, सहज स्वानुभूति, विवेक पूर्ण चेतना के बीच तनाव था। वेद–उपनिषद् के पंडित शास्त्रार्थ करना जानते थे, जीवन जीना नहीं, ब्रह्य को सत्य मानकर श्री अद्धैत की बात करके भी, वे अज्ञानी असाधु थे। परस्पर घृणा के वे पोषक थे प्रेम के नहीं।

उदै अस्त की बात कहतु हैं। सब का किया विवका हो।
घाटै – बाटै का जग दुखिया क्या गिरही वैरागी हो।
सुखदेव अचारज दुख कै कारनि गरभ सौं माया त्यागी हो।
जोगी दुखिया जंगम दुखिया तपसी कौ दुख दूंना हो।
आसा त्रिसनां सबकौ व्यापै कोई महल न सूना हो।
सांच कहौ तो कोई न मानै झूठ कहा नहिं जाई हो।
ब्रह्म बिस्नु महैं सुर दुखिया जिनु यदुराज चलाई हो।
कहैं कबीर सकल जग दुखिया संत सुखी मन जीती हो।[29]

मुसलमान विदेशी थे, उनकी संस्कृति सर्वथा भिन्न थी, वे तलवार के बल पर अपने धर्म को फैलाने के लिए कृत–संकल्प थे, अपने महजब के आगे किसी महजब की अस्थाई स्वीकार करना उनके स्वाभाव में न था। उनकी दृष्टि में उदारता, करूणा, दया, मैत्री, समता, सहिष्णुता, सहयोग का अभाव था। धर्म के प्रति कट्टरता उनका स्वभाव था। धर्म ओर जीवन में कोई सतुंलन न था। ईश्वर में विश्वास करके भी वे हिन्दुओं को हैंय दृष्टि से देखते थे। ईमान–सच्चाई पर उनके धर्म में बल था पर वे घृणा भाव से भरपूर थे अपना धर्म फैलाने वाले श्रवण हिन्दुओं को जबरन मुसलमान बनाने के लिए वे क्रुर थे। मानवी मूल्यों के प्रति वे अंधे थे – स्वतन्त्रता, समता, सहिष्णुता, धार्मिक, सामाजिक उदारता के प्रति वे उदामीन थे। शारीरिक बल और अस्त्र–शास्त्र से अत्याचार करना ही उनका लक्ष्य था। मन्दिरों को ध्वस्त करना, महिलाओं का सतीत्व नष्ट करना, धर्म प्रसार के लिए अपढ़–निर्धन असहाय को मजबूर करना उनके धर्म का अंग था। हृदय की शुद्धता और विवेक महत्वहीन थे, उनके लिए। हां उनकी संकीर्णता के विरोध में सूफी हुए। उन्होंने कहा हैं –

एकहिं जोति सकल घर व्यापक दूजा तन्त्र न कोई।

कहैं कबीर सुनौ रे संतौ भटकि मरै जनि कोई।।[30]

कबीर ने हिन्दुओं–मुसलमानों दोनों की जीवन पद्धति देवी, दोनों के खोखलेपन को समझा, दोनों को सत्य से दूर पाया। दोनों ईश्वरवादी होते हुए ईश्वर की सन्तान को अभेद दृष्टि से नहीं देखते थे। एक के लिए मन्दिर महत्वपूर्ण था, दूसरे के लिए मस्जिद। धर्म और जीवन–प्रक्रिया में समन्वय नहीं था। दोनों ज्ञान छाँटते थे, पर वह शास्त्र–कुरान के पन्नों तक ही सीमित था। धर्म गुरूओं की कट्टरता से हिन्दू–मुसलमानों के बीच खाई बढ़ती जा रही थी। कबीर को इस धार्मिक–सामाजिक यथार्थ से जूझना था। एक ऐसा मार्ग चाहिए था जो ईश्वर में विश्वास रखकर दोनों धर्मो के बाहरी झगड़े का उन्मूलन करे। पण्डित, काजी सबको सच्चाई की ओर मोड़ा उन्होंने।

कबीर प्रतिभा सम्पन्न थे, विचारक थे, चिंतक थे, जागरूक थे, संवेदनशील थे। उन्होंने अनुभव किया दो सभ्याताएं टकरा रही हैं, दो संस्कृतियों में तनाव हैं। इस तनाव में मानव–निर्माण की जो सम्भावनाएँ हैं, उनका उपयोग होना चाहिए। उन्होंने देखा हिन्दू–मुसलमान दोनों को मिलकर रहना हैं पर यह सम्भव तभी हैं तब दोनों रूढ़िवादिता और धार्मिक अंधता को त्यागकर समता और अभेद दृष्टि को अपनावें, जब दोनों घृणा–द्वेष–अविश्वास का परित्याग कर एकता को अपनाएं। कबीर ने समझ लिया कि भेद पैदा करने वाले विनाशकारी भावों से मुक्ति पाना ही एकमात्र उपाय हैं शांति और सद्भाव से रहने का किसी जीवन पद्धति को हठपूर्वक श्रेष्ठ कहना पारस्परिक भेदभाव को बढ़ाना हैं। मुसलमानों को यह हठ छोड़ना होगा कि उनका धर्म ही एक मात्र धर्म हैं और सबको मुसलमान बन जाना चाहिए। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि हिन्दूओं को इस सांस्कृतिक संगम को स्वीकार कर अपनी रूढ़िवादिता को छोड़ना होगा।

कहु पण्डित सूचा कवन ठाउ।

जहाँ वैसि हडुं भोजन खाड।

माता जूठा पिता भी जूठा जूठे ही फल लागे।

आवहिं जूठे जाहिं भी जूठे जूठै मरहिं अभोग।।

अगिनि भी जूठी पानी जूठा जूठे वैसि पमाया।

जूठी करछी अन्न परोसा जूठै जूठा खाया।।[31]

हिन्दू–हिन्दू को ही भेदभाव की दृष्टि से देखता हैं यह कैसा अद्वैतवाद हैं। यह धर्म का पतन हैं। व्यावहारिक जीवन में शुद्ध होना पहली अपेक्षा हैं। धर्म में कोई नीच नहीं, कोई ऊँच नहीं। सारे मनुष्य ईश्वर के यहाँ समान हैं। प्रकृति सबको एक ही ढंग से जन्म देती हैं, भेद मनुष्य की

देन हैं, कोई धर्म भेद नहीं सिखाता, कोई भी धर्म घृणा को बढ़ावा नहीं देता, कोई भी धर्म यह नहीं कहता कि ईश्वर केवल मन्दिर–मस्जिद में हैं। वही राम हैं। वही अल्लाह हैं। वही गुरू हैं। वही पार लगाने वाला हैं। वही मुक्तिदाता हैं। वही सब कुछ हैं। वही निराकार हैं। वही सत्य हैं। वही निरंकार हैं। वही केशव, वही गोविन्द। नाम–भेद का काई अर्थ नहीं। सत्य एक हैं। सत्य को पहचानने के लिए प्रेम, दया, स्वभाव को अपनाना होगा। माला, तिलक, नमाज, पूजा–अर्चना ब्राह्य उपकरण हैं। ह्रदय की निर्मलता जीवन और धर्म का मूल हैं। कबीर कहते हैं बाहर नहीं भीतर देखो–बाह्य शुचिता नहीं भीतरी पावनता अपेक्षित हैं। कबीर ने धर्म के मूल को पकड़ा। जीवन का मूल सत्य हैं, आडम्बर नहीं। ईश्वर भक्त वीर होता हैं, भय नहीं जानता वह। वह पतिव्रता की भांति एक ही धर्म जानता हैं – ईश्वर के प्रति समर्पण। कबीर संग्रह में दान में आस्था नहीं रखते हैं। कबीर मानते हैं कि ये महल, ये मन्दिर, ये मस्जिद, यह दौलत, यह अहंकार साथ नहीं देता हैं। अपना साथी सत्य हैं, ईमानदारी हैं, जनजन की सेवा हैं। कबीर ने घृणा को प्रेम से, नास्तिकता को आस्तिकता से, स्व को पर से परिशुद्ध किया। कबीर इस पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं –

कबीर तन कौं जोगी सब करै मन कौ बिरला कोइ।
सब सिधि सहजै पाइये, जे मन जोगी होई।।[32]

कबीर को मैं युगनेता, युगस्रष्टा मानता हूँ। कबीर ने समय के चैलेंज को बहादुरी और समझदारी से स्वीकारा–महान वही हैं जो यथार्थ को पहचनाकर जीवन मूल्यों की रक्षा कर सके। कबीर सच्चे प्रगतिवादी थे। उनके युग का यथार्थ हैं। सांस्कृतिक जीवन शैलियों का संघर्ष। संघर्ष ही धर्म संचालन, चिंतन अथवा नेता को जन्म देता हैं। कबीर–सूर–तुलसी से इस दृष्टि से महान हैं कि उन्होंने समय को पहचाना और तत्कालीन यथार्थ से वे भरपूर जूझे। सूर तुलसी, अपेक्षाकृत, शांत युग की देन हैं। कबीर कृष्ण काव्य नहीं रच सकते थे और न मर्यादा रक्षक राम का ही स्तवन कर सकते थे। कबीर यथार्थ के कवि हैं – यथार्थ के प्रति अत्यधिक संवेदनशील। कबीर ने प्रकृति का चित्रण नहीं किया, कबीर ने महाकाव्य नहीं रचा, कबीर ने तत्कालीन गरीब–शोषित जनता की कविता नहीं रची। यह समय की मांग न थी। कबीर के समय कारखाने न थे, मजदूर मालिक का वर्ग संघर्ष न था और न आर्थिक समानता की अपेक्षा थी। अपेक्षा भी उस मानसिक तैयारी की जिससे दो विपरीत धर्मावलम्बी परस्पर सहयोग–अहिंसाभाव से रह सके। कबीर धर्म–वर्गो में घृणा उत्पन्न करने के पक्ष धर न थे – उनका बल अभेदभाव पर था। ब्राह्य संघर्ष की जगह उन्होंने आंतरिक संघर्ष की यथार्थता को समझा और साखी के माध्यम से समता, स्नेह, सद्भाव, त्याग, अपरिग्रह आदि सर्जनात्मक मूल्यों की स्थापना की।

वृत, रोजा तीर्थाटन, यज्ञोपबीत आदि को कबीर भ्रम मानते हैं।[33] इसी क्रम में वे हिन्दुओं के अत्येष्टि संस्कार को भी फिजूल मानते हैं।[34] मृत्यु के बाद चून के गोले बनाकर चौराहैं पर रखने का क्या औचित्य हैं? मानव की मृत्यु के बाद उसके पिण्ड भराने की प्रथा भी अज्ञान जन्य कबीर मानते हैं। क्योंकि जीवित व्यक्ति को अन्न नहीं मिलता और मरने के बाद उसके पिण्ड भरवाना कहाँ का न्याय हैं।[35] मुसलमानों की अजां प्रथा को भी कबीर अज्ञान जन्म मानते हैं। वे मानते हैं कि अल्लाह गूंगा नही हैं।[36] कबीर तीर्थाटन करने वालों को भी अच्छा नहीं मानते जबकि समाज में तीर्थ और व्रत के प्रति गहरी निष्ठा हैं। कबीर जीवन पर्यन्त काशी में रहैं और मृत्यु के समय मगहर चले गए। उनकी स्पष्ट धारणा थी कि काशी में प्राण त्यागने मात्र से मोक्ष नहीं मिल सकता हैं। मथुरा, द्वारका, जगन्नाथ आदि की यात्राएँ व्यर्थ हैं।[37]

कबीर यहाँ पर परम्परा विरोधी सिद्व होते हैं, किन्तु यहाँ एक बात अवश्य ही ध्यान देने की हैं कि कबीर केवल संकुचित एवं अस्वस्थ परम्पराओं के ही विरोधी हैं। वे उन्ही बातों का विरोध करते हैं जो अज्ञान जन्य हैं। और लोक ने तथा वेद ने उन्हैं पुरानी और लोक मान्य होने से पकड़ रखा हैं। इनमें कोई सार कबीर को दिखलाई नहीं पड़ता हैं। कबीर भेड़ चाल के विरोधी हैं। कबीर भली–भाँति परख चुके थे कि उसके समय का समाज स्वस्थ जीवन के प्रति अपनी आस्था खो चुका हैं। अतः इनका उन्मूलन आवश्यक हैं। इसीलिए कबीर साहित्य का उन्मेष रूग्न सामाजिक मान्यताओं, अवधारणाओं, विश्वासों, विंसगतियों और बाह्यडम्बरों की भारी भरकम दीवार को तोड़कर होता हुआ प्रतीत होता हैं। उनका सम्पूर्ण साहित्य कहीं न कहीं जाकर स्वस्थ और शुद्ध जीवन की नींव का प्रथम पत्थर प्रतीत होने लगता हैं। इनका साहित्य शुद्ध जीवन दृष्टि का नियामक हैं।

कबीर सच्चे अर्थो में धर्म संस्थापक थे। जीवन मूल्यों का जब–जब ह्यास हुआ हैं समय ने, जनता को जागरूक बनाने के लिए, किसी महान को जन्म दिया हैं। कबीर तत्कालीन समय की देन हैं। कबीर रचनात्मक धर्म के प्रतिष्ठाता हैं। कबीर काव्य की महता रस–छन्द, अलंकार गुण में नहीं वे रसात्मक काव्य के कवि नहीं, औचित्य भी उनकी कसौटी नहीं, उनके काव्य का अंगी रस न श्रृंगार हैं, न वीर, न शांत और न करूण। कबीर भावों के कवि हैं उन भावों के जो जीवन जीने के लिए अनिवार्य हैं। कबीर उस भाव का संप्रेषण करते हैं जिसकी वे आस्थावादी धार्मिक सदाचारी व्यक्ति के लिए अपेक्षित मानते हैं। कबीर एक ओर समाज से जूझते हैं दूसरी ओर अपने भीतर के शत्रुओं–कामक्रोध–लोभ–मोह से। उनके लिए काशी मगहर समान हैं आदि आंतरिक शुद्ध हो। उनका बल सच्ची अनुभूति पर हैं। उनका शब्द प्रेम से, रमैनी आस्था से, साखी संवेदना से भरी हैं। उनका एक ही उपदेस हैं अपने भीतर के चोरों से जूझो मन्दिर–मस्जिद, वेद–कुरान के लिए न लड़ो। वे कहते हैं –

पीरां मुरादां काजियां मुला अरू दरबेस।

कहां थे किनि कीये अकलि हैं सब नेरू।

कुराना कतेवा अस पढि–पढि फिकरि या नहीं जादू।

टुक दम करारी जे करै हाजिरां सूर खुदाइ।।[38]

कबीर मोमिन थे, जुलाहैं थे। वे मानते थे कि मुसलमान में भी कोई उच्च माना जाता हैं कोई कमीन–जुलाहा–धुनिया निम्न वर्ग में हैं। कबीर को यह भेद खटकता था। उनकी मान्यता थी कि ईश्वर के यहाँ सब बराबर हैं जन्म से कोई उच्च या नीच नहीं। हिन्दू–मुसलमान तो इस धरती की देन हैं। ब्राह्मण शूद्र पारिवारिक जन्म से कहैं जाते हैं। ईश्वर के लिए हृदय की पवित्रता चाहिए–हृदय जितना ही निर्मल होगा उसमें दिव्य गुणों की छाया उतनी ही स्पष्ट होगी। कबीर मुसलमान थे इसलिए ने मुसलमानों को उनकी कमजोरियों के लिए फटकार सके। कबीर अद्धैतवाद के समर्थक थे – वे हिन्दुओं को भी उनके भेदभाव की नीति के लिए तिरस्कृत करते रहैं। पंडित मौलवी होने से बढ़कर मनुष्य होता हैं, कबीर की यह मान्यता थी। जो आचरण भ्रष्ट हैं वह आस्तिक होते हुए भी नास्तिक से गया गुजरा हैं। हिन्दुओं में कर्मकाण्ड का, जाति–पाँति का खुलकर विरोध किया था – कबीर ने उसी की पुष्टि की। कबीर मानते थे कि मुक्ति जाति विशेष के लिए नहीं सब के लिए हैं। वे पंडितों, जैनियों, बौद्धों सभी को मानव बनने की ही सीख देते थे। तीर्थाटन, यज्ञ, पूजा, शास्त्र गौण हैं, मुख्य हैं भीतरी शुद्धि। लोभ–मोह मत्सर न छोड़ सकने वाला रामजन नहीं। कबीर का सारा साहित्य समता पर बल देता हैं। कबीर के समय की सबसे बड़ी अपेक्षा यही थी। वे कहते हैं कि सब लोग अंहकार में पड़कर सत्य से विमुख हैं। हरि के समरण के अभाव में ये जिस प्रकार उत्पन्न हुए हैं उसी प्रकार नष्ट हो जायेंगे –

हरि विनु भरनि बिमूते गंदा।

जापै जांउ आपणपौ छुड़ावण ते बीधे बहु फंदा।

जोगी कहैं जोग विधि नीकी और न दूजा भाई।

लुचित मुंडित मोनि जटाघर, ए जु कहैं सिधि पाई।

जहाँ का उपज्या तहाँ बिलाना, हरिपद विसर्‌या जब हीं।

पंडित गुनी सूर कवि दाता ए जु कहैं बड़ हमहीं।[39]

एकता के लिए सदा प्रयास हुए हैं, आज भी हो रहैं हैं क्योंकि मनुष्य–मनुष्य को मिलकर रहता हैं। मानव सम्बन्धों का सुख इस धरती का सबसे बड़ा सुख हैं। कबीर ने इस सहज सम्बन्ध को छिन्न–भिन्न होते देखा। इसकी सुरक्षा करके जीवन का मिशन बन गया। कबीर ने जन–जन के मन को छोट–मोटे सांसारिक झगड़ो से हटाकर अध्यात्म की ओर मोड़ा, यही उनकी सफलता

हैं। कबीर ने हिन्दुओं–मुसलमानों को समझाया–सत्य के लिए परम यथार्थ का अनुभव करना होगा, सांसारिक स्वार्थो में समय नष्ट न कर विवेक युक्त विचारधारा की ओर मुड़ना होगा। उन्होंने दोनों वर्गो को यह ज्ञान दिया कि ईश्वर के नाम पर लड़ने में धर्म और अध्यात्म नहीं हैं, अध्यात्म हैं ईश्वर को समर्पित कर उसका सच्चा भक्त बनने में। ईश्वर परस्पर लड़ना नहीं सिखाता, ईश्वर घृणा–हिंसा नहीं सिखाता। ईश्वर प्रेम हैं, सत्यानुभूति हैं, सेवा हैं, समत्व हैं। भक्त का धर्म हैं आत्मशुद्धि, चारित्रिक शुद्धि से और उदात्त जीवन, कबीर का ब्रह्मज्ञान आचरणपरक था। कबीर का ज्ञान मार्ग ह्रदय की पवित्रता से सम्बन्धित था हठयोग से नहीं, वह प्रेम और उदारता के आधार पर खड़ा था शास्त्र पर नहीं। वस्तुतः कबीर को ज्ञानमार्गी न मानकर लोक धर्मी मानना चाहिए उनकी दृष्टि ईश्वर और लोक के समन्वय पर थी। कबीर धर्म सुधारक नहीं थे – उन्होंने धर्म के मूल को पकड़कर सच्चे मानव धर्म को स्थापित करने के प्रयत्न किए,

हम तो एक एक करि जाना।

एकै पवन, एक ही पानी, एक ज्योति संसारा।

एक ही खाक घड़े सब भांडे, एक ही सिरजनहारा।[40]

कबीर का विरोध सगुण राम से नहीं – कबीर मानते थे कि परस्पर प्रेम–सद्भाव के लिए राम, केशव, गोविन्द, सिरजनहार को नहीं छोड़ा जा सकता। प्रेम के लिए ईश्वर को पति, सखा, प्रेमी मानना होगा। कबीर अपना सादृश्य पतित धर्म पालन करने वाली नारी से देते हैं। वे राम के साथ रमण करते हैं – उनसे एक होते हैं। यही एक्य आदर्श हैं जीवन का। भेदभाव से नहीं, प्रेम से विनष्ट हो सकता हैं। व्यावहारिक जीवन आशा, उत्साह, आनन्द, प्रेम से ही संम्भव हैं, शास्त्र ज्ञान से नहीं। आचार्य जीवन में ज्ञान धरा रह जाता हैं। प्रेम ही काम आता हैं। कबीर की वाणी में जो कटुता हैं, जो तीखापन हैं, जो व्यंग्य हैं, जो स्पष्टवादिता हैं वह कबीर की वाणी की सच्चाई का प्रमाण हैं, यह इसका प्रमाण हैं कि कबीर कितने व्यग्र थे जन–जन में सद्भाव, प्रेम, सहिष्णुता के लिए कबीर समर्पित थे। मानवीय अथवा दिव्य गुणों के लिए कबीर का लक्ष्य पंथ चलाना नहीं था, कबीर का लक्ष्य था आध्यात्मिक क्रान्ति। कबीर अभिजात्य और अपेक्षित वर्ग की खाई को समाप्त करना चाहते थे चाहैं वह हिन्दुओं में हो अथवा मुसलमानों में। कबीर 'संस्कृत बुद्धि, संस्कृत ह्रदय और संस्कृत वाणी' के आडम्बर से दूर रहना चाहते थे। वे सहज थे और सहजता में उनकी आस्था थी। कबीर इसी पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं –

पंडित वेद पुरान पढ़े औ, मौला पढ़े कुराना।

कह कबीर वे नरक गए, जिन हरदम राम न जाना।[41]

जन समदृष्टि सीतल सदा, दुनिया नहीं आनै।

कहैं कबीर ता दास सूँ मेरा मन मानै।[42]

शुक्ल जी ने निर्गुणधारा की ज्ञानाश्रयी शाखा में कबीर की गणना की हैं। उनका मत हैं, ''इस शाखा की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं – फुटकर दोहों या पदों के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटांग हैं। ..... भक्ति इस में मग्न करने वाली सरसता भी बहुत कम पाई जाती हैं। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं जो शिक्षित समाज को आकर्षित करता।[43] पर कबीर मस्तिष्क से संस्कृत व्यक्ति की नहीं हृदय से संस्कृत व्यक्ति को ऊँचा मानते थे, कबीर का बल लोक–कल्याण पर था। कबीर लोकरक्षक, लोकरंजन राम का ही गीत गाते तो यथार्थ से कट जाते। कबीर आत्मसुधार के लिए सबको प्रेरित करना चाहते थे – राम भरोसे बैठने के पक्षधर नहीं थे। कबीर आदर्शवादी–मर्यादावादी नहीं, यथार्थवादी थे। कबीर की भक्ति श्रद्धा और पूज्य बुद्धि से वे समाज को क्रान्ति की और नहीं अग्रसर कर सकते थे। 'पूज्य बुद्धि' उन्हैं पण्डितों, ब्राह्मणों के कोरे शास्त्रज्ञान का मखौल उड़ाने से रोकतीः वे मुल्लाओं को आड़े हाथ नहीं ले सकते थे, कबीर तब विवश होते बादशाह की स्तुति के लिए। कबीर मानवता समता के प्रति पूज्य भाव रखते थे किसी ऊँची जाति, ऊँचे विद्वान के प्रति नहीं। कबीर की संवेदना पिछड़े समाज अथवा उपेक्षित वर्ग के प्रति थी। कबीर 'मर्यादा' की नहीं तत्कालीन समाज की समस्याओं को महत्व देते थे। वे समाज के कल्याण और जागरण के लिए व्यग्र थे। वे परिवर्तन में विश्वास करते थे, रूढ़ि में नहीं। अतः मर्यादावादी दृष्टिकोण से कबीर का मूल्यांकन नहीं हो सकता। कबीर के सामाजिक दृष्टिकोण का यथार्थ इस पद में साफ देखा जा सकता हैं –

उदै अस्त की बात कहतु हैं सब का किया विवेका हो।

घाटै – बाटै सब जग दुखिया क्या गिरही वैरागी हो।

शुकदेव अचारण दुख कै कारनि गरभ सौ माया त्यागी हो।

जोगी दुखिया जंगम दुखिया तपसी कौं दुख दूनां हो।

आसा त्रिसनां सबकौ व्यापै कोई महल न सूना हो।

सांच कहौ तो कोई न मानै झूठ कहा नहिं जाई हो।

ब्रह्म बिस्नु महैंसुर दुखिया जिनु यहु राज चलाई हो।

कहैं कबीर सकल जग दुखिया संत खुली मन जीती हो।[44]

कबीर की वाणी 'संस्कृत' नहीं। कबीर की 'संस्कृत बुद्धि' की धारणा विद्या–बुद्धि–सम्पति–बडप्पन पर नहीं आधारित थी। कबीर को महावीर–बुद्ध की भांति 'संस्कृत

वाणी' को छोड़कर जनभाषा को अपनाना पड़ा। कबीर की रचनाएँ रस–अलकांर से युक्त 'साहित्यिक नहीं, वे समाज हित की हैं, वे प्रेरणा के स्रोत हैं, मानव को सम्यक् दृष्टि देने वाली हैं। कबीर साधक थे – अपने हृदय–दर्पण को सतत मांजते थे। अहंकार, गर्व को निर्मूल करने के लिए कबीर से बढ़कर दूसरा कवि नहीं। 'तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' का पूर्व रूप कबीर के पद हैं। सूर के विनय के पद आत्मशुद्धि से ही सम्बन्धित हैं। इस से सन्त कबीर–सूर–तुलसी समान धरातल पर हैं।

मूलतः आध्यात्मिक–नैतिक चेतना के प्रेरित होने के कारण ही कबीर के मन में जिस आदर्श मानव की मूर्ति विराजमान थी वह एक सहज, नैतिक, सात्विक ईश्वर भक्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। उनकी दृष्टि में आदर्श मानव को ईश्वर में विश्वास करने वाला, संसार के आकर्षकों से विरक्त, समस्त भेद–भाव से परे, सत्यनिष्ठ तथा मन, वाणी और कर्म से एक होना चाहिए। मन की विषयोन्मुखता आदर्श मानव के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा हैं। इसलिए उसे मन को नियंत्रित रखना चाहिए–

कबीर मारौ मन कूं टूक – टूक ह्वै जाइ।
विष की क्यारी बोइ करि, लुणट कहा पछितार।[45]

आदर्श मानव को अहंकार रहित, तत्वदर्शी, हंस की तरह नीर–क्षीर विवेकी चंदन की तरह शीतल और दुर्जनों को भी सज्जन बनाने वाला समत्व बुद्धि सम्पन्न होना चाहिए। कबीर दास ने वैष्णवों की बार–बार इसीलिए प्रशंसा की हैं कि वे दयालु अहिंसक और हरि का सुमरन करने वाले थे। कबीर के लिए सदाचार का सर्वाधिक महत्व था। उन्होंने शाक्तों को जो निंदा की हैं, उसका प्रधान कारण यही था कि शाक्त उस समय सर्वाधिक आचारहीन थे। वे साधना के नाम पर ऐसी प्रवृतियों को पोषण कर रहैं थे, जो कबीर की सहज–साधना के प्रतिकूल थी।

कबीर के सम्यक् मूल्यांकन के लिए साहित्य की घिसी–पिटी परिभाषा को अस्वीकार करना होगा। साहित्य वही नहीं जो नौ रस और अलंकार की सीमा में आता हो। साहित्य वही नहीं जो 'लोकरक्षक' का चरित काव्य हो, साहित्य को जन–जन के मनोभावों से जोड़ना होगा। साहित्य वह हैं जो संवेदनायुक्त हो – जिसमें यथार्थ को नकारा न जाय, जिसमें मानव जीवन के तनावों–सघर्षो का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण हो। साहित्य वही हैं जो 'आत्मगौरव' आत्मविश्वास और संघर्ष की शक्ति को विकसित करे। साहित्य 'रागात्मक तत्व' मनुष्य–मनुष्य के बीच प्रेम सम्बन्ध का पोषक हैं। जो ईश्वर से प्रेम करता हैं पर मनुष्य से नहीं वह भक्त नहीं, 'संस्कृति हृदय' नहीं। रागात्मक तत्व कबीर काव्य में भरपूर हैं। सच्चाई तो यह हैं मनुष्य को मनुष्य बनाने के लिए जितनी सामग्री

कबीर–काव्य में हैं उतनी अन्यत्र नहीं। कबीर–वाणी हिन्दू, मुसलमान सबको समान रूप से प्रेरक हैं, यह बात सूर–तुलसी के काव्य में नहीं। इस दृष्टि से कबीर मानवता के अधिक निकट हैं। अभेदभाव कबीर–काव्य का केन्द्र हैं। संसार में जहाँ–जहाँ जिस स्तर पर भेद हैं उसे कबीर–वाणी से मिटाया जा सकता हैं। कबीर मानव मात्र की मूल भूत एकता के पक्षधर हैं वे बधुत्व के कवि हैं।

कबीर दास ने भेद–भाव की समस्त सीमाओं को तोड़कर भक्त के रूप में जिस आदर्श मानव को सामने रखा हैं, वह मानव – व्यक्तित्व के विकास की सम्पूर्ण सम्भावना को समाप्त करके उसे ईश्वरतत्व के स्तर तक पहुँचा देने वाला हैं। नर का नारायणत्व प्राप्त कर लेना ही सच्चा मानवधर्म हैं। कबीरदास ने कहा हैं कि हैं प्रभु। निरन्तर तुम्हारा ध्यान करते हुए मैं तुममें लीन हो गया। अब मेरी अहंता समाप्त हो गई। मैं तुम्हारे नाम पर निछावर जाता हूँ जिसे रहने से मुझे यह स्थिति प्राप्त हुई हैं। अब में जहाँ देखता हूँ वहाँ आप ही दिखाई पड़ते हो।

तू तू करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी तेरे नाउं परि, जित देखो तित तूँ।।[46]

कबीरदास मनुष्य को इसी ऊँचाई पर देखना चाहते थे। मानव आत्म जब विश्वात्मा से अपना तादात्म्य कर लेती हैं तब मनुष्य सच्चे अर्थो में मानव–धर्मा हो जाता हैं। विज्ञान अपने ज्ञान का विस्तार ग्रह–मण्डल या उससे भी परे स्थित लोकों तक कर सकता हैं। दर्शन किसी ऐसे सार्वभौम सिद्धान्त का अन्वेषण कर सकता हैं जो सभी पदार्थो के मूल में स्थित हो किन्तु धर्म अनिवार्यतः मानवता को ही केन्द्र में रखकर चलता हैं। वह मनुष्य का ही उदान्त बनाता हैं। यह धर्म प्रेरित मानवता हमारी तार्किक चेतना को प्रद्दीप्त करती हैं, हमारे विवेक को प्रेरित करती हैं, हमारी प्रेम–भावना को स्फुर्ति देती हैं और हमारे जीवन को बौद्विक मर्यादा प्रदान करती हैं। कबीरदास का यदि कोई समाज दर्शन हैं तो वह मनुष्य के बाह्य जीवन को नैतिक आचरण की मर्यादा में बाँधने वाला, उसके मन का परिष्कार करने वाला और उसकी आत्मा को विश्वात्मा में लय करके उसे सच्चे मानवधर्म की ऊँचाई तक पहुँचाने वाला हैं। कबीर का लक्ष्य व्यक्ति ही हैं। उन्होंने व्यक्ति को ही आध्यात्म – चेतना से मंडित करना चाहा था। यह दूसरी बात हैं कि जिस समाज में व्यक्ति आचरणशील, सहज नैतिक जीवन व्यतीत करने वाले और भेदभाव की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर विश्वात्मा से तादात्म्य करने वाले होंगे वह समाज स्वयं ही एक आदर्श समाज बन जायेगा। इसी अर्थ में कबीर को समाजसुधारक कहा जा सकता हैं। वास्तविकता तो यह हैं कि उन्होंने मनुष्य मात्र में एक ही दिव्य ईश्वरीय ज्योति के दर्शन किये थे और इसी आधार पर मानव – मात्र एकता का प्रतिपादन किया था। वे सच्चे अर्थो में मानवतावादी या मानव धर्मा कहैं जा सकते हैं।

कबीर–काव्य का सबसे बड़ा गुण हैं। उसका श्रेयस होना। कबीर 'रहस्य' और गुह्य भावना के कवि नहीं, वे 'सहज' हैं और सहजता उनकी भक्ति की कसौटी हैं। रहस्यानुभूति, आत्मानुभूति, प्रेमानुभूति एवं नैतिकता के लिए सहजता–उदारता अनिवार्य हैं। कबीर की साखियाँ एकदम सीधी–सुस्पष्ट दो टूक। आध्यात्मिक अन्तदृष्टि से वे भरपूर हैं। वे साक्षी हैं कबीर की सहजअनुभूति की। कबीर को आध्यात्मिक पुनर्जागरण का श्रेय हैं। कबीर ने ईश्वर को, धर्म को, ज्ञान को, भक्ति को जीवन से जोड़ा, भले ही उन्हें 'मर्यादा', पूज्यबुद्धि' और 'संस्कृतवाणी' 'उपेक्षा करनी पड़ी।

(4) आन्तरिक व बाह्य रूढ़िवादिता

कबीर स्वच्छन्द विचारक थे। वे मानवतावादी आस्था के साथ समाज में सुधार लाना चाहते थे। अतः उन्होंने धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में जहाँ प्रगति को रोकने वाली रूढ़िया देखी, वहीं उनका डटकर खण्डन किया तथा बाहरी आडम्बरों को बढ़ावा देनेवाले सभी धर्मो की खुलकर आलोचना की। धर्म के ठेकेदार बनने का दम्भ करने वाले पण्डे–पुजारियों, ढोंगी साधु–फकीरों तथा मुल्आओं को कबीर ने खूब फटकारा। वास्तव में समाज–सुधार और मानव–कल्याण की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने काव्य रचना की और इसे अपना अस्त्र बनाना। कबीर ने हिन्दू–मुसलमानों दोनों के पाखण्डो का खण्डन किया तथा उन्हें सच्चे मानव–धर्म को अपनाने के लिए प्रेरित किया।

अज्ञान जन्य पैदा हुई प्रथाएँ और कुप्रथाएँ कबीर को कुछ न कुछ कहने के लिए विवश कर देती हैं। व्रत, रोजा, तीर्थाटन, यज्ञोपवीत आदि को कबीर भ्रम जन्य मानते हैं।[47] कबीर 'घूंघट प्रथा को भी सम्मान नहीं देते हैं। वे घूंघट प्रथा का तिरस्कार करते हैं। उनकी दृष्टि में मात्र घूघंट तान' लेने से कोई सती नहीं हो सकती। घूघँट स्त्री के आचरण का हृदय हैं। उसके सतीत्व का परिचायक नहीं। इसीलिए वे कहते हैं – रहु ' रहु री बहुरिया घूघँट जिनि काढै, तथा अपनी विचार धारा को यह कहकर कि 'घूँघट काढयाँ सती न कोई।[48] और अधिक प्रखर बना देते हैं। हिन्दुओं के अत्येष्टि–संस्कार की विविध तैयारियों को कबीर फिजूल का मानते हैं। शव तो मिट्टी हैं, उसके लिए विविध उपादान फिजूल हैं। इसलिए कहते हैं कि –

पाँच गज दोवटी– माँगी, चूँन लियों साँनि।
बैसंदर पोषरी हाँडी, चलो लादि पलाँनि।।[49]

मृत्यू के बाद शव के लिए चून के गोले बनाकर उसके ऊपर रखना या उन्हें चौराहैं पर रखने का क्या औचित्य हैं? कबीर इसी तथ्य का संकेत करते हैं। इसी क्रम में पिंड भरने की प्रथा को भी अज्ञान जन्य मानते हैं। उनका कहना हैं कि जीवित बुजुर्गो को तो अन्न देते ही नहीं हैं और उनके मरने के बाद उनके पिंड भरवाते हैं, यह कहाँ का न्याय हैं? इसलिए कहते हैं कि –

जीवित पित्र कूं अन्न न ख्वांवैं

मूवां पाछै प्यंड भरावै।[50]

मुसलमानों की अजां प्रथा को भी कबीर अज्ञान जन्य मानते हैं। अजां की आलोचना करते हुए कबीर कहते हैं कि –

मुला कहाँ पुकारे दूरि, राम रहीम रहयाभरपूरि।

यहु अल्लाह गूगाँ नाहीं, देखैं खलक दुनी मिली मांही।[51]

यही नहीं मुसलमानों को अजां का सही रूप समझाते हुए कबीर उन्हैं कहते हैं –

हरिगुण गाइ बंग मै दीन्हा, काम क्रोध दोई बिसमिल कीन्हां।

कहैं कबीर यह मूलना झूठा, राम रहीम सबनि मैं दीठा।[52]

इससे यह तथ्य प्रमाणित होता हैं कि कबीर ने जिस परिवेश में जन्म लिया था, वह परिवेश सामाजिक विषमताओं तथा नानाविध अन्धविश्वासों से जड़ हो चुका था। इस काल के समाज ने स्वस्थ जीवन के प्रति अपनी महत्ता और आस्था खो दी थी। संत शिरोमणि कबीर ने अपने विवेक के प्रकाश में सामाजिक संस्कारों एवं विश्वासों को आलोकित किया। और उनकी सतही सता तथा व्यर्थता को समाज के समक्ष उजागर करने का प्रयास किया। यदि देखा जाए तो कबीर के समस्त साहित्य का उन्मेष रूग्न सामाजिक मान्यताओं अवधारणाओं, विश्वासों, विसंगतियों और बाह्याडम्बरों की दीवार को तोड़कर होता हैं। यदि ठीक ढ़ग से चितंन किया जाए तो यह तथ्य निकलता हैं कबीर साहित्य स्वस्थ जीवन पद्धति और शुद्ध जीवन दृष्टि का नियामक हैं। जीवन के प्रति इसी स्वस्थता के आगमन के लिए कबीर ने 'मूर्ति–पूजा', 'तीर्थाटन आदि की व्यर्थता प्रतिपादित की। इसका स्पष्ट विश्वास था कि पत्थर पूजने में हरि नहीं मिलता। इन्होंने कहा हैं –

पत्थर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार।[53]

कबीर के ऐसा कहने के बाद उनके इस उपदेश के बाद भी यदि कोई ऐसा कार्य करता हैं तो कबीर की दृष्टि में वह अविवेकी हैं, अज्ञानी हैं। ऐसे अविवेकी पुरूष की क्रिया का पर्दाफाश करने के लिए कबीर को दोहराना पड़ा–

पाथर का ही देहरा, पाथर का ही देव।

पूजन हारा आंधला, लागी खोटी सेव।।[54]

समाज में तीर्थ और व्रत के प्रति बहुत गहरी निष्ठा हैं। यह कबीर से पहले और कबीर के समय में भी इसी रूप में थी, लेकिन कबीर में तीर्थ–व्रत के प्रति कोई आस्था नहीं दिखलाई पड़ती, बल्कि कहीं–कहीं अनास्था का भाव ही दृष्टि–पंथ में आता हैं। इसी अनास्था के कारण कबीर

जीवन–पर्यन्त काशी में रहैं, किन्तु मृत्यु के समय काशी को त्यागकर 'मगहर' में आ बसे और यहीं पर अपने प्राणों का विसर्जन किया। अपने इसी विश्वास का उद्घोष उनके इस शब्दों में ध्वन्ति होता हैं –

मथुरा जावै द्वारका, भावै जावै जगन्नाथ।
साथ संगति हरि भगति बिनु, कछु ना आवै हाथ।।[55]

यहाँ कबीर का यही मानना हैं कि तीर्थो पर घूमने से सुख तो मिल सकता हैं, पर ईश्वर नहीं, तीर्थो की निस्सारता के प्रतिपादन के पीछे कबीर की यही धारणा हैं कि हरि हृद्य में बसता हैं। उसका साक्षात्कार हृद्य के भीतर ही करना चाहिए। शिला पूजने, तीर्थ नहाने और अनेकोनेक कर्मकाण्ड करने से हरि प्राप्ति संभव नहीं। यहाँ कबीर केवल उन रूढ़ियों को तोड़ना चाहते हैं जो धर्म के नाम पर चली रहीं हैं, उन पांखडो को ध्वस्त करना चाहते हैं जो गंगा, यमूना, सरस्वती, गोदावरी आदि नदियों के नाम पर हो रहैं हैं,उन्होंने कहा भी हैं –

कबीर गंगातीर जु धरू करहि पीवहि निरमल नीरू।
बिनु हरि भगति न मुकति होई इह कहि रये कबीर।।[56]

तीर्थ स्थानों की यात्रा, काशी में भरकर मुक्ति प्राप्त करने की धारणा, व्रत और उपवास करके ईश्वर प्राप्त करने की धारणा आदि का विरोध कबीर जीवनपर्यन्त करते रहैं हैं। कबीर के इस विरोध को दर्शाने वाला कबीर का एक पद पंजाब के सिक्खों के धार्मिकग्रन्थ गुरूग्रन्थ साहिब में भी उपलब्ध होता हैं। आप की दृष्टि से पंजाबी (गुरूमुखी लिपि) में लिखे होने के कारण भले ही इसमें कुछ दोष आ गया हो, किन्तु विषय की दृष्टि से 'गुरूग्रन्थ साहिब' में संकलित होने के कारण यह निस्संदेह प्रामाणिक हैं। वहाँ उद्धृत पद देखिये –

अतंरि मैलु जे तीरथ नावै तिसु वैकुण्ठ न जाना।
लोक पतीजे कछु न होवै नाही राम अयाना।।
पूजहू राम एक ही देवा।
साचा नावणु गुरू की सेवा।।
जल कै मजनु जे गति होवै नित नित मैडकु नावहिं।
जैसे मैडकु तैसे उइ नर फिरि फिरि–जोनि आवहि।।
मनहु कठोर मरै बानारसि नरकुल बाचिआ जाई।
हरि का संत मरै हांडवै तै सगली सैन तराई।।[57]

यहाँ साफ शब्दों में कबीर यही कहना चाहते हैं कि अन्दर का मैल तीर्थो के जल से साफ नहीं होता। सच्चा स्नान गुरू की सेवा हैं। बार–बार जल में स्नान करने से मोक्ष नहीं मिलता।

मेढ़क जल में खूब स्नान करता हैं, उसे मोक्ष नहीं मिलता। ठीक इसी प्रकार तीर्थो में स्नान करने वाले व्यक्ति भी बार–बार जन्म लेते हैं, मोक्ष को नहीं प्राप्त होते। इसी प्रकार काशी में मरने से भी स्वर्ग की उपलब्धि नहीं होती।

इस प्रकार कबीर के इस दृष्टिकोण से सही तथ्य निकलता हैं कि विविध मत–मतान्तरों द्वारा प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों और विश्वासों का खण्डन करके सही सामाजिक चिंतन की नींव रखना चाहते थे। उन्होंने न केवल हिन्दुओं को सामाजिक वातावरण दूषित करने से रोका, बल्कि मुसलमानों को भी आड़े हाथों लिया। वे समाज के भटके हुए लोगों को समाज की सच्चाई से परिचित करवाते हैं तथा धर्म की उचित भूमिका का दिग्दर्शन करते प्रतीत होते हैं। कबीर का लोकाचार में विश्वास कम था। वे सामाजिक रूढ़ियों को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखते थे। इसका एक कारण यह भी था कि लोकाचार भिन्न–भिन्न वर्गो में, सम्प्रदायों में पहुंचकर भिन्न–भिन्न रूप धारण कर लेता हैं। यह भिन्नता समाज के ऐक्य के लिए घातक हैं। वे समाज में विगलन और विघटन पैदा करने वाली रूढ़ियों का तिरस्कार करते प्रतीत होत हैं –

पीछै लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगै ते सतगुरू मिल्या, दीपक दीया हाथि।।[58]

कबीर यहाँ परम्परा विरोधी सिद्ध होते हैं, किन्तु एक बात यहाँ ध्यातत्य हैं कि कबीर केवल संकुचित एवं अस्वस्थ परम्पराओं के विरोधी हैं। वे पुरानी और लोकमान्य होने के कारण ही रूढ़ परम्पराओं का आदर करने को तैयार नहीं होते। वे किसी भी दृष्टि से लोक और वेद से आनुपातिक होने में महत्व का अनुभव नहीं करते। इसीलिए वे लोक–धर्म और आध्यात्म की सहज प्रगति के मार्ग में बाधक लोक और वेद की किसी रूढ़ पद्धति के व्यवधान को नहीं मानते।

कबीर के समय तक समाज में और समाज के प्राणियों में कुछ बातें केवल दिखावे के लिए ही रह गई थी। उनके भीतर का सार तत्व छोड़ दिया गया था। समाज के लोग छापे, तिलक, जनेउधारी को पंडित मानते थे। समाज में वही पंडित माना जाता था जिसने अनेक ग्रन्थों को कण्ठाग्र कर लिया हो। वह समय कुसमय अपने पुस्तकीय ज्ञान से लोगों का मुँह बंद करता था। इस प्रकार विद्या अपना मौलिक अर्थ खोकर वाद–विवाद को जन्म देने वाली बन गई थी। कबीर इस वाद–विवाद के विरोधी थे। कबीर उस विद्या को कोई महत्व नहीं देते थे वाद–विवाद में विजय प्राप्त करने के लिए विद्या पढ़ते थे या पोथी रखते थे, कबीर उन्हैं पागल कहते थे। वे इस तथ्य को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं –

विद्या न पँढू वाद नहीं जानूँ।

हरि गुन कथत सुनत वौरानूँ।।[59]

कबीर की दृष्टि में वही विद्या श्रेष्ठ हैं जिससे अन्तस में प्रेम पीड़ा का आविर्भाव होता हैं। उनका मानना था कि पुस्तकें इधर–उधर का ज्ञान देने में समर्थ हैं। किन्तु वे ईश्वर प्रेम को जगाने में असमर्थ हैं। इसलिए पुस्तकीय ज्ञान जीवन की उलझन हैं। अतः इसको त्यागना ही कबीर की दृष्टि में श्रेयस्कर हैं। वे कहते हैं –

कबीर पढ़िवा दूरि करि, आदि पढ़या संसार।

पीड़ न उपजी प्रीति सूँ, तौ क्यूं करि करै पुकार।।[60]

कबीर पुस्तक पाठ के स्थान पर बावन अक्षरों में से 'र' और 'म' की स्थापना करते हैं और कहते हैं –

कबीर पढिवा दूरि करि, पुस्तक देई बहाई।

बावन आषिर सोधि करि, र रै म मै चित लाई।।[61]

यहाँ कबीर की स्पष्ट धारणा हैं कि वास्तविक पाण्डित्य की उपलब्धि पुस्तक पाठ से नहीं हो सकती। पुस्तकीय पांडित्य 'विमुक्ति' देने वाला नहीं हैं। कबीर की दृष्टि में विमुक्तिकारी राम हैं और यह राम एक 'अक्षर' हैं। इसलिए कबीर इस एक अक्षर के पाठ पर बल देते हैं –

पोथी पढ़ि पढ़ि जुग मुवा, पंडित भया न कोई।

एकै आषिर पीव का, पढ़ै सु पंडित होई।।[62]

इसी क्रम में कबीर के युग के समाज में बहु पत्नीत्व की प्रथा थी। परकीया प्रेम साहित्यिक सत्य होने के साथ–साथ उस समय सामाजिक सत्य भी था। कबीर ने बहु नारी प्रेम को समाज के लिए घातक माना हैं। इसे निन्दनीय ही कहा हैं। कबीर पर गोरखनाथ का प्रभाव स्पष्ट हैं। इसलिए वे नारी को योग मार्ग में बाधक मानते हैं –

''नारि नसाबै तीन सुख, जो नर पासै होय।

भगति मुकति निजज्ञान मैं, पैस न सकई कोय।''[63]

कबीर नारी भोग को नरक का द्वार मानते हैं और कहते हैं –

कांमणि काली नागणीं तीन्यूँ लोक मंझारी।

राम सनेही उबरे, विषये खाई झारी।।[64]

कबीर नारी भोग को विनाश का द्वार कहते हैं। वे मानते हैं कि नारी भोग वस्तुतः भोग करते समय जितना मधुर हैं, उसका परिणाम उतना ही विष तुल्य हैं। जीवित अवस्था में नारी भोग जहाँ निंदा का कारण बनता हैं, वहाँ अन्ततोगत्वा विनाश का कारण भी बनता हैं –

पर नारी पर सुन्दरी, बिरला बंचै कोय,

खांता मीठी, षांडसी, अंत कालि विष होय।[65]

मनुष्य पर नारी के साथ–साथ कंचन को अमंगलकारी कहते हैं। वे नारी का सम्बन्ध काम से जोड़ते हैं तो कंचन का लोभ से। साधना में काम और लोभ दोनों महाशत्रु हैं जो भक्त को राम की ओर, ईश्वर की ओर जाने से रोकते हैं। इसीलिए कबीर की दृष्टि में कनक और कामिनी दोनो भक्त के लिए विदूष्य हैं –

पासि बिनूंठा कपड़ा, कदे सुरांग न होइ

कबीर त्याग्या ग्यांन करि, कनक कामिनी दोइ।।[66]

कबीर वेशभूषा को कोई महत्व नहीं देते। इनकी दृष्टि में आचरण की श्रेष्ठता का महत्व हैं। आचरण की श्रेष्ठता वेश–भूषा में नहीं। इसीलिए वे कहते हैं –

उज्जल देखि न थी जिए, बग्ज्यूँ मांडे ध्यान।

धोरि बैठि चपेटसि, भूले बडै ग्यान।।[67]

दूसरी तरफ कुछ लोग मात्र दिखावे के लिए या फैशन के लिए वेश बनाए फिरते हैं। कबीर की दृष्टि में ये वेश उनकी शोभा को बढ़ाने वाले नहीं, वे आन्तरिक शोभा को महत्व देते हैं। उसकी दृष्टि से जो सिर अन्तर से स्रष्टा को धारण करता हैं अर्थात् जो अन्तर्भाव में उस ईश्वर के प्रति नत होता हैं, वही फिर सुन्दर हैं, पगड़ी धारण करने वाला या जटा–जूट मुक्त सिर उनकी दृष्टि में शोभनीय नहीं हैं, बल्कि ये उपादान (पगड़ी और जटा – जूट) सिर पर बोझ बढ़ाने वाले हैं –

हमारे कौन सहैं सिरि भारा, सिर की शोभा सिरजन द्वारा।

टेढ़ी पाग, बड़ जूरा, जरि भए भसम कौ कुरा।।

कहैं कबीर राम रामा, हरि के रंग मूंड मुंडाया।।[68]

कबीर वस्त्र त्याग, छापा, तिलक, मुंडन आदि बाह्याडम्बरों से मानव आत्मा को बचाना चाहते हैं, आडम्बर मुक्ति मार्ग की ओर ले जाने वाले नहीं हैं। इसलिए वे मानव को सचेत करते हैं और कहते हैं –

''नगन फिरत जो पाई अै जोग।

बन का मिरग मुकति सभु होगु।।

किआ नागे किआ बाधे चाम।

जब नहीं चीनषि आतमराम।।

मूंड मुंडाए जो सिधि पाई।

मुकति भेड़ न गईया काई।।

बिन्दु राखि जो तरीऐ भाई।

खुसरै किउन परम गति पाई।।

कह कबीर सुनहु नर भाई।

राम नाम बिनु किन गति पाई।।''[69]

कबीर के धार्मिक विश्वासों पर टिप्पणी करते हुए डॉ. धर्मपाल मैणी लिखते हैं – कबीर ने तत्कालीन समाज के धार्मिक लोगों में पोथीधर पाण्डे, कुरान पाठी, पण्डित, माला फेरने वाला पंडित, तिलकधारी ब्राह्मण, वेदपाठी विद्वान, राख से सनी देह वाले योगी, गेरूए वस्त्र धारण करने वाले सन्यासी, नंगे – धंड़गे साधु, धोखेबाज तांत्रिक, कपटी पुजारी, बांग देने वाल मुल्ला, कुरान की आपतें पढ़ने वाले मौलवी, मांस खाने वाले काजी, हज्ज से वापस आकर पाप कमाने वाले हाजियों को देखा था। उनके ज्ञान चक्षुओं ने समाज की हकीकत को अच्छी तरह से जान लिया था। इसलिए निडर होकर कबीर ने आत्मा की आवाज को सत्य की कसौटी पर कसकर समाज के इन समस्त धर्म के ठेकेदारों को नंगा किया।[70] कबीर ने पाहन–पूजा को व्यर्थ माना। पत्थर की मूर्ति प्रतीकात्मक थी, साधन थी, साध्य तो कुछ और ही था, लेकिन कबीर के समय तक 'शालिग्राम' 'नर्वदेश्वर' पत्थर के प्रतीकात्मक साधन न रहकर साध्य बन गए। इसलिए कबीर इन्हैं थोथा मानते हैं। कबीर ने इनके खोखलेपन को देख लिया। फलतः वे नहीं चाहते कि लोग इस ठकोसले के धोखे में आएँ। इसीलिए चीख पड़ते हैं –

पाहन कूँ का पूजिए, जे जनम न देई जाब।

आंधा नर आसा मुषी, यों ही खोव आब।।[71]

पत्थर पूजे हरि मिलै तो मैं पूजूँ पहार।।[72]

ऐसा नहीं हैं कि कबीर ने केवल हिन्दुओं की थोथी पूजा पद्धति को ललकारा हैं, बल्कि मुसलामानों की खोखलेपन से आपूरित बांग, निमाज को भी फटकारा हैं। उनके लिए समाज के दोनों वर्ग एक से हैं। उन्हैं जहाँ भी पोलापन नजर आता हैं, वही पर अपनी वाणी रूपी लाठी की ठोकर मारने से वे चूकते नहीं। उनके मुसलमानों पर किए दो व्यंग्य देखिए –

"कंकड़ पत्थर जौड़ि के, मस्जिद लई बनाय।

ता पर मुल्ला बांग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाया।"[73]

तथा

यह सब झूठी बंदगी विरथा पंच निवाज।

सांचै मारे झूठी पढ़ी काजी करै अकाज।।[74]

कबीर यहाँ आडम्बरहीन धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था के हामी हैं। इसीलिए उन्होंने दोनों सम्प्रदायों के लोगों को फटकारा हैं। उनकी दृष्टि में पंच वक्ता नमाज और देवालय में मूर्ति–पूजा का कोई महत्व नहीं। वे मानते हैं कि ईश्वर मानव हृदय में हैं। मन्दिर और मस्जिद उस व्यापक और स्वतंत्र सत्य का आवास नहीं हो सकते। परमात्मा न वेद में हैं, न कुरान मे, न माला में, न तसबीह में। वह तो प्रत्येक जीव में विद्यमान हैं। बस विवेक के नेत्रों से देखने भर की आवश्यकता हैं। विवेक से देखने वाला उस महतं अस्तित्व से परिचित हो जाता हैं। कबीर उन माला फेरने वालों को भी ललकारते हैं जो हाथों में माला लेकर उसे घुमाते रहते हैं और मन में कदाचार की बांते सोचते हैं। कबीर ऐसे लोगों को फटकारते हुए कहते हैं –

माला पहिरै मन मुखी, तबै कुछ ना होय।

मन माला को फेरता, जुग उजियारा कोय।।[75]

माला फेरत जुग गया, फिरा न मनका फेर।

कर का मनका डारि दे, मनका मनका फेर।।[76]

कर सेती माल्या जपै, हिरदै बहैं उडूल।

पग तो पाला मैं गिल्या, भावना लागी मूल।।[77]

एक अन्य उदाहरण और देखिए –

माला तो कर मैं फिरै जीभ फिरै मुख मांही।

मनवा तो चहुँ दिसि फिरै यह तो सुमरिन नांहि।।[78]

अन्दर की आपराधिक प्रवृति वाले मात्र भेष से साधु बने लोगों को कबीर साधु नहीं मानते वे तो निरे असाधु हैं। कबीर का सुधारक मन ऐसे लोगों पर कटाक्ष करते हुए कहता हैं –

कबीर भेष अतीत का, करतूति करैं अपराध।

बाहिए दीसै साथ गति मांहैं महा असाध।।[79]

कबीर छद्म की निदा करते हैं। पाखण्ड और मिथ्याचार कबीर को रूचिकर नहीं, इसीलिए मात्र झोली, पत्र विभूति, बटुआ, वेणु आदि को धारण कर लेने से कोई योगी नहीं हो सकता। केवल

वेशभूषा के प्रति सतर्कता और आचरण की साधना–हीनता को कबीर बर्दास्त नहीं कर पाते। फलतः कूक उठते हैं –

सो जोगी जाकै मन में मुद्रा, राति दिवस न करई निद्रा।
मन में आसण मन में रहणां, मन का जप, तप तन सूँ कहना।
मन वे वचन मन मैं सींगी, अनहद चैन बजावै रंभी।
पंच परजारि भसमकरि भूका, कह कबीर को लहसै लंका।[80]

इसी क्रम में माला महनना या मूँड मुंडवाना भी साधु के लक्षण नहीं, न ही ये क्रियाएँ साधक को ईश्वर से मिलवाती हैं। इसीलिए कहते हैं 'मुण्ड मुडाए हरि मिले तो भेड़ न बैकुण्ठ जाय' या फिर 'माला पहिरै हरि मिलै तो गले रहट के देख' आदि कहकर इन पर प्रहार करते हैं। इससे अधिक तीखे होकर कबीर कहते हैं कि –

माला पहरयाँ कुछ नहीं, रूल्य मूण इहि भारी।
बाहरि ढ़ोल्या हीगंलू, भीतरि भरी भँगारि।।[81]
कैसो कहा बिगाडिया, जै मूँडे सौ बार।
मन को कहा न मूँडिये, जामै विषै विकार।।[82]

हिन्दू समाज में जाति भेद का जितना विद्रूप स्वरूप हैं, उतना किसी दूसरे समाज में नहीं। इस जातिवाद ने न केवल देश की शक्ति को क्षीण किया, अपितु निर्बलता और निराशा के बीज भी हिन्दू समाज में बोए। गृह–कलह, सामाजिक दुर्दशा और भेदभाव जातिवाद का परिणाम हैं। इस जातिवाद ने ही विदेशी आक्रान्ताओं के हौसले बुलन्द किए और इसीलिए वे हिन्दुस्तान में अपने पैर जमा सके। इस वर्ण–व्यवस्था को महत्व देने वाले ब्राह्मणवाद को चुनौति देने के लिए कबीर का मार्ग प्रशष्त था। फलतः कबीर ने अपने साहित्य में ब्राह्मणत्व का गर्व करने वाले ब्राह्मणों को खुली चुनौती दी तथा उन्हैं खरी – खोटी सुनाने में भी नहीं हिचकिचाए। उन्होंने कहा हैं –

जो ब्राह्मण ब्राह्मणी जाया।
तो ज्ञान बाट काहैं नहीं आया।।[83]

कबीर ब्राह्मण और शूद्र के अभेद को सिद्ध करते हैं। आचरणहीन ब्राह्मणों को वे ब्राह्मण नहीं मानते और तर्क करते हुए कहते हैं कि –

तुम कत ब्राह्मण हम कत शूद्र,
हम कत लोहू तुम दूध।

कहु कबीर जो ब्रह्म विचारै।

सो ब्राह्मण कहियत हैं हमारे।।[84]

कबीर वर्णगत भेद स्वीकार नहीं करते। वे मानते हैं कि ये भेद मानव ने निर्मित किए हैं, ईश्वर ने नहीं। उसकी दृष्टि में चोरी–जनेउ, सुन्नत के भेद कृत्रिम हैं। मनुष्य कृत होने के कारण हिन्दू और मुसलमान का भेद भी कृत्रिम हैं मौलिक नहीं, इसीलिए कबीर इस अवास्तविक और अनैसगिर्क भेद को मान्यता नहीं देते।[85] कबीर की दृष्टि में उच्चकुल का कोई महत्व नहीं। हाँ उच्च कर्म का महत्व वे मानते हैं। जो व्यक्ति उच्च कुल में जन्म लेकर अधर्म के कर्म करता हैं, कबीर उससे घृणा करते हैं। वे उदाहरण देकर अपनी बात की पुष्टि भी करते हैं। कि स्वर्ण कलश से भरी होने पर भी साधु जिस प्रकार सुरा की प्रशंसा नहीं करते उसी प्रकार नीच कर्म वाला ब्राह्मण भी प्रशंसा के योग्य नहीं कहा जा सकता। वे कहते हैं कि –

ऊँचे कुल का जनमियाँ, जो करणी ऊँची न होई।

सौवन कलश सुरा भरया, साधु निंदा सोई।।[86]

उन्होंने तत्वतः ब्राह्मण और शूद्र में कोई भेद नहीं माना। वे तो कहते हैं कि ब्राह्मण और शूद्र दोनों ही ईश्वर की एक ज्योति से उत्पन्न हुए हैं। दोनों की उत्पति का कारण एक बूँद हैं। मल, मूत्र, चर्म, गुदा सब समान हैं, फिर भेद क्यों? वे कहते हैं –

एक बूँद एक मल मूतर, एक चाम एक गूदा।

एक ज्योति थै सब जग उत्पनां को ब्राह्मण को शूदा।।[87]

जो व्यक्ति अपनी जाति के अभिमान में रहते हैं, कर्म उच्च करते नहीं, मात्र दिखावा करते हैं, कबीर उन्हैं कोई महत्व नहीं देते। कबीर जन्मजात उच्चता के इस तथ्य को नहीं मानते, इसीलिए जन्मजात उच्चता में विश्वास करने वालों से कबीर पूछते हैं –

जो तू करता बरन–बिचारा, जनमत तीनि दधु अनुकारा।

जनमत सूद्र मूये पुनि सुआ, क्रितिम जने उछाति जग–मुआ।।

जो तु ब्राह्मण ब्राह्मणी जाये, अवर राह ते काहैं न आए।

जो तू तुरक तुरकनी जाये, पेटहिं काहैं न सुनति–कराये।।

कामरी पियरी दुहतु गाई, ताकर दूध देहु विलगाई।।[88]

कबीर एक तरफ जातीय विभेदता को दूर करते हैं, तो दूसरी तरफ सात्विक आचार – प्रवणता का प्रचार करते हैं। उनकी दृष्टि में सामाजिक एकता को ध्वस्त करने वाली वस्तु

मिथ्याचरण या छल–कपट हैं। उनकी दृष्टि में जाति, धर्म, नस्ल, रंग, भेद के आधार पर मानव–मानव में अन्तर करना निरर्थक हैं। वे उस वर्ण–व्यवस्था के जो जातीय व्यवस्था में परिवर्तित हो चुकी हैं, ढकोसला मानते हैं और उसके कट्टर विरोधी हैं क्योकि इससे मनुष्य में भेद उत्पन्न होता हैं, सामाजिक असमानता बढ़ती हैं और यह सामाजिक असमानता देश व समाज के लिए सबसे बड़ा खतरा हैं, यह तथ्य कबीर अनुभव कर चुके थे, इसके भुक्त भोगी थे। इसलिए धार्मिक रूढ़ियों, बाह्याचारों, जाति–पाँति गत भेद–भाव का खण्डन वे सामाजिक स्तर पर करते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों को वे बड़े क्षोभ से ललकार कर सचेत करते हैं।

♦♦♦♦

सन्दर्भ सूची

1. एग्रीयन सिस्टम ऑफ मुस्लिम इण्डिया, पृ. 105 ले. डब्लू. एच. मोरलेंड
2. इकानामिक हिस्ट्री ऑफ देल्ही सल्तन – इरफान हबीब, पृ. 209
3. मिडिएवल इण्डियन कल्चर – डॉ. आशीर्वादीलाल, पृ. 1
4. मध्यकालीन भारत का इतिहास – अवध बिहारी पाण्डेय – 8
5. अरबरूनीज : इण्डिया भाग 1, पृ. 19–20
6. रेहला (भूमिका) पृ. 34–35
7. कास्ट एण्ड क्लासेज इन इण्डिया, पृ. 45
8. कास्ट एण्ड क्लासेज इन इण्डिया, पृ. 98
9. ब्राह्मण, थिइट्स एण्ड मुस्लिम इन इण्डिया, जान कम्बबेल ओमन, द्वितीय संस्करण पृ. 52
10. वरीष्ठ श्लोक 43/43, बीस स्मृतियाँ (प्रथम भाग) पृ. 250
11. शुद्रांश्य पाद्यौ सृष्ट्स तोषान्वैवानुपूर्वशः। द्वारीह स्मृति बीस स्म. पू. पृ. 295
12. शूद्राणां द्विजशुश्रूषा परौ धर्मः प्रकीर्तित। पराशर स्मृ वदी, पृ. 112
13. धारणां जीर्ण वस्त्र त्रस्य विप्रयौथ्दिष्ट भोजनम्, हारी. स्मृ. बीस, स्म. पू. पृ. 300
14. मतुस्मृति : 43/8/32, हारी स्म., बीस, स्म. पू. पृ. 116
15. वश्यास्याप्यन्न मवान्नं शुद्रस्य रूधिर स्मृत, 8/13, पृ. 281
16. ब्राह्यणिज्य, थिइज्मृस एण्ड मुस्लिम ऑफ इण्डिया, पृ. 50
17. हिस्ट्री ऑफ औरगंजेब, पृ. 295–96, भारतीय मध्ययुग का इतिहास पृ. 511 पर उद्धृत।
18. ग्लिम्प्सेस ऑफ मिडिएवल इण्डियन कल्चर, पृ. 120
19. आक्सफोर्ड स्टुडेक्ट्स हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 122
20. नाथ समुदाय तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी – 143
21. मन्त्रयान, ब्रज्रयान चौरासी सिद्ध – गंगा पुरातत्वांक, पृ. 221
22. युग पुरूष कबीर – डॉ. रामलाल वर्मा एवं रामचन्द्र वर्मा, पृ. 61
23. आक्सफोर्ड स्टूडेड्स ऑफ इण्डिया, पृ. 104
24. मध्यकालीन भारत का इतिहास – अवधि बिहारी पाण्डेय – 38 – 39
25. कास्ट एण्ड क्लासेज इन इण्डिया, पृ. 68
26. मिडिएक्ल इण्डियन क्लचर पृ. 37
27. भारतीय मध्ययुग का इतिहास, 37

28. मिडिएवल इण्डियन कलचर, 36
29. कबीर ग्रन्थावली – डॉ. पारसनाथ तिवारी, पद 90 पृ. 53
30. कबीर ग्रन्थावली – डॉ. पारसनाथ तिवारी, पृ. 61, पद 105
31. कबीर ग्रन्थावली – डॉ. पारसनाथ तिवारी, पद 192, पृ. 112
32. कबीर ग्रन्थावली – डॉ. पारसनाथ तिवारी साखी – 17 पृ. 78
33. कबीर ग्रन्थावली – माता प्रसाद गुप्त पृ. 178, 264
34. कबीर ग्रन्थावली – माता प्रसाद गुप्त – 194, 314
35. वही, पृ. 207, 356
36. वही, पृ. 107, 60
37. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास – पृ. 49
38. कबीर ग्रन्थावली – डॉ. माताप्रसाद गुप्त – राग आसावरी, पद – 50, पृ. 298
39. कबीर ग्रन्थावली डॉ. माताप्रसाद गुप्त – पद – 132, पृ. 222
40. संत सुधासार (कबीर) एण्ड एक, पृ. 66
41. कबीर वचनावली – पं. अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध – 28
42. कबीर ग्रन्थावली श्याम सुन्दर दास – पृ. 206
43. हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य शुक्ल, पृ. 52
44. कबीर ग्रन्थावली – डॉ. पारसनाथ तिवारी, पद – 90, पृ. 53
45. कबीर ग्रन्थावली – डॉ. पारसनाथ तिवारी सावी – 5, पृ. 49
46. कबीर ग्रन्थावली – डॉ. पारसनाथ तिवारी – सावी – 6 पृ. 149
47. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – पृ. 187, 264
48. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – पृ. 172, 217
49. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास, पृ. 194, 314
50. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास, पृ. 207, 356
51. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास, पृ. 107, 60
52. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास, 107, 90
53. कबीर – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी – 44
54. सन्त सुधा सार : कबीर – पृ. 72
55. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – 49

56. गुरू ग्रन्थ साहिब – सलोक कबीर – पृ. 1367

57. गुरू ग्रन्थ साहिब – आसा कबीर, पृ. 474

58. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास, पृ. 2.11

59. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास, 135–147

60. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास, 38.3

61. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास, 38.2

62. श्याम सुन्दर दास – कबीर ग्रन्थावली, 39.3

63. श्याम सुन्दरदास – कबीर ग्रन्थावली, 40.10

64. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास, 391

65. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास, 9.4

66. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास, 39.6

67. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास, 60.4

68. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास, 49.2

69. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास, 288–294

70. गुरू ग्रन्थ साहिब – गडड़ी कबीर जी, पृ. 324

71. कबीर के धार्मिक विश्वास – डॉ. धर्मपाल मैसी – 115

72. कबीर साहब : निर्देशक गंगाशरण शास्त्री, डॉ. सुखदेव सिंह, सम्पादक, विवेकदास पर उद्धत, कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र वाराणसीद प्रथम संस्करण, सि. 1975 पृ. 192

73. वही – पृ. 192

74. वही – पृ. 1978

75. वही – पृ. 1978

76. वही – पृ. 1978

77. वही – पृ. 192

78. वही – पृ. 192

79. वही – पृ. 192

80. श्याम सुन्दर दास – कबीर ग्रन्थावली – 49

81. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – 158, 206

82. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – 45.7

83. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – 44.12

84. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – 282–61

85. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – 282–61

86. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – 106.57 तथा 107.59

87. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – 48.7

88. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – 57

तृतीय अध्याय

हिन्दी साहित्य में कबीर का हिन्दू–मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप

(1) हिन्दू मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप

(2) कबीर की दार्शनिक पृष्ठभूमि

(3) कबीर और मानवता

(4) कबीर के काव्य में मानव मूल्यों की तलाश

(5) कबीर की ब्रह्म सम्बन्धि अवधारणा

(6) वर्तमान सन्दर्भ में कबीर की प्रासंगिकता

तृतीय अध्याय

कबीर साहित्य में हिन्दू–मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप

किसी भी साहित्यकार की विचारधारा का उदय निरालम्ब और निराक्षित नहीं होता। उसकी विचारधारा पर प्रभाव डालने वाले, उसे प्रेरित करने वाले कई सत्व होते है। तत्कालीन समाज एवं वातावरण, तत्कालीन वैयकितक परिस्थितियाँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उस पर प्रभाव अवश्य ही डालती है। कोई भी कवि अथवा साहित्यकार इनसे विमुख होकर साहित्य रचना नहीं कर सकता। कबीर जैसे क्रान्तिकारी विचारक, प्रबद्ध कवि का तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक स्थितियों से प्रभावित होना स्वाभाविक है। सामान्यतः कबीर समाज सुधारक नहीं थे। समाज रचना के लिए उन्होंने कोई सुधारवादी आन्दोलन नहीं चलाया। कबीर की चेतना मूलतः आध्यात्मवादी है। वे कर्म से ंसत थे और सामाजिक वैषम्य से क्षुब्ध थे इसलिए उनकी वाणी में समाज के विविध चित्र है।

कबीर कालीन समाज की दशा अत्यन्त सोचनीय थी। सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था, जातिगत अत्याचार–आचार–विचार, वंशगत ऐश्वर्यमद एवं ऊंच–नीच की भावना पर आधारित थी। कबीर यह देखकर अत्यन्त क्षुब्ध थे कि धर्म के नाम पर पूरा समाज पाखण्ड और बाह्याचार से ग्रस्त थे। योगी योग में ध्यान लगाकर उन्मुक्त थे, पण्डितों को पुराण का अंहकार था, तपस्वी तम के अहंकार में डूबे थे, मुल्ला को कुरान पढ़ने का शौक था और काजी को न्याय करने का गर्व था। वस्तुतः सभी मोंह ग्रस्त थे, सन्मार्ग से भटक गये थे। सारा समाज मिथ्या प्रपंच में अनुरक्त था। इस प्रकार सामाजिक वैषम्य का कबीर ने घोर विरोध किया। कबीर ने जिस समाज को देखा वह अहंकार, अज्ञान, आत्मप्रदर्शन, अंधश्रद्धा पाखण्ड, धूर्तता आदि में आकण्ठ मग्न था। सारा वातावरण दम घोटूं था, माननीय चेतना का जीवन्त पक्ष लुप्त हो चुका था।

अतः कबीर ने इस जर्जर व्यवस्था पर निर्ममतापूर्वक प्रहार करते हुए मानवीय मूल्यों पर खरी उतरने वाली सर्वकालिक तथा सार्वभौमिक शिक्षा दी। उन्होंने इस जड़ता को नकारते हुए आडम्बरहीन समाज रचना का प्रयास किया। उनमें जो खण्डनात्मक वृति मिलती है, उसके लिए तत्कालीन परिस्थितियाँ ही उतरदायी है। उन्हें लगा कि कथनी और करनी में यह वैषम्य समाज को रसातल लिए जाता है।

कबीर के समय एक ओर साधु–सन्यासियों की मण्डली धर्म के नाम पर पाखण्ड और मिथ्याचार को बढ़ावा दे रही थी। इस प्रकार के मिथ्याचार से जनता प्रभावित हो रही थी, दूसरी ओर सारा समाज वर्णव्यवस्था और जातिगत श्रेष्ठता–हीनता ही जकड़बन्दी का शिकार हो रहा था। संत कवियों का युग मूलतः सामाजिक वैषम्य, वर्णगत विभेद, मिथ्याचार बहुलता एवं साम्प्रदायिक मनोमालिन्य प्रधान था। हिन्दू धर्म में वर्णाश्रिम के जो नियम समाज में शांति, मर्यादा और व्यवस्था के स्थापनार्थ निर्मित थे, वे ही वैषम्य और क्ररता के विधायक बन गये। ऐसी विस्फोटक स्थिति में इस अन्यायमूलक व्यवस्था में आमूल परिर्वतन लाने की आकांक्षा रखने वाली वे सामाजिक शक्तियाँ भी जागृत हो रही थी, जो वर्णाश्रम की दीवारों को ध्वस्त करके दलित मानव समुदाय को सामाजिक वैषम्य की कारा से मुक्त करना चाहती थी। तत्कालीन धर्मान्धता और वर्ण वैषम्य के निर्मूलन एवं साम्प्रदायिक सौहार्द्रता और सामाजिक साक्य के अभिनव दृष्टिकोण की प्रतिस्थापना का सशक्त आन्दोलन का बीड़ा संत कबीर ने उठाया। संत कबीर के काव्य में सामाजिक वैषम्यता की घोर प्रतिक्रिया मिलती है।

(1) हिन्दू मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप

संत कबीर का प्रेम–तत्व सूफियों के संसर्ग का फल है, परन्तु उसमें भी उन्होंनं भारतीयता का पुट दे दिया है। इस प्रकार निर्गुणवाद और सगुणवाद की एकेश्वरवाद से बाहरी समता रखनेवाली बातों के समिश्रण और उसने योग से कबीर की भक्ति का निर्माण हुआ। कबीर का विश्वास है कि भक्ति से मुक्ति हो जाती है –

'कहै कबीर संसार नाहीं भगति भुगति गति चाह रे।'[1]

भक्ति तो निष्काम होनी चाहिए। परमात्मा का प्रेम अपरवार्य की पूर्ति का साधन नहीं है। मनुष्य को यह न सोचना चाहिए कि उसमें मुझे कोई फल मिलेगा। व्यक्ति फल की कामना हो गयी तो वह भक्ति, भक्ति न रह गयी और न उससे सत्य की प्राप्ति ही हो सकती है –

''जब लग है बैंकुठ की आसा। तब लग हरि चरन निवासा।[2]

ब्रह्म तो लौकिक वासनाओं से परे है। व्यक्तिगत उच्चतम साधना से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है, वह स्वयं भक्ति के लिए विशेष चिंतित नहीं रहता क्योंकि भक्त भी ब्रह्म ही है। वह किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता, उसे अपने ब्रह्ममत्व की अनुभूति भरकर लेनी पड़ती है। इसीलिए ब्रह्म को अवतार धारण करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। जो कबीर मनुष्य से

ऐच्छिक अंश छुड़ाकर उसे ब्रह्मत्व तक पहुंचाना चाहते है, उनकी ब्रह्म में लौकिक भावनाओं का समावेश करके उसका अधःपात न करके की व्यग्रता स्वाभाविक ही है –

ना जसरथ धरि औतार आवा, ना लंका का राव सतावा।
देवे कूष न औतरि आवा, ना जसवै लगोद खिलावा।।
ना वेग्वालन के संग फिरिया, गोबर धन ने कर वरया।
बावन होय नहीं बल्कि छलिया, घरनी बेद ले न उधरिया।।
गंडक सालिकराम न कोला, मच कछ है जलहिन डोला।
ब्रद्री वेस्य ध्यान नहिं लाखा, परसराम हवै खत्री न संतावा।।[3]

प्रतिमापूजन के वे घोर विरोधी थे। जिस परमात्मा का कोई आकार नहीं, देशकाल का जिसके लिए कोई आधार आवश्यक नहीं, उसकी मूर्ति कैसी? जगह–जगह पर उन्होंने मूर्तिपूजा के प्रति अपनी अरूचि प्रदर्शित की है –

हम भी पाहनू पूजते, होते बन के रोझ।
सतगुरू की किरिपा भई, डारया सिर थे बोझ।।
सेवें सालिगराम कूं मन की भ्रांति न जाइ।
सीतलता सुपि नै नहीं, दिन – दिन अधकी लाई।।[4]

जिसका आकार नहीं उसकी मूर्ति का सहारा लेकर उसकी प्राप्ति का प्रयत्न वैसा ही है, जैसे झूठ के सहारे सच तक पहुँचने का प्रयत्न। असत्य से मन की भ्रान्ति बढेगी ही, घट नहीं सकती, और उससे जिज्ञासा की तृप्ति होना तो असंभव ही है। मूर्तिपूजा में भगवान की मूर्ति को जो भोग लगाने की प्रथा है, उसकी वे इस तरह हंसी उड़ाते है –

लाडू लावर लापसी पूजा चढ़े अपार।
मूर्ति पूजा पुजारी ले चला मूरति के मुख छार।।[5]

संत कबीर अवतारवाद और मूर्तिपूजा के विरोधी थे, तथापि हिन्दूमत की कई बातें वे पूर्णतया मानते है। हिन्दुओं का जन्म–मरण सम्बन्धी सिद्धान्त वे मानते है। मुसलमानों की तरह वे एक ही जन्म नहीं मानते, जिसके बाद मरने पर प्राणी कब्र में पड़ा–पड़ा कयामत तक सड़ा करता है जब तक कि प्राणी पुनरूज्जीवित होकर खुदाबदं करीम के समाने अपने–अपने कर्मो के अनुसार अनन्त काल तक दोजख की आग में जलने अथवा विहिश्त में हूरो और गिलमों का सुध भोगने के लिए पेश किये जायें। एक स्थान उब रहूंगा किस प्रकार कबीर ने इसी विश्वास की ओर संकेत किया है। परन्तु यह उन्होंने साधारण बोलचाल के ढंग पर कहा है, सिद्धान्त रूप में नहीं ये बातें

कुछ उसी प्रकार कही गई है जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के घूमने के कारण दिन–रात का होना मानने पर भी साधारण बोलचाल में यह कहना कि सूर्य उगता है। सिद्धान्त रूप से वे अनेक जन्म मानते है। कबीर ने यह तो कहा है कि सृष्टि की रचना कैसे ओर किस क्रम में हुई है, कौन तत्व पहले हुआ और कौन पीछे। इस विषय में वे शंका मात्र उठाकर रह गए है, उनका समाधान उन्होंने नहीं किया –

प्रथमें गगन कि पुहुमि प्रथमे प्रभू, प्रथमें पवन कि पाणी।
प्रथमें चंद की सूर प्रथमें प्रभू, प्रथमें कौन विनांणी।।
प्रथमें प्राण कि प्यंड प्रथमें प्रभू, प्रथमें रकत की तेंत।
प्रथमें पुरिष कि नारि प्रथमें प्रभू, प्रथमें बीज की खेंत।।
प्रथमें दिवस कि रणि प्रथमें प्रभू, प्रथमें पाप कि पुण्य।
कहे कबीर जहाँ बसहु निरंजन, तहाँ कुछ आदि की सुन्य।।[6]

इस प्रकार संत कबीर की रचना में वदांत समेत अद्वैतादि की एक पूरी–पूरी पद्धति के दर्शन होते है, जिसे शुद्धद्वैत नहीं माना जा सकता। शुद्धद्वैत में माया ब्रह्म की ही शक्ति मानी जाती है, परन्तु संत कबीर ने माया को मिथ्या या भ्रम मात्र माना है जिसका कारण अज्ञान है। यह शंकर का अद्वैत है, जिसमें आत्मा और परमात्मा परमार्थतः एक माने जाते हैं, परन्तु बीच में अज्ञान के आ पड़ने से आत्मा अपनी पारमार्थिकता को भूल जाती है। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अज्ञानकृत भेद मिट जाता है और आत्मा को अपनी परमात्मिकता की अनुभूति हो जाती है। यही बात संत कबीर में भी देखी गयी है।

उपासना के लिए उपास्य में कुछ गुणों का आरोप आवश्यक होता है, बिना गुणों के प्रेम का आलंबन हो ही नहीं सकता। उपनिषदों तक में निराकार निर्गुण ब्रह्म में उपासना के लिए गुणों का आरोप किया गया है। एकेश्वरवादी धर्मो में जहाँ कट्टरपन ने परमात्मा में गुणों का आरोप नहीं होने दिया वहाँ परमात्मा और मनुष्य के बीच में एक और मनुष्य का सहारा लिया गया है। ईसाइयों को ईसा और मुसलमानों को मुहम्मद का अवलम्बन करना पड़ा। भक्ति की झोंक में कबीर भी जब संसारिक प्रेममूलक संख्यों के द्वारा परमात्मा की भावना करने लगे, तब परमात्मा में स्वयं ही गुणों का आरोप हो गया। माता, पिता और प्रियतम निर्जीव पत्थर नहीं हो सकते। माता के रूप में परमात्मा की भावना करते हुए वे कहते हैं –

हरि जननी मैं बालक तेरा। कस नहिं बकसहु अवगुण मेरा।
अवतार बाद में यही सगुणवाद पराकाव्य को पहुँचा हुआ है।[7]

जिस युग में कबीर आविर्भूत हुए उसके कुछ ही पूर्व भारत वर्ष के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना घट चुकी थी। यह घटना इस्लाम जैसे एक सुसंगठित सम्प्रदाय का आगमन था। इस घटना ने भारतीय धर्मगत और समाज व्यवस्था को बुरी तरह से झकझेड़ दिया था। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जाने वाली जाति व्यवस्था को पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी। सारा भारतीय वातावरण क्षुब्ध था। बहुत से पंडित–जन इस संक्षोभ का कारण खोजने में व्यस्त थे। और अपने–अपने ढग पर भारतीय समाज और धर्म–मत को संभालने का प्रयत्न कर रहे थे।

सबसे पहले विचारणीय है कि यह घटना अभूतपूर्व क्यों थी और इसमें नवीनता क्या थी? भारत वर्ष कोई नया देश नहीं है। बड़े–बड़े साम्राज्य उसकी धूल में दबे हुए हैं, बड़ी–बड़ी धार्मिक घोषणाएँ उसके वायुमण्डल में निनाहित हो चुकी है, बड़ी–बड़ी सभ्यताएं उसके प्रत्येक कोने में उत्पन्न और विलीन हो चुकी हैं उनकी स्मृति–चिह्न अब इस प्रकार निर्जीव होकर खड़े है मानो अट्टाहास करती हुई विजयलक्ष्मी की बिजली मार गई हो। अनादिकाल से अनेक जातियों, कबीलों, नस्लो और घुमक्ड़ खानाबदोशों के झुंड इस देश में आते रहे है।

मजहब क्या है? मजहब एक संघटित धर्म–मत है। बहुत से लोग एक ही देवता को मानते है, एक ही आचार का पालन करते है और किसी नस्ल, कबीले या जाति के किसी व्यक्ति को जब एक बार अपने संघटित समूह में मिला लेते है तो उसकी सारी विशषताएं दूर कर उसी विशेष मतवाद को स्वीकार कराते है। यहाँ धर्मसाधना व्यक्तिगत नहीं समूहगत होती है। यहाँ धार्मिक और सामाजिक विधि निवेस एक–दूसरे में गुथे होते है। भारतीय समाज नाना जातियों का सम्मिश्रण था। एक जाति का एक व्यक्ति दूसरी जाति में बदल नहीं सकता, परन्तु महजब इसके ठीक उल्टा है। वह व्यक्ति को समुह का अंग बना देता है। भारतीय समाज की जातियाँ कई व्यक्यिों का समूह हैं, परन्तु किसी मजहब के व्यक्ति वृहत् समूह के अंग है एक का व्यक्ति अलग हस्ति रखता है पर अलग नहीं हो सकता, दूसरे का अलग हो सकता है पर अलग सत्ता नहीं रखता है।

मुसलमानी धर्म एक मजहब है। भारतीय समाज–संगठन से बिलकुल उल्टे तौर पर उसका संगठन हुआ था। भारतीय समाज जातिगत विशेषता रखकर व्यक्तिगत धर्म–साधना का पक्षपाती था, इस्लाम जातिगत विशेषता को लोप करके समूहगत धर्मसाधना का प्रचारक था। एक का केन्द्र–बिन्दु चारि़त्र्य था, दूसरे का धर्ममत। भारतीय समाज में यह स्वीकृत तथ्य था कि विश्वास चाहे जो भी हो, चरित्र्य शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, फिर चाहे वह किसी जाति का भी क्यो न हो। मुसलमानी समाज का विश्वास था कि इस्लाम ने जो धर्मगत प्रचार किया है, उसको स्वीकार कर लेने वाला ही अनन्त स्वर्ग का अधिकारी है, जो इस धर्मगत को नहीं मानता, वह अन्तकाल काल

नरक में जाने को बाध्य है। भारतवर्ष को ऐसे मत से एकदम पाला नहीं पड़ा था। उसने कभी यह विश्वास ही नहीं किया कि उसके आकार और मत को न माननेवाली जाति का कुफ्र तोड़ना उसका परम कर्त्तव्य है। किसी और का परम कर्त्तव्य यह बात हो सकती है, यह भी उसे मालूम नहीं था। इसीलिए जहाँ नवीन धर्ममत ने सारे संसार के कुफ्र को मिटा देने की प्रतीज्ञा की और सभी पाये जाने वाले साधनों का उपयोग आरम्भ किया तो भारतवर्ष इसे ठीक–ठीक समझ ही नहीं सका। इसीलिए कुछ दिनों तक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुंठित हो गई। विक्षुब्ध सा हो उठा। परन्तु विधाता को यह कुण्ठा और विक्षोभ पसन्द नहीं था।

ऐसा ज्ञात होता है कि पहली बार भारतीय मनीषियों को एक संघबध धर्माचार के पालन की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस्लाम के आगमन के पूर्व इस विशाल जन–समूह का काई एक नाम तक नहीं था। अब उसका नाम 'हिन्दू' पड़ा। हिन्दू अर्थात्–भारतीय, अर्थात गैर–इस्लामी मत। स्पष्ट ही इस गैर इस्लामी मत के कई तरह के मत थे, कुछ ब्रह्मवादी थे, कुछ कर्मकाण्डी थे, कुछ शैव थे, कुछ वैष्णव थे, कुछ शाक्य थे, कुछ स्मार्त थे तथा और भी न जाने क्या–क्या थे। हजारों योजनों तक विस्तृत और हजारों वर्षो में परिव्याप्त इस जन समूह के विचारों और परम्परा प्राप्त मतों का एक विशाल जंगल खड़ा था। स्मृति, पुराण, लोकाचार और कलाकार की विशाल वनस्थली मे से रास्ता निकाल देना बड़ा ही दुष्कर कार्य था। स्मार्त पंडितो ने इसी दुष्कर व्यापार को शिरोधार्य किया सारे देश में शास्त्रीय वचनों की छानबीन होने लगी। उद्देश्य था कि इस प्रकार का सर्वसम्मत मत निकाल लिया जा सके श्राध्य–विवाह की एक ही रीति–नीति प्रचलित हो सके, उत्सव–समारोह का एक ही विधान तैयार हो सके, भारतीय मनीषा का शास्त्रों को आधार मानकर अपनी सबसे बड़ी समस्या के समाधान का यह सबसे बड़ा प्रयत्न था। हेमाद्रि से लेकर कमलाकर और रघुनन्दन तक बहुतेरे पंडितो ने बहुत परिश्रम के बाद जो कुछ निर्णय किया वह यद्यपि सर्ववाहिसम्मत नहीं हुआ, परन्तु निसन्देह स्पुतीभूत शास्त्रवाओं की छानबीन के एक बहुत–कुछ मिलता–जुलता आचार–प्रवण धर्ममत स्थिर किया जा सका। निबन्ध ग्रन्थों की यह बहुत बड़ी देन थी। जिस बात को आजकल हिन्दू सोलिडेरिटी कहते है उसका प्रथम भित्ति–स्थापन इन निबन्ध–ग्रन्थों के द्वारा ही हुआ था। पर समस्या का समाधान इससे नहीं हुआ।

इस प्रयत्न की सबसे बड़ी कमजोरी इसकी आधार प्रवणता ही थी। जो नया धर्ममत भारतीय जन मानव को संक्षुब्ध कर रहा था वह इस आधार को कोई महत्व ही नहीं देता था। उसका संगठन बिलकुल उल्टे किनारे से हुआ था। निबन्ध–ग्रन्थों ने जिस आधार–प्रधान एक धर्मतत्व का प्रचार किया उसके मूल में ही सबको स्वीकार करने का सिद्धान्त काम रहा था। समस्त शास्त्रीय वाक्यों को नतशिर से स्वीकार करके ही वह असाध्य साधन किया गया था। पर जिस

प्रतिबंधों से काम पड़ा था वह बहुत वर्जनाग्रही था, अर्थात वह निर्दयतापूर्वक अन्याय मतो को तहस–नहस करने की दीक्षा ले चुका था और धार्मिक वर्जन–शीलता ही उसका मुख्य आरम्भ था। यद्यपि वह समाज धार्मिक रूप से वर्जनशील था, पर सामाजिक रूप में ग्रहणशील था, जबकि हिन्दू–समाज धार्मिक समानता को स्वीकार कर समता था, पर किसी व्यक्ति–विशेष को धर्ममत में ग्रहण करने का पक्षपाती नहीं था। उधर मुसलमानी समाज व्यक्ति को अपने धर्ममत में शामिल कर लेने को परम कर्त्तव्य समझता था, परन्तु किसी विशेष धर्म साधन को अपने किसी व्यक्ति के लिए एकदम वर्जनीय मानता था। निबन्ध ग्रन्थों ने हिन्दु को और भी अधिक हिन्दू बना दिया, पर मुसलमानों को आत्मसात् करने का कोई रास्ता नहीं बताया।

इस प्रकार मुसलमानों के आगमन के साथ ही साथ हिन्दू धर्म प्रधानतः आकार प्रवण हो गया। तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचार की परम्परा ही उसका केन्द्र–बिन्दु हो गयी। इस समय पूर्व और उत्तर में सबसे प्रबल सम्प्रदाय नाथपंथो का था। ये लोग शास्त्रीय स्मार्तमत को भी नहीं मानते थे और प्रस्थात्रवयी (अर्थात्–उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर आधारित किसी दार्शनिक मतवाद के भी कायल नहीं थे। पर जनता का ध्यान ये आकृष्ट कर सके थे। ये गुणातीत शिव या निर्गुण–तत्व के उपासक थे। पर इनकी उपासना ध्यान और समाधि के द्वारा होती थी। विविध भाँति की शारीरिक साधनाओं के द्वारा, जिन्होंने कायासाधन कहते थे, ये लोग परमतत्व को पाने के प्रेयसी थे। इनमें जो सिद्ध साधक और अवधुत थे वे घरबारी नहीं होते थे, पर इनके शिष्यों में बहुत से आरामभ्रष्ट गृहस्थ थे जो योगी जाति का रूपधारण कर चुके थे। हिन्दूधर्म इन आश्रम भ्रष्ट गृहस्थों का सम्मान तो करता ही न था उल्टे उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से ही देखता था। वे आश्रम–भ्रष्ट गृहस्य न तो हिन्दू थे–क्योंकि वे हिन्दुओं के किसी मत या आचार के कायल न थे–और मुसलमान क्योंकि इन्होंने इस्लामी धर्ममत को स्वीकार नहीं किया था। कुछ काल के बाद इस्लामी संसर्ग के कारण ये लोग धीरे–धीरे मुसलमानी धर्ममत की ओर झुकने लगे, पर इनके संस्कार बहुत दिनों तक बने रहे। जब ये इसी प्रक्रिया में से गुजर रहे थे उसी समय कबीर का आविर्भाव हुआ था।

यहाँ दो और प्रधान धार्मिक आन्दोलनों की चर्चा कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। पहली धारा पश्चिम से आयी। यह सुफी लोगों की साधना थी। मजहबी मुसलमान हिन्दूधर्म के मर्म स्थान पर चोट कर नहीं पाये थे, वे केवल उसके बाहरी शरीर को विक्षुब्ध कर सकते थे। पर सूफी लोग भारतीय साधना के अविरोधी थे। उनके उदारतापूर्ण प्रेममार्ग ने भारतीय जनता का चित्र जीतना आरम्भ किया था। फिर भी ये लोग आचार प्रधान भारतीय समाज को आकृष्ट नहीं कर सके। उसका सांमजस्य आचार प्रधान हिन्दूधर्म के साथ नहीं हो सका। यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि न तो सूफी मतवाद और न योगमार्गीय निर्गुण परम तत्व की साधना ही उस विपुल वैराग्य के

भार को वहन कर सकी जो बौद्ध संघ के अनुकरण पर प्रतिष्ठित था। देश में पहली वर्णाश्रम–व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था। आचार–भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे और वे एक नयी जाति की रचना कर लेते थे। इस प्रकार से कही जातियाँ और उपजातियाँ सृष्ट होते रहने पर भी वर्णाश्रम व्यवस्था एक प्रकार से चलती ही जा रही थी। अब सामने एक जबरदस्त प्रतिद्वन्द्वी समाज था जो प्रत्येक व्यक्ति और जाति को अंगीकार करने को बन्ध परिकर था। उसकी एकमात्र शर्त यह थी कि वह उसके विशेष प्रकार के धर्ममत को स्वीकार कर ले। समाज में दंड पाने वाला बहिष्कृत व्यक्ति अब असहाय नहीं था। इच्छा करते ही वह एक सुसंगठित समाज का सहारा पा सकता था। ऐसे समय में दक्षिण से वेदांत–भक्ति का आगमन हुआ जो इस विशाल भारतीय महाद्वीप के इस छोर से उस छोर तक फैल गया।

हिन्दू–मुस्लिम टकराहट के सामाजिक कारक मध्यकालीन समाज में सक्रिय रहे हैं और दोनों जातियों के पुरोहितवाद ने अपने निहित स्वार्थ के लिए संकुचित भावों को उतेजित किया। इसके विपरीत सुफियों का उदारपंथ है जहाँ सारा बल 'प्रेम' पर दिया गया, ओर जिसे हिन्दू मुस्लिम दोनों जातियों से आदर मिला। कबीर का बल–विवेक अथवा ज्ञान पर क्यों है, यह पक्ष भी विचारणीय। पर यह ज्ञान अनुभव आश्रित है–जीवन में सीधे आँख मिलाता है, सामान्य जन की अपनी जानकारी, उनका भोगा हुआ यथार्थ।

इस प्रकार कबीर ने धर्म–निरपेक्षता से काम लिया। उनके लिए हिन्दू–मुसलमान दोनों समान थे। कबीर वाणी का यह सामाजिक सत्य व्यक्तिगत न होकर सामूहिक है। सामूहिक सत्य आन्दोलन के द्वारा ही सार्थकता प्राप्त करता है। तथा कबीर ने यह सार्थकता भक्ति–आन्दोलन के द्वारा स्थापित की। कबीर का यह सत्य आन्दोलन के द्वारा सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक रूप में परिवर्तित हो गया। परम्परागत मूल्यों ने मध्यकालीन चेतना की नई उद्‌भावनाओं को प्रकाशित किया। उत्तरी भारत के भक्ति–आन्दोलन के विशेष सन्दर्भ में कबीर साहित्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन इन सामाजिक तथा वर्गगत सत्यों को मानव संस्कृति के रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार कबीर के अनुभव तथा विविध वर्गो के प्रति चेतना ने न केवल आन्दोलन को अपितु सन्त साहित्य को नवीन स्वस्थ रूप प्रदान किया।

(2) कबीर की दार्शनिक पृष्ठभूमि

कबीर की दार्शनिक चेतना के बारे में पंडितों के नाना मत सामने आते है। छान–बीन होती रही है और बात आकर लगभग यहाँ टिक गई है कि कबीर पर विभिन्न मतों–दर्शनों पर प्रभाव था। वे सत्याग्रही थे, अतः ऐसा अस्वाभाविक न था, फिर भी वे शंकर बेदान्त से सर्वाधिक प्रभावित थे।

जहाँ तक परमतत्व के सम्बन्ध में बात है, यद्यपि विशिष्ठा द्वैतवाद, एकेश्वरवाद, औपनिषदिक ब्रह्मवाद आदि की चर्चाएं होती रही है, पर शंकर अद्वैत और आ. द्विवेदी जी के शब्दों में द्वैताद्वैत। विलक्षणवाद पर ही विद्वानों की दृष्टि अधिक जमती रही है। ''कबीर इन अद्धैतिक पार एक्सलेंस'' इस वाक्य की अनुगूँज सभी चर्चाओं में कहीं न कहीं बनी ही रही है। इन चर्चाओं में सिद्वान्तों की परम्पराओं की ओर ध्यान दिलाया गया है, कभी–कभी शैव मान्यताओं की ओर थी।

जीव ब्रह्म की अद्धेतता की बात कबीर में काफी दूरी तक साफ है और इस बारे में निम्न उक्ति को प्रायः प्रामाणिक आधार बनाकर चला गया है –

जल में कुंभ, कुंभ में जल है, बाहर भीतरि पानी।

फूटा कुंभ जल जल हि समाना, यह तथ कथ्यौ गियानी।।[8]

और भी अनेकानेक उक्तियाँ इसके समर्थन में बिखरी पड़ी है –

मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहि आहि।

अब मन रामहि ह्वै रह्या सीस नवाबौ काहि।'' (कबीर ग्रन्थावली. सा. 4/8)

जा कारनि मैं जाई था, सोई पाई ठौर।

सोई फिरि आपण भया, जांसू कहता और''।।(कबीर ग्रन्थावली 5/37)

आपै तै तब आपा निरख्या, अपन में आपा सूझया।

आपै कहत सुनत पुनि अपनां, अपन में आपा सूझया।। (कबीर ग्रन्थावली पद 6)

अपने रूंह कौ आपहि जाणै, आपै रहै अकेला।'' (कबीर ग्रन्थावली पद 158)

''आपा पर सब एक समान तब हम पाया पद निरवाण।।'' (कबीर ग्रन्थावली पद 167)

मै तै, तै मै द्वै नाहीं, आपै अकल सकल घट नाही।।'' (कबीर ग्रन्थावली पद 203)

अब रही इस जीव ब्रहमैक्य के साथ प्रेमा–भक्ति के द्वेत की बात, को किसी ने सूफी प्रभाव दिखाकर, तो किसी ने औपनिषदिक ब्रह्य को प्रेम–विषय बनाये जाने के उद्धरण खोज कर तो किसी ने द्वैताद्वैत विलक्षण तत्व को भावा भावविनिर्युक्त कहने के साथ ही 'प्रेमपारावार' भी बताकर धूर बिठाई है। वेदान्ती छाया में व्याख्या करने वालों ने भी भक्ति को 'अविसंवादी भ्रम' की कोटि में डालकर संगति बिठाने का प्रयास किया है।

पर जगत अथवा माया के सम्बन्ध में लगभग सभी विद्वान् एक ही कुंडली के घेरे में खड़े किये जा सकते है कि कबीर की माया–विषयक दृष्टि शंकर वेदान्त की कड़ी में है। हाँ कभी–कभी

वैष्णव दर्शनों की कड़ी में विद्या–माया अविद्या माया के भेद भी कबीर पर लागू कर लिये गये हैं, तो कभी उसे निरजंन की शक्ति भी कहा गया है। पर बात धूम फिर कर प्रायः शंकर के मायावाद पर ही आकर टिकी है। जैसे श्यामसुन्दर दास जी जैसे लोगों का तो स्पष्ट कथन है कि ''कबीर ने माया को मिथ्या या भ्रममात्र माना है, जिसका कारण अज्ञान है। यह शंकर का अद्वैत है।[9] पद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान यह दिखाकर भी कि 'माया निरंजन की शक्ति है' ब्रह्मण्ड में जो माया है, पिण्ड में वही कुंडलिनी है। कुडंलिनी का ही नाम माया है, आद्या शक्ति है।[10] उसे अन्त में वेदान्त के साथ ही जोड़ देते है – ''कबीर दास ने माया के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह वस्तुतः वेदान्त द्वारा निर्धारित अर्थ में ही।''[11] कबीर ने स्वप्न का निदर्शन सामने रखते हुए माया के इस रूप को स्पष्ट किया भी है –

कबीर सुपनै रैणि कै, ऊधाड़ि आये नैन।
जीव पड़या बहु लूटि में, जागै तो लैण न दैन।।[12]
''समुझि विचारि जीव जब देखा, यह संसार सुपन करि लेखा।''[13]

और जब कबीर की भाषा को एक बार शांकरी माया के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो उसमें जीव–ब्रह्मैक्य, द्वैताद्वैत विलक्षणत्व, या सर्ववाद कहने को कोई दूसरा अर्थ नहीं रह जाता, वह शांकर अद्वैत में ही कहीं न कहीं खप जाता है। इसीलिए कबीर की वे उक्तियाँ जिनमें त्रिगुणातीत राम के सर्वमयत्व का उल्लेख है, शुद्व मायोपाधिक ईश्वर की भूमिका के अन्तर्गत खपाली जाती है और प्रेममयी भक्ति की अनुभूतियों को अविसंवादी भ्रम के रूप में व्याख्यात कर लिया जाता है। तात्पर्य यह है कि एक बार जैसे ही कबीर की माया को शांकरी माया के रूप में स्वीकार किया, कबीर के चिन्तन का सारा ढाँचा चाहे–अनचाहे शांकराद्वैत के साथ जुड जाता है। अतः कबीर की दार्शनिक तत्व भूमि को पकड़ने के लिए जिज्ञासा उनके माया और जगत् विषंयक दृष्टिकोण की मीमांसा से शुरू होनी चाहिए।

शंकर के अद्वैतवाद के अनुसार माया की सता प्राति भासिक है, तात्विक नहीं अतः आत्मसाक्षात्कार या आत्मोपलब्धि को चरम भूमिका में पहुँचकर जगत् की सता निवृत हो जाती है, उसमें किसी प्रकार की आनन्दानुभूति या सौन्दर्यानुभूति का तो प्रश्न नहीं उठता। इसी बात को मन में रखकर आचार्य शुक्ल जी ने जायसी के रहस्यवाद की चर्चा में कबीर के बारे में कह डाला है कि कबीर की प्रकृति के प्रति रमणीय रहस्य दृष्टि का इसीलिए अभाव है कि वे जगत् को मिथ्या मानते है। पर एक नहीं, अनेक स्थलों पर, कबीर चरम उपलब्धि के क्षणों में जगत के मिथ्यात्व को नहीं, अपितु उसके और अधिक रमणीय, हरे – भरे लहराते अनुभव की बातें करते है –

कबीर बादल प्रेम का हम परि बरस्या आइ।

अंतरि भींगी आत्मा, हरी भई बनराइ।।[14]

चरमानुभूति में कबीर की अतंरात्मा ही रसमयी नहीं हो उठी, सारी विश्व वनराजि ही लहलहा उठती है।

प्यंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।

मुख कस्तुरी महमही, बांनी फूठी वास।।[15]

कबीर देख्या एक अंग, महिमा कही न जाइ

तेज पुंज पारस धणी, नैनू रह्या समाइ।।[16]

कबीर की यह स्थिति प्रेम–सिद्धि में ही नहीं, ज्ञान सिद्धि में भी है –

कबीर सीतलता भई, पाया ब्रह्म गियान।

जिहि बैसंदर जग जल्या, सो मेरे उदिक समान।।[17]

वेदान्ती ज्ञान की एक प्रक्रिया है, तत्वज्ञान होने पर जगत् की समाप्ति, न कि उसके रमणीयकत्व की अनुभूति। यह तो आगमिक प्रक्रिया है। उसके अनुसार आत्म–प्रत्यर्भिज्ञान से पूर्ण संसार दुखमय है, प्रत्यभिज्ञान होने पर विश्व अपना ही रूप, और आनन्द मय। फिर 'ममता' की संकूचित भूमिका 'अहंता' की आनन्दमयी पूर्णता में विचलित होने लगती है। कबीर भी कुछ ऐसा ही कहते लगते है –

ममिता मेरा क्या करे, प्रेम उघाड़ी पौलि।

दरसन भया दलाल का, सुख भई सुख सौडि।।[18]

वेदान्ती व्याख्या करे तो जीव की द्वैतमयी दुख–पूर्ण अज्ञानमयी भूमिका, उदक समान आनन्दमयी तरंगायित भूमिका बन गयी है। 'शूल' 'सुब सौर' में बदल गये है। जिन बाधक मलो या पाशों को 'बैरी' के रूप में आत्मा पाता रहा था, वे सब भीत बन गये है –

स्वाति भई तब, गोत्यंद जाना।

तन में होती कोटि उपाधि, भई सुख सहज समाधि

जम थै उलटि भये है राम, दुख विसर्‌या सुखकिया विश्राम।

बैरी उलटि भये है मीता शाषत उलटि सजन भये चीता।।[19]

यम से मुक्ति तो वेदान्त के पास है, यम के ही राम बन जाने की साधना उसके पास की नहीं है, वेदान्त भ्रम–निवृति में 'सर्व' की निवृति कर 'अलेख' के दर्शन दे सकता है, आगम 'सर्व' में ही 'अलेख' की विश्वमयता उदभाषित कर देता है।

कबीर यहु तो एक है, पड़दा दीया भेष।

भरम करम सब दूरि करि, सब ही मांहि अलेख।।[20]

वेदान्त की माया एक अनिर्वचनीय विवर्त तत्व है जिसका स्रोत वेदान्त स्वयं नहीं जानता कबीर बताता है, वह तो एक 'वेष' है, आगमिक भाषा में कहे तो लीला के लिए धारण किया हुआ 'वेषान्तर वेदान्त के हिसाब से प्रेम चूंकि द्वैत की अवधारणा बनाकर चलता है, अतः भक्ति एक अविसंवादी भ्रम हो सकती है। चरम उपलब्धिा तो तो आत्मतत्व का ज्ञान ही हैं जहाँ प्रेम का अनुभव समाप्त हो जाता है पर कबीर के प्रेम–तत्व का मेघ तो ज्ञान की आँधी के उपरान्त बरसता है –

संतो आई गियान की आंधी।

भ्रम की टाटी सवै उड़ानी, माया रही न बांधी।

आंधी पीछे जो जल बूढ़ा प्रेम हरीजन भीनां।

कहै कबीर भांन के प्रगटे, उदित भया तम षीना।।[21]

भानु के प्रगट हो जाने पर 'तम' समाप्त नहीं हुआ, धन न रहकर षीन–एक झीना परदा बन गया और उ्दभाषित होकर आत्मतत्व के साथ जगमगा उठा। यह अनुभूति तो वेदान्त की नहीं, विश्वमयता की आगमिक अनुभूति है। गुण–तत्व माया का स्वरूप–निरूपक तत्व है जिसमें जगत् की सृष्टि होती है। अज्ञान–दशा में यही तो दुखो का मूल है। वेदान्त की ज्ञान–दशा इसका निवर्तन करती है, आगम की ज्ञान–दशा इसे चित्त का ही व्यक्त रूप अनुभव कराती हुई 'कौड़ी' से 'हीरा' बना देती है।

जब गुण कूं गाहक मिलै तब गुण लाख विकाइ।

जब गुण कौं गाहक नहीं, तक कौड़ी बदले जाइ।।[22]

और मिलाइये इन अनुभूतियों को –

''घर की ज्योति जगत परकास्या, माया सोक बुझांना।'' – पद – 157

''कह कबीर मन भया आनंद, जग जीवन मिल्यों परमानंद,'' – पद – 382

''कबीर लहरि समुंद की मोती बिखरे आइ।

बगुला मंझ न जाणई, हंस चुणि धुणि खाइ।।'' – सा. 49/2

आगमिक चिंतन में 36 तत्व माने गये है, सबसे स्थूल तल है धरणी तत्व और सबसे सूक्ष्म या परे है आत्म–तत्व या शिव–तत्व। आगमिक चिन्तन स्थूल वैश्व अनुभूति को समाप्त न कर उसको आत्म–विश्वमयता की आनन्दमयी अनुभूति में ढालने का पथ प्रसुत करता है। कबीर भी जब

स्थूलतम 'धरणी' तत्व की अर्थात–भौतिक जगत की अनुभूतियों की परिणति महाश्सत्व में करते है तो वेदान्त की जुबान तो नहीं बोलते –

''कहै कबीर ते बिरला योगी, धरणि महारस चाख्या।''[23]

'विष' और अमृत आगमिक भाषा में प्रतीकात्मक शब्द है। 'विष' भेद–भूमिकाओं के लिए अमृत अभेदमयी आनन्द–भूमिकाओं के लिए, कबीर क्या कहते है, इसे समझना होगा

'अमृत समानां, विष मैं जानां, विष में अमृत चाख्या।'[24]

यह तो अमृत–तत्व की परितः व्याप्त या, मैंने भूल से उसे विष समझ रखा था। आज इस विष में ही अमृत का आस्वादन हो रहा हैं। इसीलिए कबीर का जगत–विषधर जलकर समाप्त नहीं हो जाता, जलकर जाग उठता है, प्रेम उसमें गहगद्य जाता है –

रूति सुभाइ, जिनों सब जायों, अमृत धार होइ, सर लागी।
जिमीं माहि उठी हरि भाई, बिरहिन पीव मिले जन जाई।''[25]

माया का स्वरूप भी कबीर इसी रूप में निरूपित करते है। भेद–वाद के प्रसंग में एक लोकोक्ति चला करती है–''ना तूबंडी न बेला बाबा न्यारा खेल।'' अब तो कबीर को कुछ ऐसा हुआ है कि तूंबडी भी नहीं रही, बेल भी नहीं। भेदमय उपादानों की भेदमयता समाप्त होने पर भला व कैसे रहते। जिस स्थूल लकड़ी को, आधिक विश्व को जलाने के लिए लाया गया था वह तो कोयलों से भर उठी –

अब तो ऐसी ह्वै बड़ी नां तूंबडी न बेलि।
जालण आगी लाकड़ी, उठी कूंपल मेल्हि।
आगै आगै दो जलै, पीछै हरिया होई।
बलिहारी ता विरष की जड़ काट्या फल होई।।[26]

इधर ज्ञानाग्नि से भेदमय अपरा स्थिति जलती जाती है, उधर दूसरी ओर अपरा के पार्श्व में आता हुआ विश्व हरा–भरा होता है। अजीब गुणवन्ती बेल है यह कि इसे जितना काटो उतनी ही लहलहाती है।

आगमों की मान्यता के अनुसार 36 तत्व है, जिनमें 5 शुद्ध भूमिका से है, 31 माया तत्व के प्रकार है। माया–गर्भ का अधिकारी 'अनन्त' है। यहीं से अपर की भेद–भूमि भी खुलती है और उर्ध्वगुणी होने पर अभेद की भूमिका में प्रवेश भी होता है। कबीर ने ऐसी ही अनेक पारिभाषित स्थितियों का उल्लेख भी किया है –

मेरे जैसे वनिज सो कबन काज, मूल घटै सिरि बधै ब्याज।

नाइक एक बनिजारे पांच, बैल पचीस को संग साथ।।[27]

अनंत के नायकत्व में कला–अविधा–राम–नियति–काल के पांच बनिजारे अगले 25 तत्वो के बैलों के लिए व्यापार करते रहते है। कबीर को अब इस व्यापार से कुछ काम नहीं रह गया। एक पक्ष शुद्ध भूमिकाओं का 'आदि' है, दूसरा 31 तत्वों का माया गर्भाधिकारी–'अनंत' का। इन दोनों पक्षो का असामरस्य ही दुख की सृष्टि करता है। दोनों का मल–मुक्त सामरस्य आनन्दभूमि का उल्लास व्यक्त करता है –

आदि अनंत–उभय पख निरमल, दृष्टि न देख्या जाई।

ज्वाला उठी अकास प्रजल्यौ, सीतल अधिक समाई।।[28]

तब अनंत का सारा पसारा विश्वमय प्रभु की 'कलाराशि' बना जाता है। संकोचिनी मलरूपा 'कला' की दृष्टि को पूर्णचन्द्र की कला के रूप में परिणत कर लेना ही रस–साधना है–

''कहै कबीर मन भया अनंद, अनंत कला भेटे गोविन्द''[29]

तब सुन्दरी चित्ति–शक्ति अपने प्रिया शिव से मिलकर आनन्द लीन हो जाती है –

कबीर तेज अनंत का, मानो ऊगी सूरज सेणि।

पति संग जागी सुन्दरी, कौतिक दीठा तेणि।।[30]

और एक बात की ओर ध्यान जाता है। कबीर ने हठयोग और कार्य–साधना योग का काफी उल्लेख किया है। पिंड या ब्रह्माण्ड को मात्र विवर्त मानकर ये साधनाएँ बढ़ ही नहीं सकती। कुडलिनी योग में पिंड में आत्म–दर्शन की कड़ी ब्रह्माण्ड में आत्मदर्शन कराती हुई पिंड–ब्रह्माण्डोतीर्ण तत्व की स्थिति की ओर ले जाती है –

गुण में निरगुण, निरगुण में गुण, बाट छाँड़ि क्यों बहिए।

''व्यंड ब्रह्मड छाड़ि जे कचिए, कहै कबीर हरि सोई।।[31]

तभी तो कबीर इस काँच के तन को कंचन का बनाने की बात करते है, न कि उसे मिथ्यावादी वेदान्ती के समान विवर्त मात्र मानते हैं –

''कबीर योगी बनि बस्या, धणि खाये कंद मूल।

ना जानौ किस जड़ी मे, अमर भये अस्यूल।।[32]

''अब तौ पादूबो रे पाइबो ब्रहन गियान।

भागा भ्रम, दसौ दिसि सूझया परम ज्योति प्रकासा।

देखत कांच भया तन कंचन, बिन बानी मन मानां।

बिन परचै तन कांच कबीरा, परचै कंचन भया कबीरा।।[33]

''राम रंगि सदा मतवाले, काया होइ निकाया।''[34]

एक ओर तो भेदभाव काया–बोध से मुक्त होकर काया 'निकाया' बनती है, दूसरी ओर यह काया ही राम रंग में मतवाली होकर क्रीड़ा करने की 'निकाय' समावेश भूमि बन जाती है। शंकर वेदान्त के पास यह निकाय–दर्शन कहाँ रखा है। उसके पास अधिक से अधिक जीव–मुक्ति की तटस्थ स्थिति है जिसमें विश्व–प्रपंच होते हुए भी अपनी सत्ता खो चुका होता है।, बस, यहाँ तो सारा 'तन' ही तंत्री बनकर बज उठता है –

''जोगिया रेतन को तंत्र बजाइ।

ज्यूँ तेरा आवागमन मिटि जाइ।''[35]

और तब आत्मानुभूति का यह रूप व्याप्त होता है –

''अबरन एक अकल अबिनासी, घटि घटि आप रहै।''[36]

''और पाणी पवन अवनि नभ पावक, तिहिं संग सदा बसेरा।।[37]

यह अवर्ण अवाङ्मत गोचर अविनाशी आत्म–तत्व घट–घट में व्याप्त होकर रहता है, स्थूल विश्व के कण–कण में उसका नित्य बसेरा रहता है। यह तिहि संग सदा 'बसेरा' की चेतना वेदान्त में बिलकुल ही नहीं खपती। कहने की आवश्यकता नहीं, यह शुद्ध आगमिक चेतना है जो विश्व को शक्ति–विस्फोट के रूप में देखती है, माया भी उसी शक्तिमान् तत्व की शक्ति है, लीलार्थ वेष है। दोनो तत्व सर्वथा–सर्वथा अभिन्न हैं पर आत्मेच्छा से ही जब भेद–सृष्टि हुई है तो वियोग, तड़प और पिपासा के लिए अवकाश खुल जाता है और मिलन, आनन्द और उल्लास के लिए भी, यही उदात्त आध्यात्मिक काम–साधना हैं जिसकी और कबीर ने संकेत किया है। संकेत ही क्यों संयोग और वियोग की बड़ी ही गहरी अनुभूतियों में आलुप्त, चित्र भी दिये है। अद्वैत–तत्व के साथ श्रृगांरी शब्दावली में प्रेमाभिव्यक्ति की यह साधना कहीं बाहर से इम्पोर्ट होकर नहीं आई थी, आगमिक परम्परा के अध्येता इसे भली प्रकार जानते है।

(3) कबीर और मानवता

मनुष्य एक मूर्त इकाई है जबकि–मानवता एक अमूर्त प्रत्यय है। मानवता को शाश्वत धर्म के रूप में ग्रहण किया जा सकता है जबकि धर्म भी एक अमूर्त प्रत्यय है। अपनी विशवता और शुचिता के कारण धर्म एक गतिशील विश्वास भी है। भारत ही नहीं, विश्व–सन्दर्भ के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिपार्श्व का अध्ययन किया जाये तो प्रत्यक्ष होगा कि असख्य धर्मो में मानव धर्म ही

श्रेष्ठ है। यह बात मान लेने में किसी के लिए फर्क नहीं होगा कि दुनिया की श्रेष्ठतम वस्तु मनुष्य है। सुना जाता है कि मनुष्य होने के लिए देवता और पैगम्बर भी तरसते हैं और कदाचित् मनुष्य के रूप में अवतरित होने का सौभाग्य उन्हें मिल गया तो उसकी महिमा और बढ़ जाती है। मनुष्य न होता तो देव, दानव, ईश्वर, अल्लाह और वाहे गुरू जैसी गरिमाओं को आकार कहाँ से मिलता? अतः जाहिर है कि मनुष्य सृष्टि की श्रेष्ठतम् अवधारणा का एक पर्याय है। मानवीय गुणों या कि मानव धर्म के सम्यक विकास से सम्बद्ध होने के कारण ही मनुष्य की कोई पहचान है।

कबीर मानवता के पर्याय है। मानवता की रचना जिन अमूर्त तन्तुओं से होती है उनमें करूणा, त्याग, प्रेम, क्षमा, ममता, सहिष्णुता, सेवा, विश्वास और समर्पण जैसे कारक सहायक बनते है। इन शाश्वत मूल्यों का संवर्द्धन जिसने कर लिया है, वह मनुष्य है और इनके आलोक में किये जाने वाले उसके कार्य मानवता सूचक है। मनुष्य की जातीय श्रेष्ठता एक स्वीकृत सच्चाई है। 'नहिं' मानुषात् श्रेष्ठतंर किंचित–जैसा प्रमाण एक ओर महाभारत देता है तो 'शनु हे मानुष भाई सबार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार ऊपरे नाई' – कहकर मानव सत्य को सबसे ऊपर स्थान देने की चेष्ठा वैष्णव सहजिया चण्डीदास द्वारा भी की गई है। 'बड़े भाग मानुष तनु पावा' की बात कहकर मनुष्य जाति के भाग्य की सराहना एक ओर तुलसीदास करते हैं तो 'मानुस जनम दुरलभ अहै होइ न दूजो बार' कहकर मनुष्य–जीवन को सार्थक बनाने की सीख कबीर भी देते है। समग्र रूप में, भारतीय साहित्य में मनुष्य जाति और उसके मानवीय सद्धर्भ की स्वीकृति सर्वत्र मिलती है।

'स्व' के त्याग और 'पर' की स्वीकृति ही मानवता है। भारतीय सन्दर्भ में देखा जाय तो इस संस्कृति का आदर्श वाक्य है, वसुदैव कुटुम्बमम्' वेदयुगीन ऋषि–कामना का चरम उत्कर्ष इसी में मिलता है। अपने यहाँ का चाहे अद्वैत–दर्शन हो अथवा अन्य शास्त्र–बोध। सभी सर्वत्र ईश्वरीय–व्यप्ति की परिकल्पना करते है। प्राणी चाहे जिस जाति का, मजहब का हो, सभी का परमपिता एक है। हमारी धार्मिक संकल्पनाँए इतनी जीवन्त है कि उसमें सर्वत्र मानवता के अर्जन का सन्देश है। नीति ग्रन्थ तो इस बात के सबल गवाह है –

अयं निज परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितामां त वसुधैव कुटुम्बकम्।। – (पंचतन्त्र)

आशय यह कि यह मेरा है, यह तेरा है – जैसी संकीर्ण भावना का परिचय शूद्र प्राणियों की संवेदना है, परन्तु उदारचित वाले प्राणी सम्पूर्ण धारा को अपना कुटुम्ब समझते है। कदाचित यही उदारवादिता मानवता की पोषिका होती है। धार्मिक सहिष्णुता एवं शांति प्रियता मानवता की एक

विशिष्ट पहचान है। भाषा, धर्म, सम्प्रदाय और संस्कृति में ऐक्य–स्थापन का भाव मानवतावाद का अन्य परिचय है।

कबीर साहित्य का अनुशीलन यदि इन दृष्टियों से किया जाय तो उभरने वाली प्रमुख और गहरी रेखा मानवतावाद की मिलेगी। कबीर के विचारक तो यहाँ तक मानते हैं कि उन्होंने मनुष्य मात्र में एक दी दिव्य ईश्वरीय ज्योति के दर्शन किये थे और इसी आधार पर मानव मात्र की एकता का प्रतिपादन किया था। वे सच्चे अर्थो में मानवतावादी या मानवधर्मी कहे जा सकते है।[38]

कबीर की मानवीय–संवेदना के निर्माण में उनके समकालीन सन्दर्भ विशेष अर्थ रखते है। कबीर युगीन समाज का ढांचा बड़ा अस्त–व्यस्त था। उस समय की राजनीतिक उथल–पुथल, सामाजिक विश्रृंखलता और सांस्कृतिक सामाजिकता आदि इतनी जटिल समस्या के आकार ले चुकी थी कि उन्हें सम्यक् रीति से राह दे पाना न तो आसान था और न ही सम्भव। एक ओर मुसलमान शासक अपनी शक्ति स्थापित कर रहे थे तो दूसरी ओर कबीर साहब धार्मिक और सामाजिक विद्रूपताओं को निर्मूल करने की साधना में तल्लीन थे। इतिहास साक्षी है कि कबीर का समय मुसलमानों का शासन काल था। दिल्ली की बादशाहत सिंकदर लोदी के हाथों में थी सन् 1489 से 1517ई. तक उसने उत्तर भारत में अनेक युद्ध करके विजय हासिल किया और अपनी शक्ति का दबदबा बनाया। कहा जाता है कि कबीर के समय में सिकन्दर लोदी काशी आया थाा और मुसलमानो द्वारा परिवाद करने पर उसने हिन्दुओं को दण्डित किया था।[39] अन्तसाक्ष्य से तो यहाँ तक प्रमाण मिलता है कि सन्त–स्वभाव कबीर को लोदी ने हाथी से कुचलवाया और जंजीर से बांधकर उन्हें गंगा में फेकवा दिया था।[40]

कबीर युगीन सामाजिक परिस्थितियाँ जिस तरह से विघटित होकर टूट रही थी, उनमें एक बड़ी भूमिका पूर्ववर्ती सामाजिक संरचना की देखी जा सकती है। कबीर से पहले भारत में शकों, हूणों, आभीर, कुषाणों, हिन्दुओं, जैनों, बौद्धौ और मुसलमानों के धार्मिक प्रचार जोरों पर फैल चुके थे। शक, हूण, आभीर एवं कुषाण आदि तो शनैः शनै हिन्दुत्व की सीमा में स्वीकृति हो गये किन्तु जैन, बौद्ध और मुसलमान अपने–अपने धर्म प्रचार और जातीय आधार को मजबूत करने में तन्मय थे। यहीं पर नाथपन्थी योगी अपनी चमत्कार विधामिनी शक्ति का परिचय दे रहे थे।

कहना न होगा कि अनेक की विकृतियाँ सामाजिक संस्कारों को जकड़ चुकी थी। हिंसा, स्वार्थपरता, शक्ति परिचय और आपसी विभेद संयुक्त होकर मानवता का गला घोंट रहे थे। रूढ़ियों में जकड़ी मनुष्य–जाति मानवता के लिए अभिशाप बन गई थी। जैन मतावलम्बी वैचारिक धरातल पर तो अंहिसावादी थे, परन्तु देवी–देवताओं की प्रसन्नता और पूजा के बहाने हिंसा के प्रच्छन्न

पक्षधर भी बने हुए थे। अन्वेषकों का ध्यान इस दिशा में गया भी है। एवमं अन्वेषक–मनीषी की दृष्टि में भूत–प्रेत, जादु–मन्तर और देवी–देवताओं में जैन भी किसी से पीछे नहीं थे। रहा सवाल वाममार्ग का, शायद उसका इतना जोर नहीं था। लेकिन वह बिलकुल नहीं था, यह भी नहीं कहा जा सकता। आखिर चक्रेश्वरी देवी वहाँ भी विराजमान हुई और हमारे मुनि कवि श्री निर्वाणी–कामिनी के आंलिगन का खूब गीत गाने लगे। जिससे उस दिशा का सूक्ष्म संकेत मिलता है।[41] कबीरयुगीन सामाजिक संस्कृति पर विचार करते हुए बौद्ध तथा अन्य मतों की विकृति पर आलोचकों का ध्यान गया है। आलोचक मानता है कि बौद्ध–सिद्धों में अनेक प्रकार के अनाचार प्रविष्ट हो गये थे। सरहपा का सहजयान गुह्य साधना का केन्द्र बन गया था और वहाँ मध–मैथून की पूरी स्वतन्त्रता थी। पंडित सन्धयातर्पण और षट्कर्म में लीन रहते थे और जीवन के सहज मार्ग को भूल गये थे। शैवों में अनेक सम्प्रदाय हो गये थे और वे योगियों के अभ्युदय के पूर्व ही अपनी गतिमयता खो चुके थे। सूफी सन्त भी यहाँ आकर झाड़–फूंक करने लगते थे। वैष्णवों में भी छापा–तिलक लगाकर जनता को मात्र देश वैशिष्ट्य से प्रभावित करने की प्रवृति बढ़ रही थी। तात्पर्य यह है कि सभी धार्मिक मतो में व्यावहारिक स्तर पर विकृतियाँ आ गई थी। इन विकृतियों को दूर करके एक सहज मानवधर्म की प्रतिष्ठा करने की आवश्कता थी। कबीर के आविर्भाव से इस आवश्यकता की बहुत कुछ पूर्ति हुई।[42]

कबीर के समकालीन प्रचलित विभिन्न धर्मो और मतो से टकराहट की ध्वनि हिन्दू और इस्लाम धर्म में थी। बहुदेववादी हिन्दू और ऐकेश्वरवादी इस्लामयुगीन सामजिकता को चुनौती दे रहे थे। इनमें संघर्ष न केवल मजहबी थे, अपितु वर्गीय भी थे। ऐतिहासिक साक्ष्य मिलते हैं कि हिन्दु–समाज में सवर्ण और अन्त्यज तथा मुस्लिम समाज में शिया और सुन्नी दो वर्ग हो गये थे। इस प्रकार समाज में स्पृश्य–अस्पृश्य, शिक्षित–अशिक्षित, अमीर–गरीब, ऊँच–नीच आदि की विषमताएं व्याप्त हो गई थी। समाज में दासप्रथा, वेश्यावृति, शराबखोरी, जुआ एवं जालसाजी की भरमार थी।[43]

साहित्य–भूमि में कबीर के मानव–संवेदनात्मक दृष्टिकोण का दो रूपों में साक्षात्कार होता हैं। एक है, उनका सुधारक या कि उपदेष्टारूप तथा दूसरा है ईश्वरोन्मुख भक्त रूप। पहिचान के धरातल पर कबीर का मानववादी दृष्टिकोण उनके सुधारक या कि उपदेष्टारूप में पल्लिवित हुआ है। कबीर हर तरह के सामाजिक कोढ़ से मनुष्य की मुक्ति चाहते थे। सभी जानते है कि उनके कचन अनुभूत सत्य हैं, स्थिति सापेक्ष है, साक्षात के प्रत्यावर्तन है। फलतः उनकी वाणी में शक्ति का आवेश है। उनका क्रान्तिधर्मी कवि उपाधिधारी पंडितों और मौलवियों को चुनौती देता है। वह छिपकर नहीं, प्रकट होकर बोलता है – 'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की दखी।

कबीर का सारा चिन्तन मानव सापेक्ष है। वे मनुष्यता की रचना के लिए अपने स्वरों में लापवरवाह नहीं है। ठीक से देखा जाय तो सम्पूर्ण मध्ययुगीन साहित्य चिन्तन में उनका मानव चिंतन एक विशिष्ट कोटि का साबित होता है। उनका पूजा विश्वास है कि मानव का मानव से विवाद उसके अज्ञान का परिचायक है। ईश्वरीय रचना में तो सभी एक है, परन्तु आपसी विवाद उसके अज्ञान का परिचायक है। ईश्वरीय रचना में तो सभी एक है, परन्तु आपसी विग्रह मनुष्य की देन है। जाति–पाँति, छूत–अछूत, छोटा–बड़ा, ब्राह्मण, शूद्र, मन्दिर–मस्जिद जैसे विभाजन मानवीय विकृति के परिणाम है। मानव समाज की सौमनस्य–सरंचना में इनकी बाधकता को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। कबीर ने बड़े करीब से अपने युग के विकृत मानव–समाज को देखा था। वे सतत सचेष्ट रहे है कि हर सम्प्रदाय, जाति, धर्म समाज और राजनीति में समन्वय स्थापित हो ताकि उसके माध्यम से समग्र मानवता का सांस्कृतिक विकास सुनिश्चित किया जा सके।

कबीर मानवीय संवेदना के प्रत्येक स्पन्दन से परिचित थे। पंडितों, मुल्लाओं और अछुतों के कर्मकाण्ड और पाखण्ड उनके लिए 'ऑखो देखी' प्रमाण थे। पहले के चले आ रहे पुरोहितवाद, प्रामाण्यवाद, अंधविश्वास, मूर्तिपूजा और ब्राह्यचारों से सामाजिक जड़ता का विकास होगा न कि मानतावादी उत्कर्ष। मनुष्य को मनुष्य समझने और उसे संवेदा बनाने की सार्थक चेष्टा कबीर–साहित्य में सर्वत्र मिलती है।

कबीर का विश्वास, मात्र परमतत्व में हैं उनका चिन्तन है कि परमात्मा ने एक ही बुंद से सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की है। अतः ब्राह्मण और शूद्र जैसा भेद उनकी समझ से परे की बात है।[44] कबीर निर्भीक और बेलाग दृष्टि के पोषक थे। वे मानव मात्र के पक्षधर थे न कि हिन्दू और मुसलमान के। हिन्दू और मुसलमान की कौमी–एकता पर निरन्तर उनका चिन्तन हुआ है। वे पढ़े–लिखे नहीं थे, परन्तु अनुभूति के खजाने थे। अनपढ़ता के कारण 'भाषिक अनगढ़ता' उनमें भले लक्षित की जा सकती हैं किन्तु उनकी अनुभूति सच्चाई को मान लेने में किसी को कत्तई हर्ज नहीं होना चाहिए। कबीर ने ठीक से अनुभव किया था कि हिन्दू और तुर्क में अभेद है। क्योंकि भेद होता तो इनकी जन्म विधि में अन्तर होता। जिस मार्ग से हिन्दू आया है उसी मार्ग से मुसलमान भी। जन्म के समय न तो कोई (शिखा और यज्ञोपवीत के साथ) ब्राह्मण बनकर आता है और न ही कोई (खतना – सहित) मुसलमान बनकर।[45] व्रत उपवास, तीर्थ, पूजा, नमाज, चमत्कार, बटुआ, सिर–मुंडन, जटा–धारण, भस्म–लेप, पत्थर–पूजा, मूर्ति पूजा, अजान, माला, छापा तिलक एवं गंगा–स्नान आदि समस्त लोंक रूढ़ियों के विरूद्ध कबीर की वाणी बुलन्द हुई है। गंगा–यमुना जैसे तीर्थ–स्थानों के प्रति उनका अपना चिन्तन है।[46] कबीर का विश्वास है कि जब तक चित्र की शुद्धि नहीं होगी, ह्रदय निर्मल नहीं होगा, तक तक मनुष्य के समस्त कार्य व्यापार निर्थक साबित होंगे।

योग के आडम्बरों से कबीर को परहेज है। नोचकर केशोच्छेददन करना, बाल मुडाना, मौन व्रत लेना, जटा धारण करना अथवा पांडित्य, गुणज्ञ, दानशील और वीर दीर्प के प्रदर्शन करना, अहंकार वादिता के परिचायक है। इन अहंकार धर्मी सूत्रों से अपनी श्रेष्ठता साबित करने वाला प्राणी मानवता की कोटि का हकदार नहीं बन सकता। ऐसे अहंकारशील लोग सत्य–पथ से डिगते रहते है। हरि स्मरण (अहंकार – शून्यता) से रहित ये समस्त जन जिस प्रकार प्रकट होते है उसी प्रकार नष्ट भी हो जाते है।[47] कबीर समदर्शी थे। उन्हें न तो किसी से दोस्ती थी और न ही किसी से बैर। उनके लिए न तो मुल्ला प्यारे थे और न पंडित शत्रु थे। भ्रान्त पथिक इन दोनों को सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयास कबीर द्वारा किया जा रहा था।

सचमुच कबीर महामानव थे। मानवता–पोषक किसी भी जाति धर्म से उनकी दोस्ती बन सकती थी। मानवता–ध्वसंक सभी से उनका बिगाड़ था। एक ओर पंडित और योगी को फटकार पिलाने में उनसे चूक नहीं होती तो दूसरी और मौलवी और फकीर की खबर ले लेने में उन्हें फक्र का अनुभव होता था, एक साथ पीर, मुरीद, काजी, मुल्ला और दरवेश आदि की भ्रांति को दूर करते हुए कबीर ने कहा है कि कुरान और कतेब पढ़ने से 'फिक्र' दूर नहीं किया जा सकता। मन को स्थिर बनाकर ही खुदा के कबीर होने का मजा हासिल किया जा सकता है।[48]

कबीर का अनुभव बहुअयामी था। वे मनुष्य की स्वार्थ–निष्ठा के विपरीत थे। कर्म – प्रधानता पर उनका जोर अधिक था। अच्छे कर्म के सद्परिणाम और बुरे कर्म के दुष्परिणाम से वे परिचित थे। उनका यह भी मानना था कि ऊँच–नीच जैसा भेद ईश्वर–कृत नहीं है, यह मनुष्य का सुविधा–विलाप है। इस विभाजक रेखा ने मानवता का अपकार किया है। वैभव–सम्पन्न व्यक्ति ऊँचा है। और वैभव विपन्न व्यक्ति नीचा है, इस तरह के सामाजिक–बोध से उन्हें बड़ी पीड़ा हुई थी। कदाचित इसीलिए सांसारिक वेभव के प्रति वे उदासीन रहे। उनकी विचार दृष्टि में वैभव सूचक हाथी–घोड़े और शक्तिसूचक छत्र–छाया आदि सभी व्यर्थ है। इस तरह के सुख से तो भिक्षा वृति ही अच्छी है क्योंकि भिक्षा के माध्यम से सामान्य जीवन जीने वाला संत हरि–स्मरण में समय व्यतीत करता है।[49]

गौर रखने की बात है कि कबीर की निजी परिस्थिति जातीय संकीर्णता से मुक्त थी। सम्पूर्ण हिन्दी बाड्मय में अद्भुत जाति का एक ही कवि है कबीर, पितृपक्ष से वह जुलाहा है तो मातृपक्ष से ब्राह्मण। उसका एक गुरू (रामानंद) ब्राह्मण है तो दूसरा (शेख तकी) मुसलमान। अतः कबीर में समन्वयी दृष्टि विकास स्वाभाविक था। भुक्तभोगी कि पारिस्थितिक विषमता और सामाजिक क्रूरता के मूलोच्छेदन की निर्भीक ताजगी ने उनमें प्रखरता का सृजन किया। रूढि–सम्मत सामन्ती

दुराचारों और युगधर्मी मानवीय–विंसगतियों से लड़ना उनकी आदत बन चुकी थी। आदर्श मानव–समाज की स्थापना के लिए वे विकल थे। मानव त्रासदी से अशान्त उनका कवि–मानस आन्दोलित था। अतः समस्त विरूपताओं के विरूद्ध सब कुछ कहने के लिए उनकी वाणी को मुखर होना था। यही एक बात का उल्लेख कर देना संमत होगा कि जातीय स्तर पर कबीर अन्त्यज थे। कबीर ही नहीं अधिकाशं सन्त–उपदेशा अत्यन्त थे। अतः तधुगीन परिस्थितियों के मुताबिक ने शास्त्रज्ञान और मूर्ति–पूजा के हकदार नहीं हो सकते थे। अस्तु वे करते क्या? उनके पास चिन्तन की स्वतन्त्रता थी और श्रीज्ञान की अनुभुत्यात्मक आंधी। यह सच है, कि जो प्राणी सम्प्रदाय, जाति और वर्ग से मुक्त रहकर चिन्तन को आकार देता है, वही सन्त होता है, कवि होता है, महापुरूष होता है। कदाचित अतीत के लम्बा हो जाने पर वही महामानव कहलाता है। युगपुरूष और अवतारी की संज्ञा अर्जित करता है। सन्तों की दृष्टि सारग्रही थी। अपने युग तक के प्रचलित सभी मतों के सारतत्व ग्रहण करते हुए उसे अपने अनुभव के धरातल पर प्रभावशाली ढंग से उतारने की उन्होंने कोशिश की है। समाज में व्याप्त अन्धविश्वास और भेद–बुद्धि के प्रति सन्तों की चिन्ता ने शुद्र मानववाद का प्रचार किया। सभी को ईश्वर की सन्तति समझना, मनुष्य मात्र को समान जानना, जाति और लोक धर्म के विभेद से मुक्त रहना तथा कुल मिलाकर उदार मानवताधर्मी दृष्टि को वाणी देना सन्तों के अभ्यास में शामिल था लोकोन्मुखता, मानवीयता ओर सामाजिक एकीकरण जैसी आदर्श भावनाओं के पवित्र ध्वज का कबीर ने उन्नयन किया है और इसीलिए हिन्दी साहित्य में मानवता के प्रथम कवि के रूप में उनकी प्रतिष्ठा की जानी चाहिए।

समग्र आकलन में कबीर की चिन्ताधारा का सारांश लिया जाए तो कहना पड़ेगा कि वे मानवधर्म की ऊँचाई के प्रतीक है। अन्त्यज होकर उच्चत्मवर्ग को अपनी प्रतिभा से प्रभावित करने वाले तथा 'कागद' और 'मसि' से अनस्पर्शित रहकर भी कबीर एक महाकवि हैं, महामानव है, समाज सुधारक हैं और बहुत सही अर्थ में तो युग–नियामक हैं। कर्म का उत्कर्ष ही कबीर की वाणी है। 'ऊँचे कुल क्या जनमिया, जो करनी ऊँच न होई' जैसी अनुभव दृष्टि उनकी इसी चिन्ताधारा की दो टूक अभिव्यक्ति है। मानव–संवेदना–विषयक चाणक्य–नीति का साराशं भी तो यही है कि मनुष्य गुणों से महान् होता है, ऊँचे आसन पर बैठने से नहीं, कबीर भी अपने मानवताधर्मी वैचारिक गुणों के कारण ही महान कहलाए। प्रसिद्ध चिन्तन ने कहा है कि 'जब परमेश्वर को धरती के जीवों से बातचीत की इच्छा होती है तब वह कवियों की वाणी के माध्यम से बोलता है। अपना दिव्य संदेश वह कवि के शब्दों में देता है। कदाचित हिन्दी बाड्मय के संत साहित्य में यह गौरव कबीर की वाणी को मिला है और आधुनिक साहित्य में प्रसाद की काव्य भूमि को। प्रसाद का कवि मानवता के

धरातल पर विश्वदृष्टि का परिचय देता हैं तो कबीर का कवि अपनी संवेदनात्मक ऊर्जा से सम्पूर्ण मानवता की एक अभिनव आकृति गढ़ता है।

(4) कबीर के काव्य में मानव मूल्यों की तलाश

हिन्दी साहित्य का संतकाव्य रचना धर्मिता, सामाजिक–साँस्कृतिक चेतना, मूल्य चेतना और भावात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की दृष्टि से बेजोड़ है। इस काव्य का अपना एक अलग सामाजिक–सांस्कृतिक इतिहास है जिसे राजनीतिज्ञो अथवा इतिहाज्ञो में नहीं लिया है। इस इतिहास को लिखा है इन सन्तों ने, जिन्होंने एक सामाजिक व्यक्ति की हैसियत से समकालीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की विसंगतियों, अलगावों, असमानताओं, विरोधाभासों एवं द्वन्द्वों को नजदीक से देखा ही नहीं, भोगा भी है। इस भागे हुए यथार्थ को एहसास करने और कराने वाले रचनाकारों में कबीर अग्रगण्य है। वे एक सामाजिक और मानवीय रचनाकार है जिनकी मूल्य चेतना की अहमियत इसलिए है कि उन्होंने हिन्दू–मुस्लिम संस्कृतियों की असंगतियों और अन्तर्विरोधों को समझकर एक मिली–जूली संस्कृति का निर्माण किया है। उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यचेतना मध्यकालीन सामन्ती मूल्यों को अवश्य प्रक्षेपित करती है।, पर यह सामन्ती मूल्य उनके काव्य का वास्तविक मूल्य नहीं है। यह केवल यथार्थ मूल्यों के उपजाने में सहायता प्रदान करती है। उनकी वास्तविक मूल्यचेतना लोकचेतना है। जो सामन्ती मूल्यचेतना के समान्तर ही पल्लवित और विकसित होती है। उनकी कविता में मूल्य चेतना का जो स्वरूप हमें साफ तौर पर दिखलाई पड़ता है, वह कई दिशाओं से जुड़ा हुआ है। इन विभिन्न दिशाओं के परिप्रेक्ष्य में कबीर की कविता में मानव मूल्यों की तलाश करना ही मेरा मुख्य सरोकार है।

कबीर की कविता मानव समाज और मानव जीवन से जुड़ी हुई कविता है। मानव उनकी कविता का केन्द्रबिन्दु है। मानव को छोड़कर न तो वे समाज की मीमांसा करते है और न ही जीवन की। समाज और जीवन सापेक्ष रूप से कविता की वस्तु से जूड़े रहते है। समाज मानव जीवन को व्यवस्थित करने की नियोजना करता हैं। जीवन को व्यवस्थित और गतिशील बनाने की पूरी प्रक्रिया समाज के सामाजिक–आर्थिक ढाँचे पर निर्भर होती है। संस्कृति का अस्तित्व समाज में भौतिक और बौद्धिक तत्वों के एक निश्चित योग के रूप में होता है। जिनसे वह भौतिक तथा बौद्धिक वातावरण तैयार होता है, जिनसे मनुष्य जीवन बिताते और काम करते है। मानव मूल्य कहीं से अचानक टपक नहीं पड़ते, बल्कि वह अपने सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक परिवेश और समय से उपजते है। वे ब्राह्यरोपित वस्तु न होकर, जीवन के सन्दर्भ में विकसित होते है। लुकाय मानता है कि मानव प्राणी का एक दूसरे के साथ वास्तविक रिश्ता एक सामाजिक जरूरत है, जिसको

मनुष्य अपने आप में भी नहीं जानता, जिसको उसके कार्य, विचार और गतिविधिया संचालित करते है।

मध्यकालीन भक्ति आंदोलन एक जन–आन्दोलन ही नहीं, सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक आन्दोलन भी था जिसकी अगुवाई कबीर ने की थी। यह आन्दोलन में निम्नवर्गीय लोगों की भूमिका सबसे अधिक थी। इस आन्दोलन को प्रगतिशील बनाने में अदूत–शूद्र, जुलाहों, बुनकरों, कारागरो, हरिजनों, किसानों और छोटे उद्योग–धन्धों में लगे लोगों ने जो भूमिका निभायी है उसमें कबीर प्रमुख थे। यह आन्दोलन सामाजिक अन्तर्विरोधो के कारण उत्पन्न हुआ था इस अन्तर्विरोध को उपजाने वाले उच्चवर्गीय लोगों ने सबसे अधिक भूमिका निभायी थी सामन्तों और नबाबो ने। निम्नवर्गीय जातियों का विरोध दोहरा था। एक और सामन्ती शोषण तंत्र और दूसरी ओर कर्मकाण्डी पुरोहितवादी व्यवस्था का उन्होंने घोर विरोध किया। कबीर ने वर्णगत धर्म की जर्जर रूढ़ियों और सामन्ती मूल्यों का विरोध कर सहिष्णुता और भाईचारे का मार्ग प्रशस्त किया।

जो पै करता वरण विचारै
तो जनमत तीनि डांडि किन सारे।[50]
नहीं कोई ऊँचा नहीं को नीचा, जाका व्यंड ताही का सींचा।
जो तू आँभन बभनी जाया, तो आन बाट हवै काहै न आया।
जो तू तुरकनी नी जाया, तो भीतरि खतना क्यूँ न कराया।।[51]

सहिष्णुता और भाईचारा ही वह मानव मूल्य है जो सभी प्रकार के भेद–भाव को समाप्त कर मानव को मानव बनाता है। समाज की रूढ़ियों ने धर्म को खोखला और विकृत कर दिया था जिसके कारण वह साम्प्रदायिक खेमों उपखेमों में बटं गया पुरोहित कर्म ने इस धर्म के स्वरूप को ही बदल डाला। उन्होंने कर्मकाण्ड को वास्तविक धर्म बताकर सामान्य जनों को फाँस लिया। इस्लाम धर्म के आगमन से धार्मिक विद्वेष बढ़ा। शासक जाति के लोगों ने हिन्दू–शूद्रो को रूपान्तरित कर अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया। यही हिन्दू–मुस्लिम संघर्ष का मूल कारण था। सुल्तान सिकन्दर लोदी ने मथुरा और अन्य स्थानों के मंदिरो को नष्ट कर दिया था। तैमूर ने एक दिन में एक लाख हिन्दूओं को मौत के घाट पहुँचाया था। कबीर ने हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म की विसंगतियों, न्यूनताओं, द्वन्द्वों को समाप्त करने के लिए ही :'मानव–धर्म' को नये सिरे से विस्तार दिया था। उन्होंने जनता को समझाया कि ईश्वर न तो काबे में है और न कैलाश में, न मस्जिद में है और न मंदिरो में। वह तो तुम्हारे भीतर वाले मंदिर (घट – शरीर) में स्थित है। बाहर उसे खोजना व्यर्थ है। यदि वास्तविक मथुरा, द्वारिका, काशी को खोजना चाहते हो तो तुम अपने शरीर में ढूंढ़ो –

'मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि।

दसवाँ द्वार देहुरा, तामै जोति पिछांणि।[52]

मंदिर–मस्जिद और तीर्थस्थान आदि मनुष्यता को खण्डित करने वाली वस्तुएँ है। इनसे नाता तोड़कर ही एकता स्थापित की जा सकती है। वे निर्धन उसे नही मानते जिसके यहाँ धन का अभाव हो। उसकी दृष्टि में निर्धन वह है जो मानवी मूल्यों के वंचित रहता है। जिसके हृदय में राम का निवास नहीं होता, उन्हें भी वे निर्धन कहते है। वे निर्धन ओर धनी में अन्तर नहीं मानतेः 'निरधन सरधन दोनों भाई। प्रभु की कला न मेटी जाई।' लोकवेद, वेद पुराण, मुल्ला–पाण्डे, मन्दिर–मस्जिद, कर्मकाण्ड, तीर्थ यात्रा, जप–तप, व्रत–पूजा आदि का जितना विरोध कबीर ने किया है वह सब एकता स्थापित करने के लिए ही। यह एकता उनके सामाजिक सांस्कृतिक पुनरूत्थान का एक अंश था। उन्होंने प्राचीन जर्जर परम्पराओं, पौराणिक हिन्दू मतो, आडम्बरों, पाखण्डो, अंधविश्वासों का ही विरोध नहीं किया, बल्कि मुसलमानों की आडम्बरपूर्ण परम्पराओं का भी खण्डन किया था। इस्लाम धर्म, समाज और संस्कृति में जो विकृतियां आयी थीं उसका उत्तरदायित्व मुस्लिम शासको, काजी और मुल्लाओं को है। कबीर ने मानवमात्र की समता की उद्घोषणा करते हुए समझाया कि इन पंडितों, काजियों और मुल्लाओं को अपनी मुक्ति के रास्ते का ज्ञान नहीं है फिर क्यों कर दूसरों को रास्ता सुझाएगे। उन्होंने विकल्प के रूप में भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया, यह भी निर्गुण ब्रह्म की भक्ति का। इस मार्ग को न तो सिद्ध नाथों और न पण्डितों–मुल्लाओं ने इसके पूर्व जाना था। भक्ति को उन्होंने मानव–मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया है। इस भक्ति से धीरे–धीरे कई मूल्य विकसित हुए। क्षमा, शील, दान, धैर्य परहित, संतोष, अंहिसा, काम–क्रोध–मद, लोभ–मोह से विरक्त, कपट–त्याग तथा माया आदि से विरक्ति इनमें प्रमुख है। ये ही वे नैतिक मूल्य हैं जिनके अभाव में समाज का सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक संतुलन बिगड़ जाता है।

कबीर के समय में धर्म, दर्शन, कला–साहित्य, संस्कृति, राजनीति और समाजनीति सभी का सामन्तीकरण हो गया था। वे इस सारी सामन्ती व्यवस्था से मुक्ति चाहते थे, व्यक्तिगत रूप में नहीं, सामाजिक रूप से। उनकी सामाजिक नीति तुलसी के राम राज्य की नीति से मेल नहीं रखती। वे एक वर्णहीन, जातिहीन और शोषणहीन समाज की संरचना करना चाहते थे। उनकी यह नीति लोकनीति से जुड़ी हुई थी, इसीलिए सन्तों का इतना बड़ा आन्दोलन जन्म ले सका। उन्होंने धार्मिक, आध्यात्मिक पाखण्ड, ढोग, बाह्माचार, सामाजिक असमानता, आर्थिक पराधीनता और साम्प्रदायिक भेदभाव की दीवार को चकनाचूर कर ऐसे समाज की निर्मिति की जो सभी विकारों से मुक्त था। उनकी आलोचना का आधार अनुभव था 'मैं कहता आँखिन की देखी, तू कहता कागद की लेखी? अनुभव प्रमाण को सत्य मानकर वे जीवन और जगत की खुली आलोचना करते है।

उनके अनुसार मूर्तिपूजा, पौराणिक मान्यता, सामन्ती विलासिता मानवीय जीवन के मूल्य न होकर प्रेम, विश्वास सत्यशील, क्षमा, मनुष्य सेवा और सद्भावना ही वह मानव मूल्य है जो जगत् और मानव समाज की स्वरूप संरचना के लिए महत्वपूर्ण है।

इस तरह कबीर केवल राज्याश्रय का ही विरोध नहीं करते, बल्कि उस राज्याश्रय में उपजी कला, साहित्य, संस्कृति, धर्म दर्शन का भी विरोध करते है। क्योंकि इन सभी का जुड़ाव लोक से नहीं था। लोक से जुड़कर ही कविता मानव मात्र को पराधीनता से मुक्ति दिला सकती है। बेरमी अर्थ में एक लोक कवि थे जिन्होंने अपनी कविता के माध्यम से जनसामान्य को जागृत किया था। वे लोक में सामाजिक और आध्यात्मिक चेतना को विकसित कर मनुष्य–मनुष्य के भेद–भाव और मत–मतान्तरों को नष्ट करना चाहते थे। उन्होंने प्रत्येक को समझाया कि तुम्हारी जाति मनुष्य है और धर्म भी मानवधर्म है। शेष सभी धर्म मानव जाति के विकास मे बाधक हैं वे सभी जन को ही राम जन ही मानते थे। उनके अनुसार नामों में क्या रखा है वे तो मात्र व्यक्ति को अलग करने के एक विशेषण है। विशेष्य तो वह राम है जिसको प्राप्त करना या जानना ही हरेक व्यक्ति का मुख्य कर्म है। वह राम सगुण भी है और निर्गुण भी। वे सगुण ब्रह्मा के विरोधी नहीं हैं। वे विरोधी पाखण्ड और आडम्बर से युक्त कर्मो के जो उन्हें अंधविश्वासी बनाता है। उनका ब्रह्मा राम मनुष्य के हृदय में स्थित है। समाज में रहने वाले प्रत्येक वर्ग के भीतर उसका निवास है। वह साधक के दुख–सुख का साथी है। वह अनुभवगम्य है जिसे प्रेमाभक्ति के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। प्रेम ही वह मानव मूल्य है जिससे समाज में समानता आती है और भेद–भाव नष्ट होते है। इसी से भक्ति और ईश्वर दोनों की प्राप्ति होती है। इसीलिए उन्होंने सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य के रूप में प्रेम को महत्व दिया है। यह प्रेम व्यक्ति और समाज को परिष्करण करने का औजार है। यह प्रेम समानता और एकता का आधार हैं। वे कहते है कि यह पवन एक है, जल एक है, एक ही ज्योति से सभी उत्पन्न हुए है। सारे जीव एक ही मिट्टी और एक ही हाड–मास से बने है फिर द्वैत भावना कैसी?

उन्होंने सामन्ती नारी, जो भोग्या थी, उसकी प्रतिष्ठा नहीं के बराबर थी, उसे पति–पत्नी के मधुर सम्बन्धों के माध्यम से सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान की है। उनकी कविता में प्रेम का सामाजिक और आध्यात्मिक स्वरूप ही विकसित मिलता है। वासनात्मक प्रेम विसासिता का माध्यम बना हुआ था वह सामाजिक और अध्यात्मिक आधार को प्राप्त कर भक्ति और एकता का अवलम्बन बन गया। उनका यह प्रेम न तो बाजार में बिकने वाली वस्तु के रूप में मिल सकता है और न उसे अन्य फसलों की तरह खेत में उपजाया ही जा सकता है। वह तो एक सात्विक भाव है जिसे राजा–प्रजा, ऊँच–नीच, ब्राह्मण–शूद्र, हिन्दू–मुस्लिम बिना भेद–भाव के प्राप्त कर सकता है। अंहभाव का

विसर्जन इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है। यही प्रेम का सामाजिक और आध्यात्मिक रूपान्तरण है। मानव धर्म और समानता के रिश्ते इसी के सुदृढ़ होते है। जिस प्रेम में संवेदना न हो और जिसे अनुभव न किया जा सके, कबीर ऐसे प्रेम को अस्वीकृत कर देते है –

अकथ कहाँणी प्रेम की, कछू कही न जाई।
गूंगे केरी सर्करा, बैठे मुसुकाई।।[53]

कबीर का निर्गुण ब्रह्मा ही परब्रह्म है। वह केवल जिज्ञासा की वस्तु नहीं है, वह साधक के सुख–दुख का भागी है। वे सगुण ब्रह्य के नाम जैसे राम, हरि, गोविन्द, माधव, केशव, मुरारी शब्दों का प्रयोग अपनी कविताओं में करते है। इसका आशय यह नही कि कबीर सगुणोपासक है। वे एक निर्गुणोंपासक भक्त है। उनके राम न तो अवतारी हैं और न दशरथ के पुत्र। वे अगम्य और अगोचर है। उनकी कोई जाति नहीं है। उनके कुल परिवार का भी अता–पता नहीं है। उसे किसी विचारधारा के साथ जोड़ा नहीं जा सकता। वह स्वतंत्र और सबमें स्थित है। आत्मा ही उसका घर है। वे आत्मा–परमात्मा के अन्तर्सबंधो को उद्घाटित करते हुए विश्व–मानवों को एकता के सूत्र में बाँधने की चेष्टा करते है। इसी सन्दर्भ में वे भेदवादी और अलगाववादी अवधारणाओं की आलोचना करते है। उनका यह आलोचनात्मक कर्म सर्जनात्मक है। वे आध्यात्मिक विचारों को सामाजिक और सांस्कृतिक आधार प्रदान करते है। विलासित में पड़े जीव इस 'राम' और उसके 'नाम' तक को नहीं जानते। वे कहते है –

कबीर इस संसार में घणे मनिष मतिहीन।
राम नाम जांणे नहीं आये टोया दीन।।[54]

कबीर माया के समर्थक नहीं, विरोधी हैं। माया ही तत्कालीन सामन्तों के राजनैतिक संघर्षो का मूल कारण थीं। उच्चवर्गीय स्वार्थ और विलासिता के कारण ही राष्ट्र–देश की हानि और समाज का शोषण होता हैं। सम्पति और सत्ता के प्रति कबीर ने विद्रोह करने का आह्वान किया हैं क्योंकि इन दोनों पर प्रजा का अधिकार होना चाहिए। सम्पति ही सांसारिक प्रलोभन और माया है। यही दुख और विषाद का कारण भी है। मनुष्य इस अज्ञान रूपी अंधकार के पर्दे को फाड़ने में असमर्थ है। ज्ञान ही वह प्रकाश है जिसके प्रभाववश नेत्र अपने को तथा बाद में परमात्मा को पहचान सकता हैं। यह ज्ञान पोथी से नहीं, अनुभव से प्राप्त होता हैं काम, क्रोध, मद, लोभ, गर्व इन पंच शत्रुओं से बचकर ही ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है। यह ज्ञान भक्ति और प्रेम तीनों के शत्रु है। ज्ञान को जानने से सामाजिक बटन को रोका जा सकता है और सामाजिक एकता को स्थापित किया जा सकता है। यह माया सामाजिक प्रगति मे बाधक है। यह मानवीय रिश्ते को नष्ट करती है। इसलिए कबीर इसका विरोध करते है।

कबीर ने मोक्ष को जीवन, त्याग के अर्थ में स्वीकार नहीं किया है। वे सृष्टिचक्र, पुनर्जन्म और मोक्ष को लोक से जोड़कर मीमांसा करते है। उनका मोक्ष न तो काल्पनिक है और न निरपेक्ष और अमूर्त, वह सापेक्ष मूर्त और सामाजिक मुक्ति से जुड़ा हुआ है। उसकाल का धार्मिक आन्दोलन और भक्ति आन्दोलन दोनों सामाजिक व्यवस्था के प्रति क्रान्ति दर्शी विप्लव था।

उन्होंने सामान्य जनता को समझाया कि भगवान की दृष्टि में सभी बराबर है। ब्राह्मण यदि सुगति का अधिकारी है तो शूद्र भी। उसकी वर्णाश्रम के प्रति जो चुनौतियाँ है, वह इसी का परिणाम है। यह मोक्ष इसी आर्थिक सामाजिक मुक्ति का प्रतिरूप है। उन्होंने प्रेम के जितने मिथकों का प्रयोग किया है। वे सभी इसी जीवन में प्रतिफलित हो सकते हैं। उन्होंने मुक्ति, सृष्टिचक्र, पुनर्जन्म जैसे मानवी मूल्यों को सामाजिक मूल्यों के रूप में प्रस्तुत किया है। पहले ये आध्यात्मिक मूल्यों के रूप में वर्णित किया गए थे।

कबीर ने भक्ति और प्रेम को मानवी मूल्यों में सर्वोपरि बतलाया है। उन्होंने इन दोनों मूल्यें को सामाजिक आधार प्रदान किया है। उनकी भक्ति केवल भाव नहीं है, वह कर्म भी है। उन्होंने आकाशचारी भक्ति को जमीन पर उतारा। इस उतारने के कर्म में प्रेम की भूमिका महत्वपूर्ण रही। प्रेम ही भक्ति का मूल है। इस प्रेम की एक सामाजिक भूमिका है जिससे ही पति–पत्नी, पिता–पुत्र, भाई–बहन का आपसी रिश्ता मजबूत होता है। यह मनुष्य की सामान्य भावना है विशेष नहीं, विशेष प्रेम, जिसे वासनात्मक और स्वार्थ–प्रेम कहते है, सामन्ती व्यवस्था की देन है। इसी व्यवस्था के तहत पिता पुत्र की और पुत्र पिता की हत्या करता है। विलासिता और वासना की पूर्ति के लिए स्त्री को सामन्तों ने भोग्या बना दिया था। यही स्त्री युद्ध की कारण भी बनी। कबीर ने स्त्री के इस कामिनी रूप की जो भर्त्सना की है, वह इसी सोच का परिणाम है। वे सामन्ती प्रेम का विरोध करते है। किन्तु लोक जीवन में प्राप्त होने वाले प्रेम को महत्वपूर्ण दर्शाते है। उन्होंने जिस मानवीय प्रेम को चित्रित किया है वह सामन्ती तरीके से नहीं, समानता के रिश्ते से ही प्राप्त किया जा सकता है। वह प्रेम इतना सहज नहीं, इसको प्राप्त करने के लिए भक्त और जन को सिर कटाना पड़ता है

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पग तल धरे, जब निकटि प्रेम का स्वाद।।[55]

कबीर इस प्रेम मूलक भक्ति के माध्यम से अहंकार, घृणा, हिंसा, विषय–वासना एवं चिंता–दुख के विष को दूर करके सबके बीच प्रेम–स्नेह के मधुर–स्निग्ध संबंध की स्थापना करना चाहते है। वे अंहकार को नहीं पालते है। इसी के कारण मनुष्य अपने व्यक्तित्व और संस्कार से गिर जाता है। वे कहते हैं कि मैंने प्रेमतत्व को प्राप्त कर लिया है। प्रेम ही मनुष्य को जीवित रखता

है। इसीलिए हरेक मनुष्य को जीवित रहने के लिए इसे अपनाना आवश्यक है। सही ईश्वर–साधक, ब्राह्मण शूद्र उच्च निम्न वर्ग के भेदभाव को नष्ट कर मनुष्य को मनुष्य बनाता है। इस तरह प्रेम ही कबीर के जीवन–दर्शन का मूल तत्व है।

कबीर एक क्रान्तिकारी रचनाकार है। उनकी यह क्रान्ति चेतना आर्थिक–सामाजिक दबावों का परिणाम है। आर्थिक साधनों के अधिकार से वंचित और सामाजिक असमानता के शिकार निम्नवर्गीय लोगों की स्थिति को देखकर उनका मन द्रवित हो उठा। धार्मिक कर्मकाण्डो और पाखण्डो के विस्तार और रूढ़ियों ने उन्हें मन्दिर–प्रेवश की अनुमति प्रदान नहीं की । इन सभी कारणों ने उन्हें विद्रोही बना दिया उन्होंने जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, समाजगत और सम्प्रदायगत विषमताओं को नष्ट करने के लिए जातीय चेतना को विकसित किया। इसी जातीय चेतना के बल पर उन्होंने मानव–धर्म का विस्तार किया। वे सही रूप में मानव–धर्म के संस्थापक थे। प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, विश्वास, एकता, समता, ज्ञान, सत्यता, स्वतत्रंता आदि सभी मानवी मूल्य इस धर्म में समाहित थे। मानव मूल्यों के बल पर ही वे व्यक्ति और समाज के परिष्करण की बात करते है। वे विश्व के सभी मानवों को केवल मानव मानते है और जाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदि के खांचे को बेकार सिद्ध करते है। मानव ही उनकी कविता का केन्द्र बिन्दु है। उनकी यही सोच उन्हें एक मानववादी रचनाकार बना देती है।

(5) कबीर की ब्रह्मा सम्बन्धी अवधारणा

कबीर की विचारधारा का सबसे क्रान्तिकारी मुद्धा उनका निर्गुण राम है। कबीर जिस जमाने में पैदा हुए थे उन दिनों उत्तर भारत में सगुण वैष्णव भक्ति का व्यापक प्रचार हो रहा था। कबीर इस प्रचार और इस प्रचार की कमजोरी दोनों से परिचित थे। कबीर स्वभाव और वृत्ति के भक्त थे। अतः उपने परम प्रिय राम की स्वरूप–कल्पना या स्वरूप–दर्शन में उन्होंने अपने स्वभाव, अपनी वृत्ति, अपनी समय और अपने अनुभवों को निरन्तर वरीयता दी है।

कबीर ने निर्गुण राम की भक्ति का उपदेश दिया है और 'राम' नाम के जप को इस भक्ति का साधन बतलाया हैं। उन्होंने बड़ी साफ शब्दावली में कहा है कि तीनों लोको में जिस दशरथ सुत राम का बखान किया जाता है, राम नाम का मर्म उससे भिन्न है। दशरथ सुत राम ही नहीं, उन दिनों विष्णु के जिन–जिन अवतारो को ब्रह्म मानकर सगुण वैष्णव–भक्त उनकी भक्ति का प्रचार कर रहे थे उनमें से किसी को भी ब्रह्म मानने से कबीर ने इन्कार किया है। उनका कहना है कि मेरा राम दशरथ के घर अवतार लेकर नहीं आया, उसने लंका के राजा को नहीं सताया। वह देवकी की कोरव में पैदा नही हुआ। वह न ग्वालों के साथ फिरा, न उसने गोवर्द्धन पर्वत को

उठाया। बामन (बौना) बनकर उसने बलि को नहीं छला, न वराह रूप में पृथ्वी और वेद का उद्वार किया। न वह गंडक का शलिग्राम है न कोल, कच्छप या मत्स्य के रूप में अवतरित होने वाला है। बदरीनाथ में बैठकर उसने ध्यान नहीं लगाया, परशुराम के रूप में उसने क्षत्रियों को नहीं सताया न उसने द्वारावती में शरीर त्याग किया न उसका शरीर जगन्नाथ पुरी में गाड़ा गया। कबीर सोच–समझकर कहता है कि यह सब ऊपरी व्यवहार है। वस्तुतः जो राम संसार में बरत रहा है वह विष्णु के उक्त अवतारों से अलग ही नहीं अगम्य भी है –

तेहि साहब के लागौ साथा। दुख सुख मेटि कै रहहु सनाथा।।
ना दसरथ धरि औतरिआवा। ना लंका का राव सतावा।।
देवै कोखि न औतरि आवा। ना जसवै लै गोद खिलावा।।
ना वो ग्वालन के संग फिरिया। गोबरधन लै ना कर धरिया।।
बाइन होइ नहीं छलि छलिया। धरनी बेद लै ना ऊधरिया।।
गंडक सालिगराय न कोला। मच्छ–मच्छ होइ जलहिं न डोला।।
बद्री बैसि ध्यान नहीं लावा। परसराम ह्वै छत्री न सतावा।।
द्वारावती सरीर न छाँडा। जगन्नाथ लै पिंड न गाडा।।
कहै कबीर विचारि करि, ये डले व्यौहार।।
याही तैं जो आम है, सो बरति रहा संसार।।[56]

कबीर जीवन भर समझते रहे कि 'राम' का नाम नहीं 'गुण' का नाम है। रूप या देह तो नश्वर है, आना जाना है, झूठा हैं। सत्य है राम, जो न पैदा होता है न मरता है, न आता है न जाता है और हर स्थिति में सच्चा बना रहता है।

किसी भी क्रान्तिकारी मुद्दे की सबसे बड़ी पहचान यह है कि उसका समर्थन और विरोध दोनों व्यापक स्तर पर होता है। इतिहास इसका प्रमाण है कबीर के निर्गुण राम को व्यापक स्वीकृति मिली। लेकिन सगुण–भक्तों ने उसी तरह निर्गुण राम का बहुत व्यापक विरोध भी किया। सूरदास ने भ्रमरगीत प्रसंग में निर्गुण ब्रह्म और निर्गुण–भक्ति की, निर्गुण भक्त उद्धव जी के बहाने, जौ दुर्दशा की है। वह इस विरोध का विशिष्ट साहित्यिक रूप है– गहरा, व्यंगपूर्ण और उपहास मूलक। उन्होंने अनेक बार और अनेक रीतियों से निर्गुण ब्रह्म और निर्गुण भक्ति की खिल्ली उड़ाई है और सिद्ध किया है कि निर्गुण कुछ थोड़े से पढ़े–लिखे नगरवासियों के काम का हो सकता है लिकिन गाँवो के इस देश में जिनका बहुमत है निर्गुण उन देहातियों और स्त्रियों के किसी काम का नहीं।

जहाँ तक कबीर के निर्गुण राम के रूप का सम्बन्ध है, वे उसे सत्यस्वरूपी कहते है और जिस तरह सत्य की कोई सीमा नहीं है, उसी तरह उनके इस सत्यस्वरूपी की भी कोई सीमा नहीं है। जगत् में जो कुछ भी सत्य है, रमणीय और कल्याणकारी है, वह राम है। धरती की धूल से लेकर सुमेरू तक, जलचर, थलचर और नभचार से लेकर अंडज, पिण्डज, जंगम और स्थावर तक जहाँ भी निर्वरता, परोपकारिता, दयाशीलता, कारूणिकता, शरीर और मन की वयस्ता, माया तीतता–अर्थात् मानवादृत कोई भी गुण दिख जाता है, कबीर बिना किसी हिचक के उसे स्वरूपधारी राम नाम लेते है। उन्हें लगता है कि कण–कण में स्थित राम मानो उस पदार्थ, जीव, जन्तु या मनुष्य विशेष में साकार हो गया है। इस दृष्टि से उन्होंने न पशु का भेद किया है न पक्षी का। स्त्री–पुरूष, जाति धर्म, ऊँच–नीच का भेद–भाव तो कबीर मानते ही नहीं थे। बल्कि उसे वे बुरा मानते थे उसमें भी अगर सत्य, शिव और सुन्दर का प्रकाश दिखालाए तो उसको भी राम कहते हुए उन्हें हिचक नहीं होती। इसी मान्यता के कारण दशरथ के बेटे राम में भी वे अपने सत्यस्वरूपी निर्गुण राम की अलग देख लेते है।

सन्त में इन्हीं गुणों के कारण उनका राम विग्रहवान् हो उठता है – शूर और सती की एकनिष्ठता में इसी राम के दर्शन होते है, ठाकुर (शासक, जमींदार, राजा) में दीन प्रतिपालन का गुण इस राम की छवि दिखा जाता है। ज्ञानमूलक अद्धैत भक्ति की भूमिका पर पहुँचे हुए कबीर के लिए विष्णु और कृष्ण, गोविन्द और राम, अल्लाह और खुदा, रब और करीम, गोरख और महादेव, सिद्ध और नाथ उस अपरम्पार के अनन्तनाम बनकर एकार्थक हो जाते है और कबीर की ब्रह्म–कल्पना को पूर्णता देते है। चिंतन और भावना की इसी अद्धैत भूमिका पर पहुँचकर उक्त नामों के अभिहित होने वाले सगुण अवतार या ब्रह्मावाचक तथा व्यक्तिवाचक नाम निर्गुण राम के वाचक बन जाते है, उनमें नयी अर्थ–सम्पति भर जाती है। फिर तो विष्णु वह हो जाता है जो समग्र विश्व में परिव्याप्त है, कृष्ण वह है जिसने संसार का निर्माण किया है, गोविन्द वह है जिसने ब्रह्माण्ड को धारण किया है, राम वह है जो सनातन तत्व है, अल्लाह वह है जिसने जननी रूप में सब कुछ को जना है, खुदा वह है जो दसों दरवाजों को खोल देता है, रब वह है जो चौरासी लाख योनियों की परवरिश करता है, करीम वह है जो इतना सब कर रहा है, गोरख वह है जो ज्ञान से गम्य है, महादेव वह है जो मन को जानता है, सिद्ध वह है जो इस चराचर दृश्यमान् जगत का साधन है, नाथ वह है जो त्रिभुवन का एकमात्र मति है। जितने श्री सिद्ध, साधु और पैगम्बर हुए है सभी राम ही है, बस, वेश अलग–अलग है। उस अपरम्परा के अनन्त नाम है –

अलह अलख निरंजन देव, किहि विधि करौं तुम्हारी सेव।
बिश्न सोई जाकौ विस्तार, सोई कृस्न जिनि कीयौ संसार।।

गोब्यंद ते ब्रह्ममंडहिं गहै, सोई राम जे जुगि – जुगि रहै।
अलह सोई जिनि उमति उपाई, दस दर खोलै सोइ खुदाई।।
लख चौरासी रब परवरै, सोई करीम जो एती करे।।
गोरख सोई ग्यान गमि गहै, महादेव सोई जो मन की लहै।।
सिध खोई जो साधै रती, नाथ सोई जो त्रिभुवन जती।
सिध साधू पैगम्बर हूवा, अहै सु एक भेष है दूवा।।
अपंरपार का नाडं। अनन्त, कहै कबीर सोई भगवन्त[57]

परमार्थतः कबीर का राम त्रिगुणातीत है, द्वैताद्वैता विलक्षण है, भावाभाव विनिर्मुक्त है, अलख है, अगोचर है, अगम्य है, अकथ्य है। उस निर्गुण राम का काई निशान नहीं है। उसका कर्म कोई नहीं जानता। भूख–प्यास का गुण भी उसमें नही है यद्यपि घर–घर में वही समाया हुआ है। वह वेद और भेद से, पाप और पुण्य से, ज्ञान और ध्यान से, स्थूल और शून्य से, भेष और भीख से, डिमं और आकार से विवर्जित है। वह अनुपम तत्व तीनों लोकों से अतीत है। चारों वेद, सारी स्मृतियाँ और पुराण तथा नौ व्याकरण काई उस निर्गुण राम का मर्म नहीं समझ सका।

स्पष्ट है कि कबीर जब राम को निर्गुण कहते है तो उनका मतलब राम के शरीर गुणातीत रूप से होता है क्योंकि राम के गुणमय शरीर की जो कल्पना की गई है, तर्क और भावना किसी के हिसाब से वह उन्हें मान्य नहीं हैं, राम को दशरथ का बेटा कहा जाता है। कबीर पूछते है कि अगर राम दशरथ का बेटा है तो दशरथ को किसने जन्माया? स्वयं दशरथ का पिता कहाँ से आया? अगर वह दशरथ का बेटा है तो निश्चय ही दशरथ के पहले वह नहीं हो सकता। पर मेरा राम तो तब से है जब न पवन था न पानी, न धरती थी न आकाश, न शरीर था न शरीर को धारण करने वाला स्थान, न गर्भ था न मूल, न कली थी न, फूल, न शब्द का स्वाद, न विद्या थी न वेद, न गुरू था न शिष्य। राम को दशरथ का बेटा मानने में कबीर को एक बड़ी कठिनाई यह पेश आती है कि जो कर्मो से बँधा हुआ हो वह कर्त्ता कैसे हो सकता है? जो कर्मो के वशवर्ती हो उसे कबीर कर्त्ता नहीं मान सकते। अतः वे उस निर्गुण राम का विचार करने की सलाह देते है जो कर्त्ता होते हुऐ भी कर्मो से अतीत है, जो न आता है न जाता है, न जनमता है न मरता है, जन्मने और मरने वाला नाशवान् है, अधुरा है, जबकि कबीर का राम अविनश्वर और पूरा है। कबीर ने ठीक कहा है, तीनों लोक जिस दशरथ सुत राम का बखान करता है कबीर के राम नाम का मर्म उससे भिन्न है।

जिन दिनों कबीर निर्गुण राम की भक्ति का प्रचार कर रहे थे उन दिनों उत्तर भारत में दशरथ सुत राम की सगुण भक्ति का व्यापक प्रचार हो रहा था। आजकल गोस्वामी तुलसीदास और

उनके मानस, गीतावली, कवितावली आदि ग्रन्थों की कृपा से सगुण राम को सभी आसानी से समझ लेते है लेकिन उन दिनों राम ने सगुण रूप को लोग समझ नहीं पा रहे थे। गोस्वामी जी ने रामचरितमानस में इस तथ्य को स्वीकार किया है – ''निर्गुण रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोय। सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होय।'' (उत्तरकाण्ड, दोहा 73ख) काकभुशुण्डि प्रकरण में उन्होंने इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख किया है कि उन दिनों शिव के प्रति आस्थाशील लोगों का एक बहुत बड़ा समाज था जो राम नाम का जप करता था, निर्गुन राम में जिनकी गहरी आस्था थी, लेकिन दशरथ सुत राम की भगवत्ता में उन्हें विश्वास नहीं था। उत्तर भारत में सगुण वैष्णव भक्ति के प्रचार में इन लोगों के कारण बड़ी बधाएँ आ रही थी, अतः – सगुण भक्तों ने इनका विरोध किया है। इस विरोध के सगुण वैष्णव भक्तों ने सीधा रास्ता यह अपनाया कि कबीर के निर्गुण राम के शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्मा के साथ जोड़ दिया। यह रास्ता सीधा इसलिए था कि शंकर के निर्गुण ब्रह्म को रामानुज निम्बार्क, मध्व, बल्लभ, रामानन्द और चैतन्य आदि सगुण वेदान्तिक आचार्यो ने अनेक तर्को और प्रमाणों द्वारा अस्वीकार करके भक्ति के लिए निर्गूण की अपेक्षा सगुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा कर दी थी। लेकिन निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाए तो कबीर का निर्गुण राम जिस तरह सगुण वेदान्तियों के दशरथ सुत से भिन्न है, ठीक उसी तरह वह शकंराचार्य के निर्गुण ब्रह्मा से भी भिन्न और विशिष्ट है।

शंकराचार्य का निर्गुण ब्रह्मज्ञान का विषय है, कबीर का निर्गुण राम ज्ञान का नहीं भक्ति का विषय है। जो लोग कबीर को ज्ञानमार्गी कहते हैं वे उनके साथ अन्याय करते है। अपनी सवदियों, साखियों और रमैनियों में कबीर ने बार–बार अपने निर्गुण राम को भक्ति का विषय और ज्ञान का अविषय सिद्ध किया है। इतना ही नहीं, शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्म से कबीर के निर्गुण राम का एक बहुत बड़ा अन्तर इस बात में है कि शंकर का निर्गुन ब्रह्म निर्मम और निष्ठुर है। वह जीव के दुख दर्द में साथ नहीं देता, मजलूमों–बेकसों की पुकार सुनने के अयोग्य है। उनके कान, आँख और बुद्धि तो नहीं ही है, ह्रदय भी उसके पास नहीं है कबीर का निर्गुन राम ऐसा एकदम नहीं है।

कबीर का निर्गुण राम अद्वेत सत्ता है लेकिन भक्ति या प्रेम का अविषय नहीं है, दया–माया से हीन नहीं है, भक्त के दुख दर्द को वह अच्छी तरह समझता है। स्वभाव के अनुसार भक्त उससे स्वामी, सेवक, माता–पिता, पुत्र, पति, पत्नी आदि का सम्बन्ध स्थापित कर सकता हैं यह कीरी से कुंजर तक सबकी खबर रखता हैं। वह प्रेम की पीड़ा देता भी है और उसे हरता भी है। ठीक है कि वह चतुराई से नहीं रीझता, मन के भाव से रीझता है, पर रीझता है। भवसागर के विष से भरे जल में बैचेन मन वाले कबीर को राम का समर्थ प्रेम उस पार लगा देता है। वह परमप्रिय जब ह्रदय में प्रकट होता है तो मन का मोह और शरीर का ताप सब मिट जाता है, अन्दर बाहर

शीतलता व्याप जाती है। उस समर्थ साई के भरोसे सभी चिन्ताएँ छोड़कर निश्चित रहा जा सकता हैं। पशु–पक्षी, जीव–जन्तु आखिर उसी के सहारे ही तो पलते है। कहाँ उन्होंने पूँजी बटोर रखी है? संत गठरी नहीं बाँधता तो भी इसलिए कि हरि उसके आगे–पीछे हरदम खड़ा रहता है। उस प्रभु की आदत ही ऐसी है कि वह सबकी चिन्ता सदैव करता है और सब करने के लिए उसे रूप धारण करने की जरूरत नहीं पड़ती। कबीर के निर्गुण राम की यही द्वैता द्वैत–विलक्षणता है। इसी भावभूमि पर आकर जो त्रिगुणातीत है, भावाभाव विनिर्मुक्त है, अलख–अगोचर अकथ और अगम है, वह परम प्रेम–स्वरूप बन जाता है और निर्गुण ब्रह्म के प्रतिष्ठापक शंकराचार्य जिस जगत को असत् या झूठा कहते है वह जगत सच्चिदानन्द की प्रेम–लीला बन जाता है।

स्पष्ट है कि कबीर का निर्गुण राम व सगुणवादियों का अवतारी राम है न शंकर जैसे निर्गुणवादियों का निर्गुण ब्रह्म ही है। कबीर का राम त्रिग्दर्शन या शैवाद्वैत जैसा है और कबीर या अन्य अद्वैतवादी संत शिवोडहं या परमेश्वरोडहं का अनुभव करने वाले शैव भक्तो की तरह है।

कबीर के निर्गुण राम को शकंराचार्य के ब्रह्मद्वैत में स्वीकृत निर्गुण ब्रह्म जैसा मान लेने के कारण निर्गुण राम के नाम, रूप और गुण तीनों को समझने में कठिनाई हुई है। निर्गुण में रूप और गुण के आरोप को कबीर की बेवकूफी समझा गया है और उन्हें 'गुप्त रूप से पुराणवादी' तथा 'सगुण' के माध्यम से निर्गुण तक पहुँचाने वाली भक्ति का व्याख्यात' प्रमाणित किया गया है। विरोधी को दुश्मन के खेमे में डालकर बदनाम करने की परम्परा हर देशकाल में पाई जाती हैं। सगुणवादी वैष्णवों के लिए शंकर स्थापित दुश्मन थे। अतः त्रिक्दर्शन या शैवाद्वैत की निर्गुण–भक्ति और उसके निर्गुण किन्तु लीला परायण महेश्वर से परिचित होते हुए भी कबीर की विचार धारा के विरोधियों ने निर्गुण राम को शैवाद्वैत के साथ जोड़कर ब्रह्मद्वैत के साथ जोड़ा और उसे अस्वीकार किया।

गोस्वामी तुलसीदास ने जिस ईश्वराद्वयवाद का सहारा लेकर 'मानस' में, राम की सगुण लीला का समर्थन किया है वह ईश्वराद्वयवाद, त्रिक्दर्शन, प्रत्यभिक्षा दर्शन या शैवाद्वैत विशुद्ध निर्गुणवादी है। उसके मत से जिस प्रकार नट जान–बूझकर नाना प्रकार के अभिनय करता है, परमेश्वर भी उसी तरह अपनी इच्छा मात्र से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार सूर्य अपने द्वारा बनाए गए बादलों से अपने को आच्छादित करता है, लीला के लिए ब्रह्मा का माया से आधारित होना भी उसी तरह है। जैसे सूर्य बादलों से आच्छादित होकर भी अनाच्छादित रहता है उसी प्रकार ब्रह्मा माया या अज्ञान से आच्छादित रहकर भी अनाच्छादित रहता है। क्रीड़ापरायण महेश्वर की लीला ही इस प्रकार के आच्छादन का कारण हैं कबीर के निर्गुण राम को अगर इस

पीठिका पर रखकर देखा जाए तो निर्गुण पर नाम, रूप और गुण के आरोपों में सुन्दर दार्शनिक संगति स्पष्ट दिखाई देती है।

कबीर ने अपने समस्त काव्य–साहित्य को इसी ब्रह्म विचार का साधन कहा है – '' यह मति समुझौ गीत है, यह निज ब्रह्म विचार।'' जिस तरह नीत्से के जरयुक्त ने कहा था कि ''मैंने मधुमक्खी की तरह बहुत ज्ञान संचित कर लिया हैं मैं इसे किसी को देना चाहता हूँ। मैं ज्ञान के बोझ से थक गया हूँ, हिस्सा बाँटना चाहता हूँ। इसलिए मैं नीचे (सामान्य स्तर पर) उतरूँगा और इसे बाँटूगा।'' कबीर ने उसी तरह अपने ब्रह्म विचार को, सामान्य स्तर पर उतरकर, सर्वसाधारण के बीच, सर्वसाधारण की भाषा में, सर्वसाधारण के आत्यंतिक हित के लिए भरपूर बाँटा है। कबीर द्वारा उठाए गए हो या विरोधियों द्वारा, कबीर की विचारधारा के दूसरे मुद्दै भी इस मुख्य मुद्दै–निर्गुण राम से जुड़े हुए है।

कबीर की विचारधारा का दूसरा प्रमुख मुद्दा निर्गुण भक्ति का है। चूँकि यह निर्गुण भक्ति निर्गुण राम की है अतः भक्ति का प्रसंग भी वस्तुतः ब्रह्म का ही प्रसंग है। कबीर मध्यकाल के अत्यन्त श्रेष्ठ भक्त माने जाते है। उनके समकालीन तथा परवर्ती भक्त कवियों ने इस भक्ति के लिए कबीर को बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया है। नाभादास जी का कहना है कि कबीरदास जी भक्ति को ही एक मात्र धर्म मानते थे और भक्ति से विमुख धर्म को ' अधर्म' कहते थे –

भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायौ।
जोग जग्य व्रत दान भजन बिन्दु तुच्छ दिखायो।।[58]

कबीर के जमाने मे उत्तर भारत में सगुण वैष्णव भक्ति का व्यापक प्रचार हो रहा था। मध्यकालीन भक्तिकाव्य में इस बात के पर्याप्त विवरण और संकेत मिल जाते है कि शिव के प्रति आस्थाशील समाज, जो निर्गुण भाव की भक्ति करते थे, सगुण राम भक्ति या सगुण कृष्ण भक्ति के प्रचार में बाधक सिद्ध हो रहे थे। कबीर इसी तरह के व्यक्ति थे। स्वभावतः सगुणवादी भक्तो ने जिस तरह निर्गुण राम को नासमझी की उपज कहा उसी तरह कबीर की निर्गुण–राम–भक्ति को भी भक्ति मानने से इन्कार किया। सगुण भक्ति को दार्शनिक प्रतिष्ठा देने वाले भास्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, चैतन्य आदि सगुण भक्ति आचार्यो ने भक्ति के लिए जिस बात को नितान्त आवश्यक माना है, वह है भगवान के ऐसे रूप की कल्पना जिसके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। अवतारवाद के साथ इस धारणा को जोड़ देने के कारण उत्तर भारत में सगुण भक्ति का व्यापक प्रचार हुआ। परिणाम स्वरूप, धीरे–धीरे यह सामान्य धारणा बनती गई कि निर्गुण ब्रह्मज्ञान का विषय है, भक्ति के लिए ब्रह्मा का सगुन होना अनिवार्य है।

(6) वर्तमान सन्दर्भ में कबीर की प्रासंगिकता

आधुनिक युग में विज्ञान का बहुत अधिक प्रचार और प्रसार हो चुका है। मानव चाँद पर पहुँच गया है। और अन्य ग्रहों पर पहुँचने का प्रयास कर रहा हैं प्रगतिवादियों के साहित्य ने तो ईश्वर के अस्तित्व को ही नकार दिया है।[59] ऐसे समय में मध्यकालीन चर्चा, ईश्वर भक्ति की चर्चा भला किसे अच्छी लगेगी। कौन पढेगा इनके साहित्य को? लेकिन वे लोग भूल जाते है। कबीर केवल जीव, जगत, बह्मा, माया तक ही सिमिट कर नहीं रहे है, अपितु वे साढ़े पाँच सौ साल सौ वर्ष पहले आज के समय में काम आने वाली बातें भी कहते रहे है। कबीर की प्रासंगिकता को लेकर बहुत पहले 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' के हिन्दी–विभाग की परिचर्चा गोष्ठी में डॉ. शुकदेव सिंह ने 'कबीर साहित्य की प्रासंगिकता' शीर्षक से एक निबंध पढ़ा।[60] कबीर साहित्य की प्रांसगिकता शीर्षक निबंध में डॉ. शुकदेव सिंह लिखते है–'हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिकता के खिलाफ आवाज उठाने वाले पहले संत, विचारक और कवि कबीर ही हैं, रूढ़ धार्मिक शास्त्रों, पूजा, उपासना सम्बन्धी जडताओं, मंदिर मस्जिद विषयक अंध आस्थाअें, जाति वर्ण सम्बन्धी फर्को और तमाम तरह के भारतीय जीवन के अन्तर्विरोधें को उन्होंने निर्ममता के साथ अस्वीकार कर दिया था। ..... आम आदमी के लिए, सम्पूर्णजन के लिए वे सभी स्तरों पर नये आदर्शो की सृष्टि करते हुए भी नयी नैतिक लड़ाई लड़ रहे थे। वह सारी लड़ाई उन्होंने कविता के निहायत मुलायम और तेज हथियार से लड़ी थी। यह लड़ाई लगातार चलने वाली लड़ाई है जिसे तरह–तरह के शोषणों के खिलाफ सर उठाने वाली इंसानियत बराबर लड़ती रहती है। कबीर और इंसानियत हम शक्ल चीजें है। हर सही आदमी के साथ होता है तो कबीर जैसी ताकतों के साथ भी होता है और सही व्यवस्था जब वास्तविक और न्यायपूर्ण होती हैं तो कबीर की व्यवस्था भी साथ होती है।[61]

हम कह सकते हैं कि कबीर का साहित्य आज भी प्रासंगिक है, क्योंकि उन्होंने जिस 'राम शब्द' को हमें दिया वह किसी एक साम्प्रदायिक रूप में 'बंधता' नहीं। वह तो बूझने वाले के लिए आना ही बना रहता है। कबीर साहित्य जहाँ लोक जीवन की धरोहर है, वहाँ साम्प्रदायिकता के खिलाफ लड़ाई का बिगुल भी है। कबीर धर्म व्यवस्था, वर्ग व्यवस्था और जाति व्यवस्था का जो विरोध करते है। यदि उन्हें अपना लिया जाए तो शायद फिर कभी मंदिर बनाने और मस्जिद तोड़ने की बात न उठे। इसलिए भी कबीर प्रांसागिक है।

आज जरूरत इस बात की है कि कबीर साहित्य को शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से न जाँच के वह एक संघर्ष कथन है, उसकी धार कितनी पैनी है। कबीर अपनी तकलीफ के आधार पर दूसरों की तकलीफ समझते है। अपनी भूख, प्यास, उपेक्षा और सामाजिक अत्याचार के वजन पर आम

आदमी को समझने का प्रयास करते है। अतः कबीर को समझने से पहले आदमी बनना है और समझने के बाद भी आदमी रहता है। तभी कबीर को ठीक ढ़ंग से समझा जा सकता है और कबीर की उपादेयता को आँका जा सकता है।

कबीर की प्रांसगिकता के सन्दर्भ में डॉ. श्यामनन्दनकिशोर लिखते है–''कबीर की समता जलती हुई लकड़ी से नहीं की जा सकती जिसमें कमबेश होती हुई ज्वाला ही ज्वाला थी। वह ज्वाला जब वाणी बनकर फूटी तो उसमे सम्पूर्ण असत्यों और असद्वृत्तियों को जला देने की क्षमता थी। समाज के घर फूँक मस्ती वाले उस कान्तदर्शी कवि ने अपना सब कुछ जला देने के बाद भी दूसरों को माया–मोह त्यागकर सत्यपथ पर चलने को आंमत्रित किया था। वह भ्रान्तदर्शी समाज सुधारकों का इसलिए आलोचक था कि कोरे ज्ञान को आधार बनाकर वे समाज को छलते थे। जैसे कोई प्रहरी रात भर स्वयं जगकर भी जागते रहो की रट लगा कर घूम सकता है, उसी प्रकार कबीर ने मोह के नैश अंधकार में बेहोश पड़े समाज को खुद जगाने का प्रयास किया था। उसने इस जागरण संदेश में ऐसी प्रखरता थी कि वह आज भी मलिन नहीं हुई और वह बीसवी शताब्दी के इस अन्तिम चतुर्थाश मे भी हमारे लिए मंत्रवत है।[62]

इस प्रकार यही कहा जा सकता है कि सच तो यह है कि आज के भंडतापूर्ण सामाजिक वातावरण में कबीर का साहित्य जितना सार्थक, जितना सांदर्भिक और जितना प्रांसगिक है उतना शायद कभी नहीं था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की टिप्पणी अवलोकनीय है–''जो लोग हिन्दू–मुस्लिम–एकता के व्रत में दीक्षित हैं वे भी कबीर साहब को अपना मार्ग दर्शक मानते है। यह उचित भी है क्योंकि कबीर साहब से अधिक जोरदार शब्दों में इस एकता का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया ..... उन्होंने रोग का ठीक निदान किया या नहीं, इसमें दो मत हो सकते है, पर यह औषध है भगवत् विश्वास .....अपच्य है। बाह्याचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण ऊँच–नीच का भाव। कबीर साहब की इन दोनों व्यवस्थाओं में गलती नहीं है। और अगर किसी दिन हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है।[63]

आहार शुद्धि, मांस आदि अखाद्य का न खाना, मानव, में समानता, ऊँच–नीच के भेदभाव के ऊपर उठना, पार्थिव धन संचय का विरोध, सत्य, अंहिसा, शील, क्षमा, दया, उदारता, प्रेम, संतोष आदि जीवन के लिए अति आवश्यक है। इन्हें ही मानव मूल्य माना जाता है। कबीर सर्वत्र इन्हें अपनाने की बात करते हैं और नैतिक मूल्यों का संदेश जन–सामान्य को देते है। इस प्रकार कबीर द्वारा प्रतिपादित मूल्यों की प्रासंगिकता सार्वदेशिक और सार्वकालिक है क्योंकि ये मानव की मूल

प्रवृतियों से सम्बद्ध हैं। वर्तमान समस्याएँ चाहे वैयक्तिक हों। या सामाजिक सबका समुचित समाधान नैतिक मूल्य प्रस्तुत करते है।[64]

कबीर की प्रासंगिकता पर विचार करते हुए ह्रदयपाल सिंह तोमर लिखते है – 'वर्तमान परिस्थितियों में जब हर कही झूठ–फरेब और बिल्लों नारों का ही बाजार गर्म है, देश तबाही के अधंकुप में आमूल धंसा जा रहा है, समाज के कर्णधार तथा कथित समाजवादी उसके पोर–पोर को चकनाचूर कर डालते पर तुले है ..... हमें यदि सही मार्ग कोई दिखा सकता है तो कबीर। कबीर के रास्ते पर चलकर ही हम एक कल्याणकारी राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण कर सकते है, किन्तु इस निर्माण के लिए हमें उनके जैसा ही निर्मम, कठोर और बेलोभ होना पड़ेगा। पूरे समाज को दिग्भ्रमित करने वाले नेतृ–वर्ग को बेनकाब करने के लिए हमें भी वैसा ही वज्र–प्रहार करना होगा जैसा कबीर ने अपने समकालीन महाधीशों पर किया था।[65]

इस प्रकार निश्चित रूप से कबीर का साहित्य आज भी प्रांसगिक है। इस तथ्य के प्रतिपादन हेतु डॉ. त्रिभुवन सिंह की टिप्पणी भी उपादेय प्रतीत होती है–''मध्यकालीन समाज, कबीर के युग का समाज निश्चित ही आज के समाज से भिन्न था, किन्तु बहुत सी समस्याएँ आज भी ऐसी है जिन्हें कबीर ने अपने समाज में देखा था और जिनमें उनकी चिंता धारा प्रवाहित भी हुई थी, कवि या रचनाकार की प्रासंगिकता ऐसी स्थिति में बिल्कुल निर्विवाद है यदि उनके द्वारा उठाई गई समस्याएँ और प्रस्तुत किए गए समाधान दोनों ही वास्तविक और उपयुक्त है। कबीर का अनुभूति के कुछ ऐसे बिन्दु हैं जिन्हें बीसवीं शताब्दी का संचेत नागरिक भी अनुभव करता है, जो आज की हमारी पीड़ा के कारण है। ..... कबीर का संघर्ष किसी व्यक्ति, समुदाय या सम्प्रदाय के विरूद्ध नहीं था। उनकी लड़ाई तो सीधे–सीधे उन महाधीशों के खिलाफ थी जिनकी संवेदना का स्रोत सूख चुका था। जिन्हें सिर्फ अपने पैरों के नीचे की जमीन ही दिखाई देती थी। हमारी लड़ाई भी ऐसी ही लोगों के विरूद्ध है और इसीलिए आज के सन्दर्भ में कबीर सबसे अधिक प्रासंगिक है।[66] कबीर एक विशेष प्रकार के चितंक है, जो बाते कबीर को काशी में चिंतित करती है, उनका समाधान कबीर काशी में बैठकर करते है। इसलिए कबीर की जितनी आवश्यकता उनके युग में थी उतनी ही आवश्यकता आज के युग में भी है।

कबीर की प्रांसगिकता को लेकर हमने अनेकानेक विद्वानों के वचनों को उद्धरित करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कबीर प्रांसगिक हैं उनकी प्रांसगिकता स्वतः सिद्ध है। कबीर ने साहित्य के माध्यम में संसार की असारता, मानव देह की दुर्लभता मत–मतान्तर के भेद में न उलझना आदि सलाह अपने शिष्यों को ही। लोक जीवन में परिव्याप्त अंधविश्वासों, पाखण्डो का

खण्डन करते हुए इन्होंने तत्कालीन समाज को अज्ञान के अंधकार से मुक्ति दिलवाई। उसे समय रहते संभलने की चेतावनी दी तथा मूल तत्व को सींचने की बात कहकर आपसी सद्भाव बनाने, प्रेम से रहने, प्रत्येक जीव पर दयाभाव दिखलाने, अपराधी को क्षमा कर देने, सन्तोष वृत्ति अपनाने की मानव मूल्य रूपी संजीवनी बूटी लोक मानस के लिए प्रस्तुत की।

बीसवी शताब्दी के अंतिम दशक में आज हमारे सामने राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय महत्व की अनेक समस्याएँ अपने समाधान के लिए मुँह बाए खड़ी है। लेकिन ऐसे चुनौती भरे वातावरण में मंदिर – मस्जिद विवाद को एक छोटे से मसले ने साम्प्रदायिक कट्टर पंथ और धार्मिक तत्ववाद का सहारा लेकर देश को एक ऐसे विस्फोटक बिन्दु पर खड़ा कर दिया है, जहाँ से आगे उसे राह नहीं मिल पा रही है। साम्प्रदायिक विद्वेष की इस गंभीरता को आज से लगभग छः सौ वर्ष पहले रंखाकित करते हुए कबीर ने कहा था –

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई
कहै कबीर सुनो भाई साधो कौन राह है जाई।।[67]

कबीर ने परम्परागत हिन्दू और इस्लाम धर्म के बाह्य कर्मकाण्डो का निषेद कर साधारण जनता के लिए सुगम मार्ग की खोज की थी। इसे साधारण जनता के सामने पूरे विश्वास के साथ उन्होंने प्रस्तुत किया था –

संतो राह दुनौ हम दीठा।
हिन्दू – तुरूक हटा नहिं मानै स्वाद सबन कौ मीठा।[68]
हिन्दू – तूरूक की एक राह है सतगुरू इहै बताई।
कहहिं कबीर सुनौ हो संतो राम न कहेउ खुदाई।।[69]

अपनी इस एक राह के लिए कबीर ने काजी–मुल्लाओं और पण्डित–पुरोहितो को झाड़–फटकार कर काम चला लिया था। लेकिन आज ये काजी–मुल्ले और पण्डित–पुरोहित मन्दिर–मस्जिद के अखाड़ो को छोड़कर संसद और संविधान को अपना अखाड़ा बना रहे है। अबः कबीर के धार्मिक जनवाद के स्थान पर आज राजनीतिक जनवाद द्वारा ही इस समस्या का समाधान संभव है। वस्तुतः बावरी मस्जिद और रामजन्म भूमि का मसला आज एक ऐसे मसले का रूप धारण कर चुका है, जिसने हमारी मूल्यवान सांस्कृतिक विरासत पर ही कालिख नहीं पोता है, बल्कि आधुनिक युग के नवजागरण आन्दोलन और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की सांझी विरासत के रूप में उपलब्ध जनतांत्रिक मूल्यों की भी हत्या का षड़यंत्र किया है। ये मूल्य है–स्वतंत्रता, समानता और

भाई–चारे की भावना। जनतांत्रिक चेतना से ओत–प्रोत इन मूल्यों को स्वाधीन भारत के संविधान में गारंटी दिए जाने के बावजूद दिन दहाड़े इनकी हत्या का प्रयास किया जा रहा है। यह सारा प्रयास आस्था की दुहाई देकर रो रहा हैं। लेकिन यह किसी से छिपा नहीं है कि नये काजी मुल्ले और पण्डित–पुरोहित कितने आस्थावान और धार्मिक है? बावजूद इसके साधारण हिन्दू–मुस्लिम जनता के इनके चगुंल मे आने की संभावना बनी हुई है। इस कठिन घड़ी में भी कबीर के सन्देश हमारा मार्ग–दर्शन कर सकते है। यही उनकी प्रांसगिकता है।

अतः कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि उन्होंने तत्कालीन पशु मानव को सही मनुष्य बनने का रास्ता दिखलाकर उसे सम्पूर्ण मानव बनाने का जो प्रयास किया वह आज भी उतना ही आवश्यक है जितना कि उनके युग में था। अतः कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इनका साहित्य जितना कारगर इनके युग में था, उतना ही आज के युग में भी है।

♦♦♦♦

सन्दर्भ सूची

1. कबीर वाणी सत्य ज्ञानामृत – लालचन्द दूहन 'जिज्ञासु' 143
2. वही पृ. 65
3. वही पृ. 78
4. वही पृ. 104
5. वही पृ. 218
6. वही पृ. 119
7. कबीर ग्रन्थावली (आंठवा संस्करण) – डॉ. श्याम सुन्दर दास पृ. 31–34
8. कबीर वाणी सत्य ज्ञानामृत – लालचन्द दूहन 'जिज्ञासु' पृ. 88
9. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – पृ. 34
10. कबीर – हजारीप्रसाद द्विवेदी – 108–9
11. वही, पृ. 109
12. वही – सा. 12/22
13. वही, रमैणी – 3
14. वही, सा. – 1/34
15. वही, सा. – 5/14
16. वही सा. – 5/38
17. वही, सा. – 39/4
18. वही सा. – 5/48
19. वही – पद 15
20. वही, सा. 24/18
21. वही, पद 16
22. वही, सा. 49/1
23. वही, पद 162
24. वही, पद 162
25. वही, रमैनी – 4
26. वही, सा. 58.1,2
27. वही, पद 383

28. वही, पद 381

29. वही, पद 381

30. वही, सा. 5/1

31. वही, पद 180

32. वही, सा. 48.2

33. वही, पद 17

34. वही, पद 106

35. वही, पद 208

36. वही, पद 169

37. वही, पद 172

38. कबीर मीमांशा – डॉ. रामचन्द्र तिवारी, पृ. 141

39. तवारीखे फरिश्ता, पृ. 78

40. सन्त कबीर – डॉ. रामकुमार वर्मा, पृ. 39

41. हिन्दी काव्यधारा – राहुल सांस्कृत्यायन, पृ. 7.38

42. कबीर मींमासा – डॉ. रामचन्द्र तिवारी 14

43. मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृ. 250

44. कबीर – ग्रन्थावली – डॉ. पारसनाथ तिवारी, पृ. 106, पद 181

45. कबीर – ग्रन्थावली – डॉ. पारसनाथ तिवारी, पृ. 06 पद 182

46. कबीर वचनावली – अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' पृ. 144

47. कबीर ग्रन्थावली – डॉ. माता प्रसाद गुप्त, पृ. 22, पद 132

48. वही, पृ. 298, पद 50

49. वही, पृ. 89 नाखी – 4

50. कबीर वाली सत्य – ज्ञानामृत – लालचन्द 'दूहन' 'जिज्ञासू', पृ. 108

51. वही, पृ. 122

52. वही, पृ. 159

53. वही, पृ. 88

54. वही, पृ. 47

55. वही, पृ. 143

56. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास – 230–231

57. वही, पद – 327

58. भक्तमाल – नाभादास – पृ. 461

59. हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ. हरिशचन्द्र शर्मा, डॉ. रामनिवास गुप्त – 261

60. कबीर साहित्य की प्रांसगिकता – पृ. 20 (सं. विवेकदास) सम्पादकीय

61. वही, पृ. लेख डॉ. सुखदेव सिंह पृ.1

62. वही, लेख – डॉ. श्याम नन्दन किशोर, पृ. 18

63. कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी – पृ. 219

64. कबीर साहित्य की प्रांसगिकता, पृ. 191 (स. विवेक दास)

65. वही, पृ. 128

66. वही, पृ. 129–130

67. कबीर वाणी सत्य ज्ञानामृत मृत – लालचन्द दूहन 'जिज्ञासू', पृ. 117

68. वही, पृ. 138

69. वही, पृ. 70

चतुर्थ अध्याय

कबीर के काव्य संकलन की समीक्षा और सृजन की विविधता

(1) गुरूदेव को अंग

(2) सुमिरण को अंग

(3) चितावणी को अंग

(4) कथणी बिना करणी कौ अंग

(5) काल को अंग

(6) कुसंगति को अंग

(7) उलटबाँसियाँ

(8) भारतीय धर्म साधना में कबीर का स्थान

चतुर्थ अध्याय

कबीर के काव्य संकलन की समीक्षा और सृजन की विविधिता

कबीर अपने काव्य को ब्रह्मविचार का साधन मानते है। उनकी कविता ब्रह्म विचार को सरलतापूर्वक समझाने का माध्यम है। कबीर लोक साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले कवि थे। इसलिए उन्होनें लोक साहित्य से सम्बद्ध काव्य रुपों को अधिक अपनाया। काव्य मर्मज्ञों और दरबारियों में प्रचलित काव्य रुपों से वे दूर रहे। जनता में अधिक प्रचलित काव्य रुपों से प्रभावित होकर ही उन्होने सिद्धों,नाथों,सन्तों और भक्तों द्वारा प्रयोग में लाये गये काव्य रुपों को अपने लिए प्रयुक्त किया। इस प्रकार लोक–साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले काव्य रुपों को कबीर ने अपनाकर अपनी भावधारा प्रवाहित की।

कबीर के प्रमुख काव्य रुप इन तीन संग्रहों से प्राप्त होते है–

कबीर ग्रन्थावली – साखी, पद, रमैनी, बावनी, बेलि, वार, बसन्त।

आदि ग्रन्थ – सलोक, सबद, बावन, अखरी, थिति, वार, बसन्त।

कबीर बीजक – काव्य रुपों की दृष्टि से बीजक में विविधता है। इसमें निम्नांकित काव्य रुप प्राप्त होते है–साखी, सबद, रमैनी, चौतीसा, विप्रमतीसी, कहरा, बसन्त, चांचर, बेलि, बिरहुली, हिंडोला, इस प्रकार कबीर की रचनाओं में निम्नलिखित काव्य रुप प्राप्त होते हैं–

(1)साखी (2)पद (3)रमैनी (4)चौंतीसा (5)बावनी (6)वार (7)चिंती (8)चांचर (9)बसन्त (10)हिंडोला (11)बेलि(12)विप्रमतीसी (13)कहरा (14)विरहुली

साखी

कबीर की रचनाओं में साखियों का प्रयोग सबसे अधिक हुआ हैं। 'कबीर बीजक' में 353 साखियाँ है। कबीर ग्रन्थावली में 819 और आदि ग्रन्थ में इनकी संख्या 243 है। इनका कवर नाम 'सलोक भी है। संस्कृत भाषा के साक्षी(साक्षिन्) शब्द का अपभ्रंश रुप साबी है।

साखी शब्द का अर्थ वह व्यक्ति है जिसने घटना को अपनी आँखों से देखा हो। जिसे बोलचाल की भाषा में गवाह या तटस्थ दर्शक कह सकते हैं। रामचन्द्र वर्मा के प्रमाणिक हिन्दी कोश में भी यही अर्थ किया गया है। साक्षी–गवाह। मानव जब उलझनो में उलझा रहता है सांसारिकता

में रहकर भी नैतिकता और आध्यात्मिकता से दूर हटकर अपने को किंकर्तव्यविमूढ. समझता है उस समय अपने श्रेष्ठ प्राप्त स्मरणीय गुरुओं को ही साक्षी मानता था। किन्तु जब गुरुओं का पंच भौतिक शरीर पंचतत्व में विलीन हो गया है ऐसी परिस्थिती में उनके वचनों को ही साक्षी या गवाह माना जाता था तथा गुरु के उन वचनों को ही साखी कहकर महत्ता प्रदान की जाती थी। उन्हें ही साक्षी के रुप में प्रस्तुत किया।

कबीर स्वंय ही सिद्ध संत पुरुष थे इसलिए उन्होने पूर्ववर्ती साधकों की अनुभूतियों एंव अभिव्यक्तियों को ही स्वानुभव की कसौटी पर कसकर जनता के समक्ष काव्य के रुप में रखा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते है–''असल में साक्षी का मतलब ही यह है कि पूर्वतर साधकों की बात पर कबीरदास अपनी साक्षी या गवाही दे रहे है''[1] अर्थात् इस सत्य का अनुभव भी वे कर चुके है।

अतः प्राचीनकाल में धार्मिक प्रवर्तको द्वारा प्रतिपादित ज्ञान को शिष्यों के समक्ष साक्षी के रुप में उपस्थित किया। उस समय जिस समय जिस काव्यकार रुप का उद्‌भव हुआ वह ही 'साखी'कहलाया। ऋषियों द्वारा प्रणीत उपनिषदों में परमात्मा को ही समस्त भूतों का साक्षी या सर्वद्रष्टा कहा गया है। कबीर की सभी साखियाँ उनके सिद्धान्तों को व्यक्त करती है, जो उनके निजी अनूभवों पर आश्रित रहते है और जिनको उन्होने अपने अंतःकरण के अनुभवों की कसौटी पर कसने के कारण अधिकार पूर्वक प्रकट करने की क्षमता रखते है। साखी शब्द का अर्थ एक अर्थ में नहीं बल्कि अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है, जैसे–

(1) शिक्षा–(सिक्या, सीखा–साखी)

गुरु की साखी राखे चीति, तनु मन अरषे क्रिसन परिति।[2]
गुरु साखी अंतरि जागी ता चंचल मति तिआगी।।[3]
कबीर मारग अगम है सब मुनि जन बैठे थाकि।
तहाँ कबीरा चलि गया, गहि सतगुरु की साषि।।[4]

(2) ज्ञान सम्यक् ज्ञान विवेक–(सांख्य–साख्य–साख,साखी)–

सब में हरि है हरि में सब है हरि अपनी जिन जात।
साबी नहीं और कोई दूसर जाननहार समाना।।[5]
गुरु साखी का उजियारा, ता मिटिया सगल अंधियारा।।[6]

(3) साक्षी, गवाह–

साखी आंखी ज्ञान की समुझि देख मन माँहि।
बिन साखी संसार को झगरा छूटत नाहि।।[7]
धरती बान बोधि सब राखी, साखा हादि देहि सब साखी।[8]

(4) साख (विश्वास)–

सब देखण हारा जगत का अंतरि पूरे साखि।
दादू स्यापति सो सही, पूजा और न राखि।।[9]

(5) ज्ञान सम्बन्धी–

पद गाएं मन हरषिया साखी कह्या अनन्द।
सौ तत नाव न चाणिया गले में पणिया फन्द।।[10]

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि साहित्य में साखी शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

साखियों का अंग विभाजन

कबीर ग्रन्थावली में 59 अंग है अन्य संग्रहों में 84 अथवा इससे भी अधिक प्राप्त होते है। इससे यह अनुभव होता है कि अंग का अर्थ प्रकरण या भाग अवश्य रहा होगा। यह भी कहा जा सकता है कि जिन विषयों पर कबीर ने समय–समय पर साखियाँ कहीं होगी उन्हीं को 'अंग' कहा गया होगा। अंग के नाम के द्वारा ही विषय का स्पष्टीकरण किया गया है। जैसे गुरुदेव को अंग, सुमिरण को अंग, विरह को अंग, ग्यान विरह को अंग,निहकपटी प्रतिव्रता को अंग इत्यादि। बहुत से अंगों का विभाजन स्थूल रुप से स्पष्ट कर दिया गया है जैसे उपदेश को अंग। वैसे तो समस्त साखियाँ उपदेश प्रधान है। एक साखी में कबीर ने अंग शब्द का प्रयोग लक्षण के अर्थ में किया है–

निरवैरी निहकामना, कांई सेनी नेह।
विषया सूं न्यारा रहे, संतनि का अंग एह।।[11]

साखी का विषय

कबीर की साखियाँ उसी निर्गुण साखी के साक्षात्कार से उत्पन्न भावोन्मत्तता, उन्माद, ज्ञान और आनन्द की लहरों से सराबोर है। कबीर के अनेक स्तरो के बीच से मन्द–मन्द किन्तु अव्याहत गति से अनेक दिशाओं में उल्टी–सीधी बहकर, आनेवाली विविध विचारधाराओं को आत्मसात् करती हुई, ऊँच–नीच की चट्टानों को मिटाती हुई, बैराग्य तथा गृहस्थ जीवन के भूलों से टकराती हुई और भिन्न–भिन्न सम्प्रदाओं की सिद्धान्तानुसारी सुधा से प्राणियों के अन्तःकरण को तृप्त करती हुई, प्रेम व शान्ति के अथाह समुद्र की ओर बहती जाती है। कबीर की साखियाँ उनकी विचारधारा को

प्रकट करने वाले तथा सांसारिक क्लेश, दुख और आपदाओं से मुक्त कराने वाले ज्ञान का भण्डार है।

विषय की दृष्टि से कबीर साहब की साखियों को भी पद साहित्य की भाँति प्रधानतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है–(1)लौकिक भाव प्रधान (2)पारलौकिक भाव प्रधान। लौकिक भाव प्रधान साखियाँ तीन प्रकार की है–(क)सन्तमत का स्वरुप बताने वाली, (ख)पाखण्डों का विरोध करने वाली (ग)व्यवहार प्रधान। सन्तमत के स्वरुप का दिग्दर्शन कराने वाली साखियों में कबीर साहब ने संतो तथा सत्संगति का महत्व बताने के साथ–साथ सद्गुरु तथा संत शिष्य के लक्षण का स्वरुप दर्शाया है।

कबीर की प्रमुख साखियों (काव्य संकलन)की समीक्षा इस प्रकार है–

(1) गुरुदेव कौ अंग

इस भौतिक जगत में विषय–भोगों के कारण प्रत्येक जीवन में अशान्ति का वातावरण है,क्या धनी! क्या निर्धन! सभी अशान्त एवम् दुखी है। यह अशांति संसार के किन्हीं उपयोग–साधकों से दूर होना सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञान के अभाव में यह जीव राग–द्वेष से ग्रसित, माया–मोह के गहन–तिमिर में भटक रहा है। जब तक इसे शुद्ध आत्म–ज्ञान का प्रकाश नहीं मिलेगा, तब तक यह भ्रम सन्देह में खोया हुआ यूं ही भटकता रहेगा । इस प्रकार इसे कभी भी शांति कैसे प्राप्त हो सकती है। यह पावन अलौकिक आत्मज्ञान तो केवल सच्चे जिज्ञासुओं को गुरु की शरण में जाकर, निष्काम सेवा करते हुए, उनके उपदेश–प्रवचन कों जीवन में ग्रहण कर, अनुकरण करने से ही प्राप्त होता है।

आत्मज्ञान को प्रदान करने वाले गुरु का स्थान संसार में सर्वोच्च–सर्वोपरि है। गुरु–ज्ञान दीक्षा से जीवन सफल होता है, अतः गुरु प्रतिपल स्मरणीय, पूजनीय एवम् वन्दनीय है। भक्ति–काल में प्रकटे स्वयम् सद्गुरु कबीर साहेब ने श्रद्धा–सेवा–समर्पण एवम् स्नेह–साधना से जिस प्रकार गुरु–भक्ति को अपनी सहज–सरल साखियों में संजोया है, वैसा उदाहरण अन्यत्र कहीं भी मिलना दुर्लभ है। उन्होने गुरु को जीवन के बाहर और भीतर बहुत व्यापक दृष्टिकोण से आंका है। उनके शब्द–वाणियों में स्पष्ट संकेत है–''गुरु केवल गुरु है, गुरु की समानता किसी से नहीं हो सकती। गुरु ज्ञान–स्वरुप है, गुरु से दीक्षित जीव अपने लिए ही नहीं, अपितु औरों के लिए भी कल्याणकारी सिद्ध होता है।' इस प्रकरण में सद्गुरु कबीर साहेब जिज्ञासु भक्त–समाज को गुरु–महिमा का उपदेश कर रहे है।

सतगुरु सवाँन को सगा, सोधी सईं न दाति।

हरि जी सँवान को हितू, हरिजन सईं न जाति।।[12]–पद–(1)

कबीर कहते है–सतगुरु समान कोई अपन सगा, भलाई करने वाला नहीं है। शुद्धि सदृश कोई पवित्रता(अवदात) नहीं है। भगवान के बराबर कोई कल्याण करने वाला नहीं है। ईश्वर कृत की तुलना में दूसरी कोई जाति नहीं है। अर्थात् सतगुरु ज्ञान–दीपक देने से सर्वोपरि है, साधना की दृष्टि से आत्म शुद्धि सर्वप्रथम है। यदि कोई सच्चा हितैषी है तो वह जगत पिता है। जाति भेद यदि मानता ही हो तो हरिभगत की जाति श्रेष्ठ है।

बलिहारी गुर आपणैं,द्यौं हाड.ी कै बार ।

जिनि मानिष तैं देवता, करता न लागी बार।।[13]–पद–(2)

कबीर दास सतगुरु की वंदना करते हुए कहते है– हे गुरुदेव! आप पर अपने को मैं (कृतज्ञतावश) निछावर करता हूँ। भाव विभोर होकर कबीर कहते है, दिनभर में मैं सैकड.ों बार बलि जाता हूँ। क्योंकि आपने मुझे (मेरा हृदय शुद्ध कर) देवता बना दिया। अर्थात् मैंने अमृत्व प्राप्त कर लिया। आपकी ज्ञान ज्योति–कृपा दृष्टि से अविलम्ब मैं धर्मात्मा–संत–हरिजन हो गया।

सतगुरु के सदकै करुं, दिल अपणीं का साछ।

कलियुग हम स्यूं लडि. पड्या, मुहकम मेरा बाछ।।[14]–पद–(5)

कबीर कहते है ऐसे परोपकारी कृपालु गुरु पर अपने को निछावर करता हँ–बलि जाता हूँ। हृदय सत्य से ओत–प्रोत है–सत्य से मेरा हृदय शुद्ध हो गया है। कलि हमें बराबर कुमार्ग पर ले जाने के लिए जोर मारता है पर मै उसके विरोध में दृढ.ता पूर्वक खड़ा हूँ–मेरा निश्चय ज्यों का त्यों है। मुहकम–दृढ. अर्थात् काम क्रोध–लोभ मेंरा बिगाड. नहीं सके।

गूँगा हुवा बावला, बहरा हुआ कान।

पाऊँ मैं पंगुल भया, सतगुरु मार्‌या बाण।।[15]–पद–(10)

सतगुरु के सबद–बान लगने से भीतर का द्वार खुल जाता है–भीतर की ज्योति अथवा भीतर बहती हुई इस धारा से साधक तादात्म्य कर लेता है। यह भागवत प्रेम उसे मूक, बधिर, पंगुल बना देता है–अर्थात् उसे बाहरी जगत् से आसक्ति नहीं रह जाती।

कबीर गुर गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लूण।

जाति पाँति कूल सब मिटे, नाव धरौगें कौण[16]–पद–(14)

कबीर कहते हैं हमें महान् गम्भीर गुरु मिला जिसने हमारे भीतर राम–रस ऐसा भर दिया कि हमारा स्वरुप ही बदल गया जैसे आटे में नमक मिला दें तो उसका स्वाद ही कुछ और फिर

वह मात्र आटा नहीं। जिसके भीतर ईश्वरानुभूति हो गई उस रामजन की कोई जाति नहीं उसका कोई कुल नहीं, वह हरिजन है। वह न हिन्दू है न मुसलमान, न जुलाहा और न कोरी। कबीर अभेद में आस्था रखते थे। कबीर का बल राम के साथ घुल मिलने पर हैं।

जाका गुरु भी अंघला, चेला खरा निरंध।

अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पड़ंत ।।[17]–पद–(15)

कबीर कहते है अंधे(अज्ञानी) को यदि अंधा(अज्ञानी) गुरु मिल जाय तो उद्धार सम्भव नहीं क्योंकि दोनों ही अंधे है–अंधे को अंधा आगे नहीं ले जा सकता । परिणाम होगा दोनों ही कुएँ में गिरेंगें अर्थात् दोनों की ही दुर्गति होगी।

चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा मांहि।

तिहिं घरि किसकौ चानिणौं, जिहि घरि गोबिद नांहि।।[18]–पद–(17)

कबीर कहते है कि–हृदय में सत्य का प्रकाश तभी सम्भव है जब उसमें गोविन्द विराजमान हो। जिस प्रकार चौसठ दीपों के जलाने पर भी पूर्णिमा का प्रकाश सम्भव नहीं है अथवा जैसे प्रतिपदा से लेकर चतुर्दशी तक उदित होने वाले चन्द्र से पूर्णिमा की चाँदनी सम्भव नहीं है उसी प्रकार लाखों उपायों–कर्मकाण्डों से शान्ति सम्भव नहीं है।

भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होती हाणि।

दीपक दिष्टि पतंग ज्यूं, पड.ता पूरी जाँणि।।[19]–पद–(19)

कबीर कहते हैं–मुझे गुरुकृपा प्राप्त हो गई अन्यथा बहुत हानि(बर्बादी)होती । मैं भी दूसरों की भाँति माया–मोह, क्रोध जो कलि के उपाय है, में फँसकर उसी प्रकार अपना जीवन नष्ट करता जिस प्रकार पंतगा दीपक की लुभावनी ज्योति में अपने को भस्म करता है। सांसारिक आसक्ति माया है, माया की समता दीपक से दी जाती है।

माया दीपक नर पंतग, भ्रमि–भ्रमि इवै पड़ंत।

कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत ।।[20]–पद–(20)

कबीर कहते है–यह माया बडी लुभावनी है। जिस प्रकार पंतग दीपक–ज्योति के वश में अपने को विनष्ट कर देता है उसी प्रकार मनुष्य काया की लुभावनी चमक दमक में । माया का भ्रम बड़ा मोहक है। माया के चक्कर में पड़ने पर उबरना तभी सम्भव है जब गुरु कृपा मिले।

संसै खाया सकल जग, संसा किनहुँ न खद्ध।

जे बेधे गुर अष्षिरां, तिनि संसा चुणि युणि खद्ध।।[21]–पद–(22)

कबीर कहते है संशय(अविश्वास)–भ्रम ने बहुतों का सर्वनाश किया है, बिरले संत है जिन्होने संशय से मुक्ति पा ली हो। संशय से छुटकारा उसी को मिल सकता है जिसको गुरु के प्रबोध(ज्ञान) प्राप्त हुआ हों–जिनके ह्रदय में गुरु के सबद घुस गए हों । प्रकाश गुरु से मिलता हैं जहाँ संशय(अनिश्चयता) है वहाँ संयम–विवेक का अभाव रहेगा ही। गुरु संशय छेदी है अर्जुन कृष्ण से कहते है'त्वदन्यः संशस्यास्य छेता न ह्यु पपद्यते'(गीता–636)

बूडे. थे परि ऊबरे, गुर की लहरि चंमकि।

भेरा देख्या जरजरा(तब) ऊतरि पडे. फरंकि।।[22] पद(25)

कबीर कहते है अन्य सांसारिक प्राणियों की भांति मैं भी डूब चुका था पर गुरु की कृपा का आलोक मिला और मैंने लोक–वेद का मार्ग छोड़कर अपने को निर्मल बनाया। बिना ह्रदय की स्वच्छता के कोई भवसागर पार नहीं हो सकता–जिस नाव पर सवार था वह जर्जर थी, विनष्ट थी, अतः उसको छोड़कर अपना रास्ता अलग बनाया। भाव है कि मुक्ति के लिए संसार छोड़ना होगा। माया से छुटकारा पाना होगा।

सतगुर साँचा सूरिवाँ, तातैं लोहिं लुहार।

कसणो दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार।।[23] पद(28)

कबीर कहते है कि सतगुरु सच्चा शूर–वीर(आत्मज्ञानी) है। वह लोहे को कंचन कर देने की सामर्थ्य रखता है–वह ऐसा लोहार है जो आपा–पर का भेद मिटा कर मनुष्य को खरा सोना बना देता है। वह पग–पग पर शिष्य को ज्ञान की कसौटी पर कसता है। गुरु की इस कृपा से कबीर ने ततसार(रामनाम) को प्राप्त किया।

थापणि पाई थिति भई, सतगुर दिन्हीं धीर।

कबीर हीरा बणजिया, मानसरोवर तीर।।[24]–पद–(29)

कबीर कहते हैं सतगुरु की कृमा से मुझे धीरता(काम–क्रोध से जूझने की वीरता) प्राप्त हुई। मेरा चित स्थिर हो गया है गुरु ज्ञान के सहारे। अब कबीर का मन इधर–उधर भागता नहीं वह हीरा सदृश राम नाम ब्यावार करता है, आत्मराम बनकर।

निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुर साहब धीर।

निपजी मैं साझी बजां, बांटै नहीं कबीर।।[25] पद–(30)

कबीर कहते है सतगुरु ने परम निधि, अनश्वर सम्पति दी–ततसार दिया। उन्होनें साहस धीरता दी जिससे मैने सिर का सट्टा कर ज्ञान को प्राप्त किया। सतगुरु की कृपा से हीरा(रामनाम चिंतामणि) मिला। यही हमारे वाणिज्य का फल है–यही हमारी भक्ति रुपी खेती की उपज हैं। यह

हीरा–मोती मानसरोवर(ह्रदय गुफा) में प्राप्त लोग है पर यह बाँटने की वस्तु नहीं यह सर का सौदा है।

चौपडि. मांडी चौहटै, अरध उरघ बाजार।

कहै कबीरा रामजन, खैलौ संत विचार।।[26] पद–(31)

कबीर कहते हैं कि बाजार के चौराहे पर चौपडि.(चौसर) का खेल हो रहा है। रामभक्त कबीर सचेत करते है साधको को इस खेल में आसक्त न हों। संभल कर रह। चौपड. का खेल माया हैं। काम–क्रोध इस माया के अंग है, इनसें जूझना ही चौपड. खेलना है।

पासा पकड़या प्रेम का, सारी किया सरीर।

सतगुर दाव बताइया, खेलै दास कबीर।।[27]–पद–(32)

कबीर कहते है जगत् के चौपड. से न खेलों यदि खेलना है तो पासा प्रेम का हो और शरीर को गोट करे। पासा और गोट का प्रयोग इस प्रकार करें जैसे गुरु निर्देश दे ऐसा चौपड. हरिजन के लिए उपयुक्त है। कबीर यही खेल खेलते है।

सतगुर हम सूँ रीझि करि, एक कह्या प्रसंग।

बरस्या बादल प्रेम का, भीगि गया सब अंग।।[28]–पद–(33)

कबीर कहते है सतगुरु ने हम पर प्रसन्न होकर एक ऐसा प्रेम–प्रसंग कहा कि मेरे भीतर प्रेम की वर्षा हो गई और उस प्रेम वर्षा से मैं भीग गया। परितृप्त हो गया।

कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरष्या आइ।

अंतरि भीगी आत्मा, हरी भरी बनराइ।।[29]–पद–(34)

कबीर कहते है कि गुरु के प्रेमोपदेश से मेरे भीतर प्रेम के बादल की ऐसी वर्षा हुई कि मैं पूरी तरह उस वर्षा से भीग गया–मेरा रोम–रोम वर्षा से संतुष्ट हो गया। मेरे घर को कोना–कोना हरा–भरा हो उठा। वर्षा से जैसे वन राजि हरी–भरी, उल्लास युक्त हो उठती है वही दशा मेरे भीतर है।

पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।

निर्मल कीन्हीं आत्मा, ताथैं सदा हजूरि।।[30] पद–(35)

कबीर कहते है कि गुरु ने उस पूर्व ब्रह्म से परिचय करा दिया। फल यह हुआ कि वह सदा हमारे भीतर विराजमान रहता है। एक क्षण के लिए भी वह हटता नहीं। मेरी आत्मा निर्मल हो

गई और मुझे किसी प्रकार का दुख नहीं अर्थात् मुझे सांसारिक सुख–दुख का बोध ही नहीं रह गया है।

(2) सुमिरण कौ अंग

जीवन–कल्याण के लिए भक्ति साधना में 'सुमिरन' का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। यह भक्ति की वह शान्त सहज एवम् रहस्यपूर्ण अद्भुत प्रक्रिया है जिसे कोई अन्य जन देख–परख नही सकता। परन्तु अमुक भक्त के जीवन में बाहर और भीतर इसका आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ता हैं। सदगुरु की शरण में जिज्ञासु भक्त, शिष्य, सेवक जिस नाम–ज्ञान(आत्म–बोध) की दीक्षा ग्रहण करते है, उसके सुमिरन का अटूट सम्बन्ध है। जहाँ प्रेम है, भक्ति है, वहाँ अवश्य ही सुमिरन भी विद्यमान रहता है। सेवा, प्रेम और भक्ति के संयोग में सुमिरन की अनुपम भूमिका है। सुमिरन एक ऐसी परम पावनी अदृश्य सरस्वती की निर्मल धारा है, जो जिज्ञासु भक्तों के जीवन को पवित्र करती हुई उनके मन की अनन्त प्यास(तृष्णा) बुझा देती है। सद्गुरु प्रभु या न हो, पास हों या दूर, परन्तु सुमिरन के माध्यम से उनकी मधुर स्मृति भक्तों को दर्शन का सुख देती है। सुमिरन में विचित्र आकर्षण शक्ति है, जों सेवक और स्वामी को समीप लाती हे। आशा–निराशा का सुमिरन में तनिक भी स्थान नहीं है, क्योंकि इसमें भक्तों को कोई भी फलासक्ति–महत्वाकांक्षा नहीं होती।

'सुमिरन' साधक भक्त की आन्तरिक साधना है। इसकी गुप्त अनुभूति भी आन्तरिक है। अतः इसमें बाह्य वेश धारण का कोई प्रतिबन्ध नहीं। यदि सुमिरन श्रद्धा, एकाग्रता और मनोयोग से न हो तो बाहर के अलंकार माला, छाप, तिलक, कंठी, जनेऊ, सम्पूर्ण वेश आदि मात्र प्रदर्शक (पाखण्ड) रह जाता है। इसमें समय और स्थान का कोई बन्धन नहीं हे। यह तो प्रतिक्षण की स्पष्ट स्वीकृति है। इसमें हर स्थान पर जिज्ञासु भक्त रुप से, प्रेम सहित अपने सद्गुरु के नाम–रुप का सुमिरन करते रहते है। जीवन अनमोल हे। इसमें आने–जाने वाली सांसों का क्रम न जाने कब टुट जाये। अतः सांस–सांस में सुमिरन करने का सद्गुरु का आदेश है। इस प्रसंग में कबीर साहब ने सुमिरन की विशेषता बताते हुए कहा हे कि इससे भक्ति ज्ञान अवश्य होगा।

कबीर कहता जात हौ, सुणता है सब कोई

राम कहें भला हो इगा, नहिं तर भला न होई।।[31]–पद–(1)

कबीर कहते है। कि मैं बार–बार कहता हूँ कि राम कहने से ही भला होगा अन्यथा नहीं। यह सब लोग सुन रहे है।

कबीर कहैं मै कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।

राम नाँव ततसार हे, सब काहु उपदेश।।[32]–पद–(2)

कबीर कहते है कि मै। कहता हू और यही बात परम्परा से ज्ञानी ब्रह्म–शंकर ने कही हे कि राम नाम ही तत्व है, ततसार है अथवा सत्य का सार है–यही एक मात्र सबके लिए उपदेश है।

तत तिलक तिहूँ लोक मैं, राम नांउ निज सार।

जन कबीर मस्तक दिया, सोभत अधिक अपार।।[33]–पद–(3)

कबीर कहते है कि राम नाम ही निजु(सम्यक् अथवा निश्चय रुप से) सार है। यही परम तत्व त्रिलोक में तिलक अर्थात् श्रेष्ठ है। भक्त कबीर ने इसी श्रेष्ठ तत्व को स्वीकारा है। अपने मस्तक पर धारण किया है। इसी से कबीर की शोभा अपार है।

भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुख अपार।

मनसा बाचा क्रमनां, कबीर सुमिरण सार।।[34]–पद–(4)

कबीर कहते हैं केवल एक ही सुख है हरि नाम का भजन, उसी की शक्ति ओर सब दुख है। सुमिरन–ईश्वर नाम खा सतत् ध्यान। यही सार तत्व है इसलिए मन–वचन कर्म से सुमिरन करें।

कबीर सुमिरन सार है, ओर सकल जंजाल।

आदि अंत सब सोधिया, दूजा देखौं काल।।[35]–पद–(5)

कबीर कहते है भवसागर से पार जाने का एक ही भेष है हरिनाम और सब जंजाल(दुख कारक) है। मैंने आदि–अन्त सब देख लिया, सब खोज लिया, रामनाम सुमिरन ही सार है। इसके अतिरिक्त सब काल की भाँति विराशक है।

च्यंता तौ हरि नाँड की, और न चिता दास।

जे कुछ चितवैं राम बिन, सोइ काल कौ पास।।[36]–पद–(6)

कबीर कहते है। मुझ दास को एक ही चिंता रहती है नाम सुमिरन की राम के अतिरिक्त सब काल का फंदा है।

पंच संगी पिब–पिब करै, छठा जु सुमिरे मन।

आई सूति कबीर की, माया राम रंतन।।[37]–पद–(7)

कबीर कहते है। मेरी पाँचों इन्द्रियाँ और छठा मन प्रियतम राम का ही सुमिरन करते है। मैने रामरतन पा लिया है। कबीर निश्चिंत हो गया है।

मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहिं आहि।

इब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि।।[38]–पद–(8)

कबीर कहते है मेरा मन राम को ही सुमिरता है– मेरे मन में वही बसा है, मेरा मन राममय हो गया है सर्वत्र वही, उसके अतिक्ति और दूसरा कोई नहीं इसलिए मैं किसको नमन करूं, किसी को सिर नही नवाऊँ।

तूं तूं करता तू भया, मुझ मैं रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं।।[39]–पद–(9)

कबीर कहते है हे प्रियतम! पहले तो मैं तुमको अलग समझ कर पुकारता रहा पर अब तो अभिन्नता है और मै– मेरापन का भाव ही मेंरे भीतर नहीं रह गया है–अहंकार विहिन है। सर्वत्र तुम्हीं दिखाई देते हो मै तुम पर फिर–फिर(बार–बार) अपने को वारता हूँ। निछावर करता हूँ ।

कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै वाति।
तेल घट्या बाती बुझी, तब सोवैया दिन राति।।[40]–पद–(10)

कबीर कहते है निर्भय हो कर रामनाम जपों जब तक यह घट है और इसके अन्दर प्राण है तब तक ही प्रयास संभव है। तेल घटा और बाती बुझी फिर तो सदा के लिए विश्राम–आराम, फिर जगने का जश्न ही नहीं। दीपक बाती का संबंध ही शरीर और आत्मा में है। कबीर के ये प्रतीकात्मक प्रयोग समस्त सन्त साहित्य में मिलते है।

कबीर सूता क्या करै, जागि न जपै मुरारि।
एक दिनां भी सोवणा, लम्बे पाँव पसारि।।[41]–पद–(11)

कबीर कहते है क्यों सोकर समय गवाँ रहा है–सचेत हो राम–मुरारि का सुमिरन करो । जीवन रहते परमार्थ पर चलो अन्यथा एक दिन काल आवेला तो सब प्रकार से खुला देगा–फिर लंबे पैर करके सोना।

कबीर सूता क्या करै, काहे न देखै जागि।
जाका संग तै बीछुड़्या, ताही के संग लागि।।[42]–पद–(12)

कबीर कहते है क्यों सोकर समय बरबाद कर रहे हो, जागो, पहचानों– जिस परम तत्व को छोड़कर भटक रहे हो उससे अपने को जोड़ो।

कबीर सूता क्या करै, उठि न रौवै दुक्ख।
जाका बासा गोर मै, सो क्यूं सोवै सुक्ख।।[43]–पद–(13)

कबीर कहते है जागो, सोते न रहो–एक पैर क्रब में है, काल सर पर है अतः सुख की नीद संभव नहीं। उठो, उस परमात्मा से अपना संसार संकर की कहानी कहो– उसकी कृपा से मुक्ति संभव है।

कबीर सूता क्या करै, गुण गोबिंद के गाइ।

तेरे सिर पर जग खड़ा, खरच कदे का खाइ।।[44]–पद–(14)

कबीर कहते है सोओ नहीं। जागो, गोविंद का गुणगान करो उसी का सुमिरन करो। यम की तलवार सिर पर लटक रही है–क्या खाना–पीना–आराम।

कबीर सूता क्या करे, सूतां होइ अकाज।

ब्रह्मा का आसण खिस्या, सुणत काल की गाज।।[45]–पद–(15)

कबीर बार–बार सचेत करते हैं कि सोओं नहीं, अन्यथा काम बिगड. जायेगा। काल सिर पर है उसकी गाज(गरज) से ब्रह्म का आसन भी हिल उठता है, अर्थात् काल के आगे किसी की नहीं चलती।

केसौ कहि कहि कूकिये, ना सोइयै असरार।

रात दिवस के कूकणै, (मत) कबहूँ लगै पुकार।।[46]–पद–(16)

कबीर कहते है रात दिन सुमिरन करो। केशव का नाम लो, लगातार सोते न रहो। उसे पुकारो, कभी–न कभी वह तुम्हारी याचना सुनेगा और तुम्हें कलि के दुख से मुक्त करेगा।

जिहि घटि प्रीति न प्रेम इस, फुनि रसना नहीं राम।

ते नर इस संसार में, उपजि पये बेकाम।।[47]–पद–(17)

कबीर कहते है कि जिसने ह्रदय में राम–गोविंद के प्रति रोम नही। प्रेम–रस नही और जिसकी वाणी से राम नाम का सुमिरन नही उनका इस संसार में आना व्यर्थ है– वे क्षय को प्राप्त हुए। उसका मनुष्य–योनि में जन्म लेना बेकार रहा।

कबीर प्रेम न चाषिया, चषि न लीया साव।

सूने घर का पाहुणाँ, ज्यूँ आया त्यूं जाव।।[48]–पद–(18)

कबीर कहते है कि मनुष्य ने जन्म धारण करके यदि प्रीति–प्रेम का स्वाद न चखा तो इस संसार में आने का क्या लाभ? यह आवागमन वैसा ही है जैसे कोई अतिथि किसी सूने घर में जाय जहाँ उसे आतिथ्य का सुख न मिले।

पहली बुरा कमाइ करि, बाँधि विष की पोट।

कोटि करम किल पलक मै, (जब) आया हरि की ओट।।[49]–पद–(19)

कबीर कहते है कि मनुष्य जन्म जन्मांतर में बुरी कमाई करता है और अब विष (विषय) की गठरी ढोता फिरता है। विषयों में सुख कहाँ? यदि वह भगवत् शरण–हरि की ओट ले तो करोड़ों जन्म का कुकरम पलक भर में भगवत्कृपा से विनष्ट हो जाता हैं।

कोटि करम पे लै पलक मैं, जे रञ्चक आवै नाउँ।

अनेक जुग जे पुन्नि करै, नही राम बिन ठाउँ।।[50]–पद–(20)

कबीर कहते है कि भगवान इतना कृपालु है कि नाम लेते ही करोड़ो जन्म के बुरे कर्मों से मुक्त कर देता है उन्हें ठेलकर दूर हटा देता है अर्थात् कुकर्मों से छुटकारा मिल जाता हे और हमारे जो पुण्य कर्म है वे तभी साथ देते है जब राम का सहारा हो।

जिहि हरि जैसा जाँणियाँ, तिन कूं तैसा लाभ।

ओसों प्यास न भाजई, जब लग धसै न आभ।।[51]–पद–(21)

कबीर कहते है जो जैसी भक्ति करता है उसे वैसा लाभ होता है यदि प्यास बुझानी है तब पुरी तरह प्रेम–रस में अपने को डुबों दो– ओस चाटने से प्यास नही जाती।

राम पियारा छाँडि. करि, करै आन का जाप।

वेस्वाँ केरा पूत ज्यूँ, कहै कौन सूँ बाप।।[52]–पद–(22)

जो राम–प्यारा है वह राम का भजता है क्योंकि वही सबका स्वामी है। जो अपने राम को नहीं पहचानता दूसरों का आसरा करता है वह उसी प्रकार है जैसे वेश्या का पूत जिसके बाप का पता न हों

कबीर आपण राम कहि, औरा राम कहाई

जिहि मुखि राम न ऊचरे, तिहि मुख फेरि कहाइ।।[53]–पद–(23)

कबीर कहते है लोगो! राम कहो और दूसरों से राम कहलाओ। जिस मुख से राम–नाम न निकले उससे फिर–फिर कहलाओ।

जैसै माया मन रमैं, यूँ जे राम रमाइ।

(तौ) तारा–मंडल छाँडि. करि, जहाँ केसौ तँह जाइ।।[54]–पद–(24)

कबीर दास कहते है कि जिस प्रकार मनुष्य का मन माया–नारी और धन आदि में लगता है यदि उसी प्रकार सें मन मनुष्य राम में मन लगावे तो वह उस अनंत ईश्वर के स्थान को, तारा मंडल से परे, पहुँच जाय।

लूटि सकै तो लूटियौ, राम नाम है लूटि।

पीछै ही पछिताहुगे, यहु तन जैहे छूटि।।[55]–पद–(25)

कबीर कहते है कि इस जीवन को सार्थक बनाना हो तो राम नाम को लूटो उसी से प्रेम करो, अन्यथा जीवन बीत जायेगा और अन्ततः पछताना होगा।

लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम भण्डार।

काल कण्ठ तैं गहैगा, रूँधे दसूं दुवार।।[56]–पद–(26)

कबीर कहते है कि राम नाम का भण्डार लूटो जितना लूट सको। यह जीवन उसी के लिए मिला है उसी को प्राप्त करों अन्यथा, समय आने पर काल आयेगा–दसो इन्द्रियों को, जिससे तुम भोग कर रहे हो, रूँध देगा अर्थात् मृत्यु हो जायेगी।

लम्बा मारग दूरि घर, विकट पंच बहु मार।

कहौ सन्तौ क्यू पाइया, दुर्लभ हरि दीदार।।[57]–पद–(27)

कबीर कहते है परमार्थ का मार्ग। बहुत लम्बा है, बहुत दूर है, बहुत विकट घातक है। इसमें मृत्यु है कष्ट ही कष्ट है हरि का साक्षात्कार अतः सहज नही।

गुण गायें गुण ना कटै, रटै न राम वियोग।

अह निसि हरि ध्यावै नही,क्यूं पावै दुर्लभ जोग।।[58]–पद–(28)

कबीर कहते है मात्र ज्ञान से त्रिगुणात्मक जगत का बंधन कटता नही और न रहने से राम का वियोग जाता है, इसके जिए सतत सुमिरन ध्यान करना होगा; तभी हरि को पना सहज है अन्यथा जोग (अद्वैतता) दुर्लभ है।

कबीर कठिनाई खरी, सुमिरंता, हरि नाम।

सूली ऊपरि नट विद्या, गिरूँ त नाहीं ठामं।।[59]–पद–(29)

कबीर कहते है कि सुमिरन आसान नही है। यह उतना ही कठिन है जितना सूली ऊपर नट का चलना यदि नट फिसला तो कहीं का नही यदि साधक विषय–भोग की ओर आकृष्ण हुआ तो बस विनाश।

कबीर राम ध्याइ लै, जिभ्या सौं करि मंत।

हरि सागर जिनि बीसरै, छीलर देखि अनंत।।[60]–पद–(30)

कबीर कहते है माया का सुख एक छीलर पानी का गड्ढा है और भगवान समुद्र। छीलर में न रमो, राम से प्रीति करो...राम का ध्यान और राम नाम का जप। छीलर का क्या भरोसा कब सूख जाय।

कबीर राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ।
फूटा नग ज्यूं जोडिं मन, रुंधे संधि मिलाइ।।[61]–पद–(31)

कबीर कहते है कि अपने मन को भगवान से एक करो। कहीं से अलगाव न रहे जिस प्रकार फटे नग को जौहरी संधे–संधि मिलाकर जोड.ता है उसी प्रकार चंचल मन को राम से अद्वैत करे।

कबीर चित चंमकिया, चहुँ दिसि लागी लाइ।
हरि सुमिरण हाथूं घड़ा बेगे लेहु बुझाइ।।[62]–पद–(32)

कबीर कहते है कि संसार में विषय की दावाग्नि लगी है। गुरु ज्ञान से चित में प्रकाश प्रकट हुआ। इस विषयाग्नि को राम सुमिरन से शांत कर सकते है। प्रीति–रस में मन लगने पर यह अग्नि स्वतः बुझ जायेगी।

(3) चितावणी को अंग

प्रकाश का अभाव सभी का चुभता है, क्योंकि अंधेरे में कुछ भी नही सूझ पड़ता। ठीक से रहा नहीं जाता, अतः सभी को रोशनी की अत्यन्त आवश्यकता होती है। भौतिक जगत का यह अंधेरा सूरज–चाँद, दिया बती आदि से देर–सवेर सभी का दूर हो जाता हैं। परन्तु इससे भी अधिक भयावह गहन अंधेरा है–अज्ञानता, माया–मोह का जीवन में यह अंधेरा चिरकाल से, अहन्ता–ममता, राग–द्वेष तथा विषय–वासना आदि के विभिन्न रुपों में व्याप्त है। अज्ञानी जीव इसमें ऐसे खोये और भटके हुए है कि चाहकर भी इसे नही समझ पाते। इतने असमर्थ है कि इसे वार नहीं कर सकते। अपने ही अंहकार से परास्त हुए, एक–दूसरे को दोष देते हुए, नाना प्रकार के दुष्कर्मों में प्रवृत, भव–जंजाल में फंसे हुए जन्मते–मरते रहते है। जीवन अशान्त–आहत, पीड़ित व्याकुल तथा कल्पित सुख–दुख कें द्वन्द्वों में फंसा निरर्थक सा प्रतीत होता हैं अन्ततः क्या इसका कोई उपाय है? यदि इसका कोई समाधान नहीं हो सका तो परिणाम क्या होगा? सच्चे जिज्ञासु जन ही लगन एवं पुरुषार्थ से इसका हल खोज सकते है।

अज्ञानता के इस अंधकार को हटाने में केवल सद्गुरु ही समर्थ है। उनके सदुपदेश का सूर्योदय होते ही जिज्ञासु जनों के हृदय से यह अंधेरा छंटने लगता है। प्रस्तुत चेतावनी प्रसंग में सद्गुरु कबीर साहेब ने सबको चेताया है तथा जगत को परम जाग्रति प्रदान की है। इसमें गहन

निद्रा में सोये लोग जाग उठें और अहंकार के वशीभूत कुमार्ग पर जा रहे व्यक्ति सन्मार्ग पर आ जायें। संसार असार है। यह जैसा दिखता है, वैसा नही है। यह परिवर्तन शीलन है। यहाँ जो आज है, कल नही होगा। इसके सौन्दर्य के पीछे कुरुपता और सुगन्ध के पीछे दुर्गन्ध का फैलाव है। यहाँ जो भी आया है, उसे जला जाना है। मिथ्या–माया–मोह को त्यागकर, सत्य ज्ञान का आचरण करो। कहीं बाद में पछताना न पडे., अतः समय रहते अपने जीवन का कल्याण–साधन कर लो–

कबीर नौबति आपणी, दिन दस लेहु बजाइ।

ए पुर पटण ए गली, बहुरि न देखै आइ।।[63]–पद–(1)

कबीर कहते है हे मनुष्यों! चेतो, इस मनुष्य शरीर का उपयोग करो। भगवद् भक्ति के लिए यह जन्म नश्वर है, संसार का सारा सुख–वैभव क्षणिक है। यह चार दिन की चाँदनी है, दस दिन नौबत बजा लो (ऐश्वर्य का नगाड़ा बजा लो) अन्ततः काल सब कुछ समाप्त कर देगा। भोग–विलास का यह संसार यह पुर, यह पाटन(बाजार) यह गली पुनः नहीं देखने को मिलेगें। यह शरीर सब कुछ छोड़कर चला जायेगा।

जिनके नौबति बाजती, मेंगल बँधते बारि।

एकै हरि के नांव बिन, गए जन्म सब हारि।।[64]–पद–(2)

कबीर कहते है–जिन अमीरों के यह नोबत बजती थी, मंगलोत्सव मनाया जाता था, जिनके द्वार पर मदमस्त हाथी बँधते थे वे भी बिना हरिशरण जीवन की बाजी हार गए, जीवन उसी का सार्थक है जो हरि का संतत स्मरण रखे।

कबीर ढोल दमामा दुड़गड़ी, शहनाई संगि केरिं

औसरि चल्या बजाय करि, है कोइ राखै केरि।।[65]–पद–(3)

कबीर कहते है–राजा लोग उत्सव–राग रंग जीवन भर करते है। ढोल, दमामा(धौंसा, नक्कारा), दुड़बड़ी, सहनाई–भेरी (संभेरी–नगाड़ा) उनके यहाँ बजते हैं पर औसर(अन्तिम समय) आने पर उन्हें यहाँ से चला जाना पड़ा।

कबीर थोड़ा जीवना, मांडै बहुत मंडान।

सब ही ऊभा मेल्हि गया, राव रंक सुलतान।।[66]–पद–(5)

कबीर कहते है जीवन अल्प है पर मनुष्य बड़े–बड़े मंडप–महल बनाता सजाता है ऐसा लगता है मानों यहीं रहना है। पर बात उल्टी है। राजा रंक–सुल्तान–सभी यह ऊँचा, उठा हुआ मंडप (महल) आदि यहीं छोड़कर चले गए।

कबीर पट्टन कारिवां, पंच चोरदस द्वार।

जम राना गढ. थेलिसी, सुमिरि लेहु करतार।।[67]–पद–(7)

कबीर कहते है–यमराज (काल) इस गढ. (शरीर) को नष्ट कर देगा। यह पट्टन (पतन–नगर), यह कारिवां–काफिला सुरक्षित नही है। इस नगर (शरीर) में पंच विकार पंच चोर है और इसके दस द्वारों से इसे लूटा जा रहा है। ऐसी स्थिति में मनुष्य, सृष्टि कर्ता को सुमिरना न भूल।

कबीर कहा गरवियो, देही देखि सुरंग

बीछड़िया मिलिबो नही, ज्यों कांचली भुंवग।।[68]–पद–(9)

कबीर कहते है इस देह के रंग–रुप पर गर्व कैसा! यह तो क्षणिक है। जैसे सर्प केंचुली छोड़ता है और वह फिर उसे प्राप्त नहीं कर सकता उसी प्रकार यह सुन्दर देह केंचुली सदृश छूटना ही हैं। फिर यह शरीर कहाँ मिलनी है।

कबीर जामण मरण बिचारि करि, कूडे काम निवारि।

जिनि पंचौ तुझ चालणां, सोई पंच संवारि।।[69]–पद–(14)

कबीर का कथ्य है जीवन मरण पर विचार करें–काल सर्वोपरि है। कूड़ा(झूठ–फरेव) से बचें। परमार्थ पथ (आत्मज्ञान) ही लक्ष्य है। हरि का ध्यान करो उसी की शरण जाओ। उसी राम नाम पथ को सवारो।

हाड. जरै ज्यों लाकड़ी, केस जरै ज्यौ घास।

सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास।।[70]–पद–(16)

कबीर इस शरीर की नश्वरता देखकर उदास (अनासक्त) हो उठते है–हड्डियाँ लकड़ी सदृश और बाल घास सदृश जल रहा है। यह है शरीर का क्षणिक सौन्दर्य! यह दृश्य देखकर कबीर संसार में (विषयों से) उदास (विरक्त) हो जाते है।

कबीर मंदिर ढहि पड़ा, ईंट भई सैवार।

कोई चेजारा चिणि गया, मिल्या न दूजी बार।।[71]–पद–(17)

कबीर इस शरीर को देवल–मंदिर मानकर कहते है यह एक दिन ढह जायेगा, विनष्ट हो जायेगा और (दफनाने के बाद) कब्र पर घास उगी दिखाई देगी। इस मंदिर को चुनने वाले कारीगर ने एक बार बना दिया, दूसरी बार यह मनुष्य तन कहाँ मिलना है? इसलिए तन–मन को उस परमात्मा राम का प्रीति में लावैं।

कबीर जै धंधौ तो धूलि, बिन धंधै धूलै नहीं।

ते नर बिनठै मूलि, जिन धंधै में ध्याया नही ।।[72]–पद–(21)

कबीर का कथ्य है–धंधा(माया–सांसारिक त्यौहार) में फँसने पर धूलि ही मिलेगी, यदि माया में नही फँसेगा तो मुख में धूल नही पड़ेगी अर्थात् विनष्ट नही होगे। धंधा (संसार) में रहकर जिन्होने उस करतार का ध्यान, उस चेजारे की भक्ति नही की अथवा हरिनाम नहीं लिया उसकी बात सब प्रकार से विनष्ट हो गयी, वह जीवन हार गया क्योंकि उसने राम नाम को नहीं जाना।

कबीर सुपिनै रैणि के, पारस जीभ मैं छेक।

जे सोंऊ तो दोइ जणां, जे जांगू तौ एक।।[73]–पद–(23)

कबीर अज्ञान–ज्ञान, स्वप्न–जागृत के अन्तर को समझाते हुए कहते है कि स्वप्न (अज्ञान) में जीव और पारस (राम) में अन्तर रहता है इसी से वह अपने को सारे कष्टों से युक्त समझता है पर ज्ञान चक्षु खुलते ही उसे राम से ऐक्य की अनुभूति होती हैं अद्वैत भाव ही ज्ञान हैं।दो की अनुभूति अज्ञान है स्वप्न अज्ञान का द्योतक है।

कबीर आया अण आया भया, जे बहु रता संसार।

पड़या भुलावा गाफिला, गए कुबुधी हार।।[74]–पद–(26)

कबीर कहते है कुबुद्धि (अज्ञान) के कारण जो संसार के धंधे में ही रात–दिन लीन रहते है और भगवान का ध्यान नही करते वे अपने कर्तव्य–कर्म के प्रति गाफिल–लापरवाह हैं, वे भुलावे में है। वे जीवन का दांव हार जाते है–उनका मनुष्य शरीर में आना सार्थक नही होता है।

कबीर माटी मलणि कुंभार की, षणी सहै सिरि लात।

इहि औसरि चेत्या नहीं, चूका अब की घात।।[75]–पद–(29)

कबीर एक अन्योक्ति के चेतावनी देते है–कुम्हार की माटी मलने की प्रक्रिया में कितनी रौंदी जाती हैं। लात से, पर वह अपने को अज्ञानता के कारण उससे मुक्ति नही पा सकती। मनुष्य सचेतन है पर वह सांसारिक यातनाओं को बार–बार सहता हुआ भी चेतता नहीं। यदि मनुष्य योनि पाकर भी वह अपने राम का ध्यान सुमिरन नही करता तो उसका जीवन व्यर्थ है अबकी बार चूक गया तो फिर यह मनुष्य–तन नही मिलने का, ऐसा अवतार फिर कहाँ? कुंभार की मलिन माटी प्रतीक है इस शरीर का।

कबीर राम नाम जाण्या नही, बात बिनंठी मुलि।

हरत इहां ही हारिया, परति पड़ी मुख धूलि।।[76]–पद–(32)

कबीर कहते है–राम नाम का सुमिरन–ध्यान ही सार तत्व है। जो उस हरि भक्ति को नही जानता है उसका जन्म ही व्यर्थ हैं। वह इस संसार में जीवन की बाजी हार गया वह भवसागर पार नही हो सकेगा, जन्म मृत्यु से उसे छुटकारा नहीं मिलेगा। अन्ततः काल उसे खा जायेगा।

कबीर मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारम्बार।

तरवर थै फल झडि पड्या, बहुरि न लागै डार।।[77]–पद–(34)

कबीर मानव–जन्म की महता पर बल देते हुए कहते है यह शरीर बार–बार नही मिलता है अतः इसे परमार्थ–हरि भक्ति में लगाना चाहिए। जिस प्रकार किसी वृक्ष में फल लगे और झड. जाय, फिर दुबारा वह फल पेड. में नही लग सकता उसी प्रकार एक बार विनष्ट हुआ शरीर फिर मिलने वाला नही । अन्यत्र कवि ने शरीर को काठ की हाँडी कहा है जो बार–बार नही चढाई जा सकती।

कबीर यहु तन जात है, सके तो ठाहर लाइ।

कै सेवा करि साध की, कै गुण गोब्यंद गाई।।[78]–पद–(36)

कबीर कहते है यह शरीर तो चला जाने वाला है। इसे कौन रोक सकता है? इसलिए अच्छे कर्म कर लें। जीवन की सार्थकता संत–साधु के सत्संग अथवा उनकी सेवा में है। भक्त का काम है हरि गुणगान, हरि सुमिरन। संत–संग से ह्रदय निर्मल होगा और हरि गुन गाने से मन रमा रहेगा ईश्वर में ।

कबीर अपने जीव तैं, ए दोइ बातैं धोई

लोभ बड़ाई कारणै, अछता मूल न खोई।।[79]–पद–(41)

कबीर बार–बार जीवन–मूल (भगवद् भक्ति) पर बल देते है। कबीर का मूल राम है, रामभक्ति है। सूरदास ने हरि को 'जीवन मूरि' कहा है। 'मूल' के बाधक है लोभ और मान की इच्छा। बड़ाई की चाह मैं–मेरा की भवना को पोषित करती हैं। लोभ–बड़ाई के भाव को मूलतः उखाड. फेंकने पर कबीर का आग्रह हैं । इसके बिना राम भक्ति संभव नही है।

कबीर खंभा एक गंइद दोइ, क्यूं करि बंधसि बारि।

मानि करै तो पीव नहीं, पीव तौ मान निवारि।।[80]–पद–(42)

कबीर मान–बड़ाई की इच्छा के विरोध में कहते है, जहाँ मान मै और अंहकार का भाव है वहाँ राम (प्रिय) नही । भक्ति में मै का तिरोभाव हैं प्रियतम और मान एक साथ संभव नही। इसी को अन्योक्ति के सहारे कबीर कहते है–एक खम्भे में दो हाथी नही बाँधे जा सकते द्वार पर, एक हाथी एक ही खम्भे पर रहेगा।

कबीर कुल खोया कुल ऊबरै, कुल राख्यां कुल जाइ।

राम निकुल कुल भेंटि लै, सब कुल रह्या समाइ।।[81]–पद–(45)

कबीर जाति–पाति कुल–कुटुम्ब जन्म भेद से ऊपर उठने की बात कर रहे हैं। 'लोक वेद' और कुटुम्ब के रास्ते पर चल कर माया–मोह में मेंरा से मुक्ति नहीं। कबीर की चेतावनी है कि कुल के बन्धन की रक्षा करने पर राम से नाता छूट जायेगा। यदि जाति कुल का भेद मिटाकर धर्म–मार्ग पर चलेंगे तो इहलोक–परलोक दोनों बनेगा। राम का कोई कुल नही है। राम में अपने को आटे में नमक सदृश एक कर दे उसी में समा जाय कुल खोया' अर्थात् 'जाति–पाति कुल सब मिटे'। भेद समाप्त हो।

जिहिं जेवड़ी जग बंधियां, तूं जिनि बंधै कबीर ।

ह्वैसी आटा लूण ज्यूं, सोनां सवां सरीर।।[82]–पद–(48)

कबीर जग के बन्धन और राम भक्ति से मुक्ति की बात कहते है–संसार माया है, झूठा है, यह बन्धन है। कबीर अपने को सचेत करते हुए कहते है कि हे कबीर तू 'मोर–तोर की जेवड़ी' (रस्सी) से न बँध। तू राममय हो। राम में लौ लगाकर उनसे एक हो जा जैसे आटा में नमक रखने पर वह उससे एकत्व प्राप्त कर लेता है। ऐसा करने पर ही स्वर्ण सदृश शरीर राम में समा सकेगा माया से चिपटे रहने पर न ह्रदय शुद्ध होगा और न राम मिलेगें।

कबीर हद के जीव सूं, हित करि मुखां न बोलि।

जे लागें बेहद सूं, तिन सूं अंतर खोलि।।[83]–पद–(50)

कबीर हद–बेहद का प्रयोग संसार और राम के लिए क्रमशः करते है। उनका कहना है कि जो सांसारिक विषयों में रमा है उससे हित करना, प्रेम करना अपने को धोखे में, दुख में डालना है। जो संत बेहद (राम) से जुडे. है उनसे ही अपने ह्रदय की बात खोलें।

कबीर केवल राम कहि सुध गरीबी झालि।

कूड़ बड़ाई बूड़सी, भारी पडिसी काल्हि।।[84]–पद–(52)

कबीर राम के आश्रय की महिमा गाते हुए कहते है कि दास की गरीबी भली–बड.प्पन कूर(मिथ्या) है; यह मनुष्य को पतित करता है इसे डुबोता है। झूठी बड़ाई का बोझ डुबो देगा। बड़ाई अंहकार से बचें।

कबीर तेरा सगी को नहीं, सब स्वारथि बंधी लोई

मनि परतीति न उपजै, जीव बेसास न होइ।।[85]–पद–(55)

कबीर कहते है–मनुष्य अनुभव करता है कि संसार स्वार्थमय है हमारा कोइ संगी–साथी नही फिर भी मन में भगवान की प्रतीति (पक्की आस्था) नही उत्पन्न होती–जीव को यह विश्वास नही होता कि उसका हितू एक मात्र राम है।

कबीर डागल उपरि दौड़णा, सुख नीदंड़ी न सोइ।
पुनै पाये द्योहडे., ओछी ठौर न खोइ।।[86]–पद–(59)

कबीर कहते है–बडे. पुण्य से वह देवघर शरीर मिला है। इसका उपयोग होना चाहिए। अनुचित कर्म नही किया जाना चाहिए। विषयों से दूर हो। सुख की नींद छोडे. , गरीबी से रहें। जीवन पाना कठिन है–डागल (कंकड.–पत्थर) पर दौड.ना है।

कबीर मै मैं बड़ी बलाइ है, सकै तौ निकसो भागि।
कब लग राखौ हे सखी, रूई पटेली आगि।।[87]–पद–(60)

कबीर कहते है मैं–मेरा का भाव अथवा अहंकार बड़ी बला मुसीबत है। इस मै के कारण ही राम नही मिलते जिस प्रकार आग से लिपटी रूई को भस्म होने से कोई रोक नही सकता वह क्षणभर में विनाश कर सकती है उसी प्रकार मै से युक्त मानव कभी भी आध्यात्मिक दृष्टि से विनष्ट हो सकता है।

कबीर मैं मै मेरी जिनि करै, मेरी भूल विनासं
मेरी पग का पैंखंड़ा, मेरी गल को पास।।[88]–पद–(61)

कबीर कहते है मै–मै मेरी–मेरी (मेरापन, अंहभाव) मूल धर्म (भगवद् भक्ति) का विराधी है। 'मै' आग है जो सद्विचारों को विनष्ट कर देती है। आध्यात्मिक दृष्टि से 'मैं' पैर की बेड़ी अथवा गले की फांसी है। अर्थात् 'मैं' (भेद) को बन्धन तोड.ने पर ही आत्म साक्षात्कार सम्भव है।

कबीर नाव जरजरी, कूडे. खेवणहारं
हलके हलके तिरि गये, बूडे. जिन सिरि भार।।[89]–पद–(62)

कबीर दास कहते है भव पार होने के लिए हरिनाम की नाव चाहिए। शास्त्रज्ञान, कर्मकाण्ड का भरोसा नही वह तो जर्जर (टूटा–फूटा) है। उससे पार जाने की संभावना ही नही। खेवणहार यदि परमात्मा, संतसंग अथवा गुरु है तभी नाव पार लगेगी। कूड़े (निगुरा–अनाचारी) खेवणहार (सांसारिक–धंधे में लगे लोग) से नाव कहाँ पार हो सकती है? पार वही जायेगा जिसके सिर पर अंहकार–अनास्था आदि का बोझ न हो। जो अनासक्त है, आत्माराम है, संत्संगी वही हलका है और वही पार हो सकेगा। नाव ठीक हो और खेवट भी ठीक हो तभी नाव पार लगेगी। सतगुरु के ज्ञान–दीपक से ही मनुष्य हलका होता हैं अन्यथा वह माया–तृष्णा, 'मै' के बोझ से भार रहता हैं

(4) कथनी बिना करणी को अंग

मुख से जो ज्ञान–उपदेश दिया जाता है, उसे ही कथनी कहते हैं कथनी के साथ करनी का विशेष सम्बन्ध हैं। जैसा मुख से कहा जाये, वैसा ही उसे करनी में उतारा जायें, तभी कथनी की सार्थकता है। हम सत्य, प्रेम, अहिंसा, विवेक आदि सद्‌गुणों की चर्चा कितनी भी क्यों न करे, परन्तु यदि उन्हें अपनी करनी में नही उतारा, तो फिर उस ज्ञान–चर्चा का अर्थ क्या रहा? मुख से निकली ज्ञान की सार–गर्भित बात भी, बिना करनी के सार–हीन हो जाती है। कथनी कथने वाले लोग तो इस संसार में बहुत है, परन्तु करने (आचरण) वाले बहुत कम। जो दिन भर अपनी मधुर कथनी से कथा–कीर्तन ज्ञान–उपदेश, प्रवचन आदि दूसरों को सुनाते रहते है, उनकी तथा श्रोताओं की करनी उस कथनी जैसी नही होती। जीवन में कोई सुधार नही होता, क्यों? क्योंकि जब तक स्वयम् वक्ता की कथनी और करनी से एकता–समरुपतर नही होगी, तब तक उसकी कथनी का प्रभाव उचित रुप से श्रोताओं पर नही पड़ता।

हम स्वयम् तो अशान्त मन है। और दूसरों से शान्त रहने को कहें, हम स्वयम् तो झूठ बोला करें और दूसरों को सत्य बोलने को उपदेश दें तथा हम लुके–छिपे किसी को पीड़ा पहुचाएँ और अंहिसा पर प्रवचन करें आदि, तो इससे क्या लाभ होगा? यह सब निरर्थक होगा। अतः कथनी और करनी का अन्तर मिटाना चाहिए, तभी इससे अपना और दूसरों का भी सर्वाधिक विकास होगा। यदि कथनी न भी हो तो कोई बात नही, परन्तु पवित्र करनी (कहनी) का जीवन में होना नितांत आवश्यक है। इस प्रसंग में कबीर साहब ने कथनी से अधिक भक्ति–ज्ञान के आचरण (करनी) का निर्देश किया है–

कबीर मैं जान्यूं पढ़िबौ भलौ, पढ़िबा कै भलो जोग।
राम नाम सूं प्रीति करि, भलि भलि नीदौ लोग।।[90]–पद–(1)

शास्त्र ज्ञान की व्यर्थता और भगवत् प्रीति की सार्थकता पर कबीर को अखण्ड अटूट आस्था है। राम नाम से किया गया शुद्ध हृदय हरि योग्य है। भले ही निंदा करे, अंनादर करें, उपेक्षा करें पर राम नाम से प्रीति जोडना ही जीवन की सफलता है।

कबीर पढ़िबा दूरि करि, पुसतक देइ बहाइ।
बावन आषिर सोधि करि, ररै ममै चित लाइ।।[91]–पद–(2)

कबीर कहते है पढने या शास्त्र ज्ञान से शान्ति नही मिलेगी और न जीवन का उद्धार होगा। असली चीज है करनी राम नाम से प्रीति, राम से नाता। बावन अक्षरों को खोजों–जांचो। र म यही दो अक्षर सिरमौर है, इन्हीं में रमो। राम से प्रीति का अर्थ है शुद्ध चिन्तन, शुद्ध आचरण।

कबीर पढ़िबा दूरि करि, आथि पढ्या संसार

पीड न उपजी प्रीति सूं, तो क्या करै पुकार।।[92]–पद–(3)

कबीर हिन्दू–तुर्क दोनों से कह रहे है वेद कुरान पढकर यदि प्रीति न उत्पन्न हुई उस पारब्रह्म से तब सारा कीर्तन, अजान व्यर्थ है। संसार पढा तो है पर कहाँ हैं परस्पर प्रीति, सद्भावना, समता, सहनशीलता। अतः पढने से अधिक करना मुख्य है, शास्त्र से योग प्रमुख है। बाह्याचार से आंतरिक प्रेम महत् है।

कबीर पोथी पढि–पढि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।

एकै अषिर पीव का, पढै सु पंडित होइ।।[93]–पद–(4)

कबीर प्रेम योग की श्रेष्ठता पर बल देते हुए कहते है ज्ञान का मूल है प्रेम–ईश्वर के चरणों में प्रीति। पढना जानकारी के लिए अपेंक्षित है, सच्ची भगवत् प्रीति के लिए नहीं। संसार पढ–पढ कर चला गयाः किसने वह अलौकिक आनंद प्राप्त किया जो प्रीति से मिलता है। अतः उस प्रिय परमेश्वर को पहचानो राम के दो अक्षरों को जानों। सारा ज्ञान इसी में समाया है। प्रेम ह्रदय का भाव है, पढ़ना मस्तिष्क का। पढाई साधक भी हो सकती है और बाधक भी।

(5) काल कौ अंग

काल का सभी प्राणी–पदार्थों के साथ अटूट सम्बन्ध है और यह प्रतिक्षण सबके साथ लगा रहता है। काल के कारण सबकी गति अवरुद्ध हो जाती है। इसके सम्मुख सब क्रियाहीन तथा संज्ञा–शून्य हो जाते है। काल–चक्र कभी रुकता नही है, अबाध गति से चलता रहता है। संसार भर में होने वाली हर घटना या दुर्घटना, बनने–बिगड़ने वाली स्थिति–परिस्थिति इसके अन्तर्गत ही होती है। काल के अर्थ से लगभग सभी परिचित है परन्तु काल से भय लगता है, इसीलिए लोग इसे जानकर भी अनजान बने रहते है, क्या गरीब, क्या अमीर, क्या राजा, क्या प्रजा। सभी के ऊपर काल का साया है और किसी भी क्षण वह किसी का भी गला दबोच लेता है। कितना भी अच्छा महल–मकान बनवाओ, कितने भी पहरेदार नियुक्त करो तथा कितने ही सुरक्षा के प्रबन्ध करो, परन्तु काल सभी को लांघ–भेद कर आ जाता है। काल के सम्मुख तो सब निर्बल और असहाय है, उससे कोई छुप नही सकता। उससे कितनी भी पीठ घुमाओ, उसे कोई अन्तर नही पड़ता, उसका आक्रमण तो सब ओर से है। कितनी भी विनती करो, प्रार्थना करो, गड़गिड़ाओ, परन्तु वह नही सुनता। वह बड़ा कठोर, क्रूर और निर्दयी है। किसी न किसी रुप मे वह हर किसी को अपना ग्रास बना लेता है।

यह कटु सत्य है कि जो जन्मा है, निश्चित ही उसका मरण होगा। जो बना है, वह बिगड़ेगा भी तथा जो है, वह नही रहेगा। आज का वर्तमान, भूत हो जायेगा और कल का भविष्य, वर्तमान हो जायेगा। यहाँ एक ओर सृजन, दूसरी ओर प्रलय, क्या निर्माण की खुशी, क्या विध्वंस का रोना। कुछ भी स्थायी नही है, सब अस्थायी है। एक ओर यदि क्षणिक सुख की प्राप्ति तो दूसरी ओर बिछुडने का विलाप। यह संसार ही असार है, रात्रि के स्वप्न जैसा है, परन्तु मोह–निंद्रा में भासता नही, सत्य सा प्रतीत होता है। अतः यहाँ किसी को अपने तन–यौवन–जन–सम्पति (माया) का मिथ्या अंहकार नही करना चाहिएं। राग–द्वेष विषय–वासना आदि विकारो में पड़ना तो काल के घोर नरक में पड़ना है। इस प्रसंग में कबीर साहब ने काल की प्रबलता को दर्शातें हुए कहा है कि सद्गुरु के ज्ञानोपदेश का आचरण कर अविनाशी आत्मबोध प्राप्त करो–

कबीर झूठे सुख कौं सुख कहै, मानत है मनमोदं

खलक चवीणां काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद।।[94]–पद–(1)

काल के भय से सब त्रस्त है जहाँ भय है वहाँ शांति नही। कबीर कहते है मृत्यु की तलवार हम सब पर लटकती रहती है फिर भी हम सचेत नही। हम विषय–सुख, जो क्षणिक है, को सारा सुख मानते है और आनंदित होते हैं। आत्म सुख स्थायी सुख है वही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। काल के लिए संसार चबेना सदृश है–कुछ भाग वह खा चुका है कुछ शेष है जिसे वह खानेवाला है।

कबीर आज कि काल्हि कि निसह में, मारगि माल्हंता।

काल सिचाणा नर चिड.ा, औझड. औच्यंता।।[95]–पद–(2)

कबीर कहते है कि काल सचाण (बाज) नर (मनुष्य रुपी चिड़ा) पक्षी को औचिंते हमला कर डालता है। काल कब उठा ले जायेगा इसे कोई नही जानता।

कबीर काल सिंह्नाणै यूं खड़ा, जागि पियारे म्यंत।

राम सनेही बहिरा, तूं क्यूं सोवे नच्यंत।।[96]–पद–(3)

कबीर का उद्बोधन है जागो मीत, काल सिरहाने खड़ा है जब चाहे निगल जाये। निश्चिंत क्यों हो? राम से अलग रहने में कल्याण नही अर्थात् तनमन सौंपकर राम में लौ लगाओ वहीं काल भय से मुक्ति दिला सकता है।

कबीर सब जग संत नींद भरि संत न आवै नींद।

काल खड़ा सिर ऊपरै ज्यूं तोरणि आया बींद।।[97]–पद–(4)

कबीर कहते है संत जानता है कि काल सिर ऊपर खड़ा है–वह उसी प्रकार दूर नही जा सकता जिस प्रकार तोरण पर आया दूल्हा नही हटाया जा सकता। जो हरि भक्त है उन्हें रात–दिन सचेत रहना पड़ता है कर्तव्य–धर्म के पालन में, नींद कहाँ? जो सांसारिक है उन्हें ज्ञान कहाँ जहाँ अज्ञानता है वही मौज–मस्ती है।

कबीर आज कहै हरि काल्हि भजौंगा, काल्हि कहै फिर काल्हि।

आज ही काल्हि कंरतिया, औसर जासा चालि।।[98]–पद–(5)

कबीर का उद्‌बोधन है–मनुष्य! आज का कल पर न टालो, क्योंकि कभी कल नही आता, आलसी, निरुद्यमी के लिए। अवसर हाथ से निकल जाता है आज कल करते। अतः हरि का सुमिरण करो, उन्हें समर्पित करो, उन्हीं को भजों

कबीर पल की सुधि नही, करै काल्हि का साज।

काल उपच्यंता झड़पसी, ज्यूं तीतर कौ बाज।।[99]–पद–(6)

कबीर विषय–पाश में फँसे लोगों को चेतावनी दे रहे है। एक क्षण का तो पता नही। कब काल आकर घर दबोचेगा, कौन जानता है? ऐसी स्थिती मे कल के साज–सामान की चिंता? काल उसी प्रकार झपट कर काम तमाम कर देगा जैसे बाज तीतर को।

कबीर दुग दुग चोंघतां, पल पल गई बिहाइ।

जीव जंजाल न छाड़ई, जमि दिया दमामा आइ।।[100]–पद–(7)

कबीर काल के डंका बजने के पहले ही राम–प्रीति में जुटने के लिए सांसारिक प्राणी को सचेत कर रहे है। उनका कहना है जीव जंजाल (माया) में लिप्त है, पल–पल ऐसे ही बीतता जा रहा है थोड़े–थोड़े चुनने (खाने–पीने) में। यह सब धंधा छोड़कर मनुष्य को हरि की ओर लगना चाहिए।

कबीर मै अकेल ए दोइ जण, छेती नाहीं काइ।

जे जम आगैं ऊबरौं, तो जुरा पंहूती आइ।।[101]–पद–(8)

कबीर काल और जरा (वृद्वावस्था) दोनों से सावधान रहने की बात करते है–काल से कोई बचे भी (अर्थात् कुछ समय और जीवित रहे) पर जरावस्था तो आवेगी ही। और उस समय कुछ भी कर पाने की सामर्थ्य नही होगी। अतः उससे पहले सात्विक मार्ग पर चल कर ईश्वर की भक्ति करें।

कबीर बारीं बारीं आपणीं चले पियारे म्यंत।

तेरी बारी रे जीया, नेडी आवै न्यंत।।[102]–पद–(9)

कबीर सचेत करते हुए कहते है काल ने बारी–बारी सब को खा लिया सभी मित्र चल बसे। हे जीव! तेरी बारी में तो वह नित (नित्य) निकट आ रहा है। गाफिल न हो, राम भज

कबीर दौं की दाधी लाकड़ी, ठाढ़ी करै पुकार।

मति बसि पड़ौ लुहर कै, जालै दूजी बार।।[103]–पद–(10)

कबीर काल को दावाग्नि से सादृश्य देकर कहते है कि काल रुपी दाव से जली लकड़ी पुकार–पुकार कर हमें चेतावनी दे रही है कि एक दिन काल सबको खाता है। इसलिए ऐसा करे इस मृत्यु लोक में आना ही न पड़े और न फिर जलना पड़े।

कबीर जो ऊग्या सो आयवै, फूल्या सो कुमिलाइ।

जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ।।[104]–पद–(11)

कबीर ज्ञान तत्व का उपदेश करते है संसार में जो भी है नाशवान है–जो आया है वह जायेगा, जो उगा है वह अस्त भी होगा, जो आज प्रफुल्लित है वह कल मुरझा जायेगा, जिसको आज एक–एक ईंट से चुनकर बनाया गया हे वह कल ढहेगा। यह प्रकृति का नियम अटल है। इसलिए इस द्वन्द्व से ऊपर उठें–काल की नियता समझ कर सत्कर्म–भक्ति में लगें। यह तत्व ज्ञान है।

कबीर जो पह्रया सो काटिसी नांव धर्या सो जाइ।

कबीर सोइ तत गहि, जो गुरि दीया बताइ।।[105]–पद–(12)

कबीर नश्वरता से सीख लेने को कह रहे है–जिस प्रकार वस्त्र फट जाता है और प्रत्येक द्रव्य–वस्तु जिसका कोई नाम रखा गया हे वह विनष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान यही है कि गुरु का बताया सार तत्व पकड़े। यह ब्रह्म तत्व ही अनश्वर है।

कबीर निधड़क बैठा राम बिन, चेतनि करै पुकार।

यह तन जल का बुद बुदा, बिनसत नाहिं बार।।[106]–पद–(13)

कबीर सचेत करते है–यह शरीर पानी का बुदबुदा है। किसी समय भी विनष्ट हो सकता है। तुम्हारा चैतन्य (ब्रह्म) बार–बार तुम्हें बता रहा है कि विषयों में लगकर असावधान न रहो। निश्चिंत न बैठो, सत्कर्म में लग जाओ। राम भक्ति ग्रहण करो, इस राम के बिना उद्वार नही। अतः राम भजों।

कबीर यहु जग कुछ नही, षिन खारा षिन मीठ।

काल्हि जु बैठा माड़िया, आज मसाणा दीठ।।[107]–पद–15

कबीर इस जगत् को परिवर्तनशीलता नश्वरता का बोध कराकर सांसारिक–भक्ति को भक्ति की ओर मोड़ना चाहते है। यह संसार क्षण में सुखद क्षण में दुखद है। अपनी बात को सुबोध बनाते हुए वे कहते हैं कल जो व्यक्ति सुखी था–सज रहा था और भाँति–भाँति के निर्माण में व्यस्त था वही आज चल बसा।

कबीर मंदिर आपणै, नित उठि करती आलि।

अड़हट देख्यां डरपती, सो चौड़े दीन्हीं जालि।।[108]–पद–(16)

जीवन की नश्वरता को ध्यान में रखकर मनुष्य को भक्ति पथ पर चलना चाहिए। कबीर कहते है जो कल अपने महल में दीपक–शिखा को जोति की भाँति चमचमा रही थी उसी को हंस प्राण निकल जाने पर छूट मानकर घर से बाहर कर दिया जाता है।

कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गई सब तार।

जंत्र बिचारा क्या कर, चले बजावन हार।।[109]–पद–(20)

कबीर प्राण–प्रयाण (मृत्यु) की बात बताकर हमे चेतावनी दे रहे है कि हम गाफिल न हों। यह शरीर यन्त्र नश्वर है कभी इस यन्त्र को बजाने वाला या वादक चल बसेगां उस प्राण के जाने पर हम कुछ भी उद्यम न कर सकेंगे मुक्ति के लिए। अतः जीते जी हमें हरि की ओट लेनी चाहिए।

कबीर पंची ऊभा पंच सिरि, बुगचा बांध्या पूठि।

मरना मुंह आगै खड़ा, जीवण का सब झूठि।।[110]–पद–(22)

कबीर प्रत्येक जीव को पथिक (बटाऊ) मानकर कहते है 'हंस बटाऊ' पीठ पर पोटली बाँधकर पंच के किनारे खड़ा है पर सारी गठरी यहीं पर पड़ी रह जायेगी। काल बाज की भाँति झपटकर संमाप्त कर देगा।

कबीर राम रह्या तिनि कहि लीया, जुर्‌हा पहुँती आइ।

मंदिर लागै द्वार थै, तब कुछ कारणां न जाइ।।[111]–पद–(24)

कबीर जरा और मृत्यु से भयभीत होकर परमार्थ पर बल दे रहे है, वृद्धावस्था से पहले जो भी हो सके कर ले। राम नाम ले ले। जरा आने पर इस मन्दिर (शरीर) के द्वार (मुँह) से तब कुछ भी निकालना (कहना) सम्भव न होगा।

कबीर हरि सूं हेत करि, कूड़ै चित न लाव।

बांध्या बार सटीक कै, ता पसु किती एक आव।।[112]–पद–(27)

मृत्यु निकट आई है ऐसा बताकर कबीर उद्‌बोधन कर रहे हैं कि हे मनुष्य! जैसे खटीक के घर बँधे पशु की कोई आयु नही वैसे तुम्हारे ऊपर काल की तलवार लटक रही है। ऐसा समझकर कुड़े कार्यों में (बुरे धंधे) न लगाओ, हरि से हेत (प्रेम) कर।

कबीर विष के बन मैं घर किया स्रप रहे लपटाइ।

ताथैं जियरै डर रह्यों, जागत रैनि विहाइ।।[113]–पद–(28)

कबीर संसार को विष को बन कहते है–इस वन मे विषय रुपी सर्प है जो मनुष्य से लिपट जाते है। इनमें मुक्ति कठिन है। कबीर अपने को इनसे मुक्त कर राम में लौ लगाना चाहते है। सर्प से भयभीत हैं कबीर इसी चिन्ता में रात जागते बीतती है।

कबीर काची काया मन अथिर, थिर–थिर काम करंत।

ज्यूँ ज्यूँ नर निधड़क फिरै, त्यूँ त्यूँ काल हंसत।।[114]–पद–(30)

कबीर इस तन–देह की नश्वरता को बताकर ईश्वर में लौ लगाने पर बल देते है। उनका कहना है कि मनुष्य काल पाश में फँसकर भी निश्चिंत है। मृत्यु को हँसी आती है मनुष्य की मूर्खता पर नश्वर होकर अनश्वर भाव से काम करना समय को विषयों में विनष्ट करना, मन की चंचलता में फँसे रहना।

कबीर रोवण हारे भी मूये, मूये जलावण हार।

हा हा करते ते मूये, कासनि करौ पुकार।।[115]–पद–(31)

जीवन की नश्वरता और काल की नित्यता पर बल देते हुए कबीर कहते है कि मनुष्य रोज देखता है सब का मरते हुए–जो शव को जलाता है वह समबन्धी भी मृत्यु को प्राप्त करता है जो किसी प्रिय के बिछुड़ने पर रोते है वे भी काल कवलित होते हैं। जो भी प्रिय की मृत्यु पर हाय–हाय करते हैं वे भी मरते हैं अर्थात् सभी मरणशील है। कोई अनश्वर नही। किसे पुकारूँ अर्थात् कोई सुनने वाला नही सब गफलत में है। उसी राम के सहारे रहो, उसी को भजो।

कबीर जिनि हम जाये ते मूये, हम भी चालण हार।

जे हमको आगै मिले, तिन भी बंध्या भार।।[116]–पद–(32)

मृत्यु अवश्यम्भावी है इसलिए मृत्यु से पहले हम मूल लक्ष्य हरि भक्ति की प्राप्ति के लिए करें। कबीर कहते है जिन्होनें हमें जन्म दिया। वे चल बसे। अब हमारी बारी है, हम भी कूच करने वाले है। जिनको हमने जन्म दिया है वे भी भविष्य में चल बसेंगें। क्योंकि वे भी भार से बँधे हैं।

(6) कुसंगति को अंग

भौतिक जगत परिवर्तनशील है। समयानुसार प्राणी मात्र का सर्वत्र शारीरिक मानसिक परिवर्तन एवम् विकास होता रहता है। परिवर्तन और विकास के इस क्रम में सर्वाधिक प्रभाव 'संगति' का पड़ता है। जीवन के हर क्षेत्र में, चाहें वह सामाजिक हो, राजनैतिक हो अथवा आध्यात्मिक 'संगति' का रंग अवश्य बिखरता है। संगति से जीव के शुभ या अशुभ संस्कारों का निर्माण होता है और इसकी जीवन पर अमिट छाप पड़ती है। जिसकी जैसी संगति होती है, प्रायः उसका जीवन भी वैसा ही देखने को मिलता है। कुसंगति के कुप्रभाव से अच्छा मनुष्य भी बुरा बन जाता हैं, अपने धर्म–कर्म से गिर जाता है। वह सन्मार्ग को छोड़ कुमार्ग पर चला जाता है और सत्संगति से दुष्ट प्रकृति वाला दानव भी मानव बन जाता है, साधु–संत तथा देवता तक बन जाता है। फूलों की सुगन्ध से जैसे वातावरण सुगन्धित हो जाता है, पारसमणि के स्पर्श से लोहा भी स्वर्ण बन जाता है, ऐसे ही सत्संगति का अद्‌भुत एवं चमत्कारी प्रभाव है। इससे जीवन में सद्‌गुणों की उत्पति एवम् शुद्ध–सात्विक–बुद्धि का निर्माण होता है।

इतिहास साक्षी है कि आदि पुरातन काल से लेकर अभी तक जहाँ पर जैसा भी होता चला आया है, उसमे अधिकतर संगति का परिणाम ही संलग्न है। संत्संगति से जिसका सुधार न हो सका, जो सन्मार्ग न पा सका, सम्भवतः फिर उसके लिए कोई और अन्य उपाय भी नहीं है। सत्संगति के माध्यम से ही सद्‌गुरु का दर्शन–मिलन होता है, जिनसे हमें जीवन–कल्याण का दिशा–बोध होता है। इस प्रसंग में कबीर साहब ने संगति के भावार्थ महत्व को स्पष्ट रुप से समझाया है जिसे जान–समझकर हर किसी को लाभ उठाना चाहिए–

निरमल बूंद अकास की, पड़ि गई भोनि विकार।
मूल बिनंठा मानवी, बिन संगति भठद्दार।।[117]–पद–(1)

कबीर ईश्वर–जीव पर विवेचन करते हुए कहते हैं कि जीवन उसी मूल ब्रह्म का रुप है। संसार में आकर जीव कर्म–विचार अथवा माया के कारण अपने स्वरुप को विस्तृत कर देता है।

फलतः मानव का मूल स्वरुप विकृत हो उठता है। विकारों से बचने के लिए हरिभक्ति की अपेक्षा है–हरि भक्तों की संगति चाहिए। इसके अभाव में मनुष्य भट्‌टी की राख सदृश बेकार है।

मूरिष संग न कीजिए, लोहा जलि न तिरइ।
कदली सीप भवंग मुषी, एक बूँद तिहुँ भाइ।।[118]–पद–(2)

कबीर व्यक्ति की पात्रता को महत्व देते है–यदि व्यक्ति स्वंय निर्मल होना चाहता है तभी गुरु का उपदेश अथवा सत्संग सहायक है। स्वाति नक्षत्र की बूँद भिन्न–भिन्न पात्रों में भिन्न भाव

व्यक्त करती है। कदली (केला) में कपूर, सीप में मोती और भुंजंग में विष। यदि व्यक्ति हरिभाव को ग्रहण नही करता है तो उसे प्रबोधित नही किया जा सकता हैं । लोहा प्रयत्न करने पर भी जल में तैर नही सकता। लोहा प्रतीक है मूर्ख का जो आत्म सुधार नही चाहता है।

हरिजन सेती रूसणाँ, संसारी सूँ हेत।

ते नर कदे न नीपजै, ज्यूँ कालर का खेत।।[119]–पद– (3)

कबीर हरिजन और विषयी पर विचार करते हुए कहते हैं यदि मनुष्य को आध्यात्मिक सुख शांति चाहिए तो उसे हरिजनों की संगति करनी चाहिए और विषयी स्वार्थी–लोगों से दूर रहना चाहिए। जो संसारी से प्रीत करेगा और हरिभक्तों का तिरस्कार, वह कभी पनप नही सकता, अपने असत्या चरण के कारण। जैसे ऊसर अथवा रेह में कुछ भी उत्पन्न नही होता उसी प्रकार जिसका मन दुर्भावों से भरा है, कपट से युक्त है, उसमें सतोगुण का उदय संभव नही है।

मारी मरूँ कुसंग की, केला काँठै बेरि।

वो हालै वो चीरियो, साषित संग न बेरि।।[120]–पद–(4)

कबीर कुसंगति के प्रभाव का वर्णन एक दृष्टांत से करते हैं–केला यदि बेर के संग हो तो बेर के कांटे उसे कष्ट देते रहेंगे। साषित (शाक्त) का संग इसी प्रकार का है हरिजन के लिए। शाक्त आचरणहीन होने से कष्टप्रद है। केला साधु स्वभाव और बेर दुष्ट स्वभाव का द्योतक है।

मेर नीसांणी मीच की, कुसंगति ही काल।

कबीर कहै रे प्राँणिया, बाँकी ब्रह्म संभाल।।[121]–पद–(5)

कबीर अध्यात्ममार्ग का सार तत्व बताते है–मै मेरा–तेरा का भाव (माया) ही मृत्यु है और जगत् में कुसंगति ही काल सदृश है। इसलिए हे मानव! इस वाणी से ब्रह्म (भर्ता) को स्मरण करते रहो उसी का सुमिरन और ममत्व कुसंग से बच सकेगा।

माषी गुड़ मैं गड़ि रही, पंष रही लपटाइ।

ताली पीटै सिरि धुनै, मीठै बोई माइ।।[122]–पद–(6)

कबीर अन्योक्ति में पटु है। माया की मिठास में लिप्त मनुष्य को वे गुड़ में लिपटी मक्खी से सादृश्य देकर कहते है–मक्खी गुड़ की लालच में उसमें फंस गई अब वह उस मीठे से नहीं निकल पा रही है परेशानी में वह हाथों से ताली पीट रही सर धुर रही है पर सब व्यर्थ, अब तो वह मीठे में गड़ चुकी है।

ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जो करणी ऊँच न होइ।

सोवन कलस सुरे भर्या, साधूँ निंद्या सोइ।।[123]–पद–(7)

कबीर करनी (कर्म) पर बल देते है। कुल से कोई ऊँचा नही। ऊँचा वह है जिसका आचरण शुद्ध–निर्मल, कपट रहित हों। जो भेदभाव से ऊपर हो। भेष या दिखावा महत्व नही रखता। सोने के घड़े में यदि शराब भरी हो तो घड़े की प्रशंसा कौन करेगा? यह शरीर कलस सदृश है इसके भीतर कुविचार हीं सुरा है।

(7) उलटवाँसियाँ

हिन्दी साहित्य में 'उलटवाँसी' शब्द का प्रयोग आधुनिक काल की ही उपलब्धि कहा जा सकता है, क्योंकि प्रयोक्ता सन्तों की वाणी में यह शब्द इसी रूप में प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता। वैसे भारतीय साहित्य के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद से ही जन्म लेकर लौकिक संस्कृत, पालि–प्राकृत–अपभ्रंश आदि भाषा साहित्यधारा के प्रमुख तीर्थो का स्पर्श करती हुई, नाम रूप से नयापन धारण करती हुई साधनाश्रयी, प्रतीक जीवी, विरोधगर्भिता की वाणी 'उलट बाँसी' शैली के रूप में गोरखनाथ के साहित्य में 'उल्टी चर्चा (गोरखवाणी, पृ.–142) नाम से पल्लवित एवं प्रतिष्ठित हो चुकी थी। आगे चलकर संत कबीर ने उसे मध्ययुगीन हिन्दी निर्गुण साहित्य में प्रचारित और प्रतिष्ठित किया। कबीर के प्रतिभावशाली व्यक्तित्व ने इस शैली–प्रयोग को सम्यक रूप से सामर्थ्यवान बनाया है। उन्होंने उलटबाँसी प्रयोग की जो विकास रेखा खींची है, उसका अतिक्रमण शायद आगे के प्रयोक्ता संत नहीं कर सके है। प्रायः सभी निर्गुणमार्गी संत इस शैली को अपनी अभिव्यक्ति का एक विशेष अधिकार–सा मानकर चलते हैं। इस प्रकार उलटबाँसी बौली नाम रूप से भिन्न होते हुए भी, एक सुदृढ़ परम्परा का स्थिर विकास है। 'कबीर बानी' में 'उलटबाँसी' शब्द का प्रयोग तो नहीं मिलता, किन्तु इसके समकक्ष 'उलटवेद' या 'उलटिवेद' (कबीर ग्रंथावली–पद–160) शब्दों का प्रयोग है। बीसवी सदी के प्रारम्भ में, शैली के चमत्कार–सौन्दर्य से प्रभावित होकर किसी आलोचक द्वारा ही शोध करके 'उलटबाँसी' शब्द का प्रयोग किया गया होगा। सन्त परम्परा की गद्दियों पर 'उलटबाँसी' को अन्य निकटवर्ती नामों से पुकारने की परम्परा को आलोचकों ने स्वीकार किया है। और शायद सम्प्रदाय–विशेष की गद्दियों से चलकर ही साहित्य समीक्षा में 'उलटबाँसी' नाम प्रचलित हुआ है। 'उलटबाँसी' शब्द की वर्तनी अपने प्रकाशित रूप में 'ब' तथा 'व' दोनों अक्षरों के प्रयोग से 'वाँसी' और 'बाँसी' रूप में देखने को मिलती है।

'उलटबाँसी' शब्द के पर्याय रूप में अनेक नामों का, जिनमें 'उलट' विशेषण का प्रयोग है, सन्त साहित्य–प्रयोक्ताओं ने प्रयोग किया है। उनमें से कुछ प्रयोक्ता सन्तों ने अपनी वाणी के उलटपन की सकारणता को आधार देने का भी प्रयत्न किया है। गोरखनाथ का कहना है कि जो पवन को उलटकर वाणी को पलट देते हैं, वे ब्रह्मज्ञानी होकर अमृत का पान करते हैं 'उलटंत पवनं

पलटंत वाणी। अपीव पीवतं जे ब्रह्म ग्यानी।'' (गोरखवाणी–पृ.–32) और ऐसी ही वाणी को गोरख ने 'उलटचर्चा' (गोरख बानी, पृ.–142) नाम दिया है। उनकी मान्यता है कि गुरू–विहीन लोक के द्वारा साधक को साधना जल्द गुरूता प्राप्त कराने के लिए ही, वाणी द्वारा उन्होंने 'उलटी थापना' (गोरख वाणी, पृ.–50) स्थापित की है। गोरख नाथ के पश्चात् निर्गुण सन्त साहित्य में कबीर का ऐसा व्यक्तित्व है जो उलटबांसी का पर्याय–जैसा बन गया है। वे अपने 'उलटि या उलट वेद' द्वारा वेद मार्ग या शास्त्र लोक–परम्परा का अतिक्रमण करना चाहते है। वे मझधार में डूबते है और जो 'निराधार' होते है वे पार हो जाते है। पथ का अतिक्रमण करने वाले गंतव्य पर पहुंच जाते है और लोक पर चलने वाले बीच में लूट लिए जाते है।[124] वाणी की इसी ज्ञान–गुरुता को उद्घाटित करने के लिए कबीर दास 'उलटिवेद' के माध्यम से लोक रूढ़ पण्डित मान्य का विरोध करते है–

है कोई जगत गुरु ग्यानी उलटिवेद बूझै।
पानी में अगनि जरै, अंधरे को सूझै।।[124]–पद–(160)

संत सुन्दरदास ने 'उलटबाँसी' शब्द के समकक्ष 'उलटीबात', 'उलटीरीति', उलटाख्याल' आदि शब्दों का सक्षम प्रयोग किया है।[125]

इन्होंने उलटबाँसी मूलक कथनों के लिए अपनी बानियों में पृथक से ही 'विपर्ज्जय को अंग' या 'विपर्यय शब्द कौ अंग' पूर्वी भाषा बरवै'शीर्षकों से कुछ साखियों और सवैया छंदों की रचना की है और अपनी वाणी के रहस्य को समझने के लिए 'अनुभव' होने की सकारणता प्रमुख की है। सुन्दरदास के बाद संत पलटू साहिब की वाणी में हमें (उलटावती) शीर्षक में कुछ 'उलटबाँसी' पदों का संग्रह मिलता है[126] हो सकता है कि यह 'उलटबाँसी' शीर्षक उनके किसी शिष्य अथवा बानी संग्रहकर्ता अथवा लिपिकार ने दे दिया हो, क्योंकि 'उलटावती' रुप में 'उलटीबात' का प्रयोग किसी छन्द के अन्तराल में नही आया है। 19वीं सदी के उतरार्द्ध में सन्त तुलसी साहब हाथरस बालों ने उलटीबाँसी जैसा ही 'उलटमासी' शब्द शीर्षक दिया है।[127] इस वर्ग के अन्तर्गत भी कुछ उलटवासी पदों का संग्रह मिलता है। साथ ही इनके अनेक पदों मे 'उलट' विश्लेषण से युक्त 'उलटीरीति', 'उलटा शब्द', 'उलटीचाल', 'उलटबाँस' आदि शब्दों का साभिप्राय प्रयोग हैं। एक स्थान पर तो इन्होनें उलटबाँसी शैली के प्रयोग का रहस्य मंतव्य भी बताया है। उनका कहना है कि सन्तों की रहस्यमयी वाणी यद्यपि उलटी जैसी लगती है, पर गुरु के निर्देशन और स्वंय के अनुभवज्ञान से उस रहस्य का मर्म समझा जा सकता है।[128] उनकी धारणा है किं विरोध मूलक प्रतीकों की योजना वाली रहस्य प्रधान ऐसी वाणी स्वंय में 'सुलटी' होने पर भी लोंक को 'उलटी–सी' लगती है। देखिए–

उलटबाँस संतन में भाखी।
जाकी समझ सूर कोई राखी।।
सुलटी को उलटी कर बूझाा।
उलटी सुलटी समझ न सूझा।।
अब याकौं इक शब्द सुनाऊँ।
उलटि सुलटि वोहि माहि दिखाऊँ।।[129]

उलटबाँसी–पद–रचना में एक विशेषता उसके गेयत्व की भी मानी जा सकती है। और इसलिए भी 'शब्द' या 'पद' के कलेवर में रचित उलटबाँसी अधिक मार्मिक एवं प्रभावपूर्ण सिद्ध हुई है। कुछ पदों में तो उलटबाँसी तत्व आद्यन्त निर्वाहित हुआ मिलता है और शेष पंक्तियाँ उपदेश की प्रधानता अथवा आचरण की शुद्धता पर बल देती हुई प्रतीत होती है। जिनमें उलटबाँसी–तत्व आद्यन्त निर्वाहित रहता है, उन्हें 'पूर्णपद उलट बाँसी' कह सकते है और दूसरे प्रकार के पदों को 'अंशपद उलटबाँसी' शीर्षक से अभिहित किया जा सकता है। इस प्रकार प्रयोक्ता सन्त कवियों की वाणी को–विशेषतः कबीर की वाणी को आधर बनाकर इस विवेचन की उपसंहृति इस प्रकार की जा सकती है कि उलटबाँसी पद रचना में कुछ अनिवार्य तत्व होते है और कुछ सामान्य विशेषताएँ अथवा प्रायोगिक प्रवृतियाँ। ये अनिवार्य तत्व माने जा सकते है–(1) विरोधीभासमयी असम्बद्ध पद योजना, (2) प्रतीक प्रधान शब्द–वैचित्र्य,(3) साधनात्मक अथवा वैचारिक अनुभूति का होना। ये तत्व उलटबाँसी शैली से विच्छेदक तत्व कहे जा सकते है, जो इस शैली को अन्य शैलियों से पृथक् करके स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान करते है। इन्हीं तत्वों की संवेतता के आधार पर कूट, दृष्टिकूट, पहेली, मुकरी, बूझौवल आदि कूट वर्ग की अन्य शैलियों से उलटबाँसी शैली स्वंतत्र अस्तित्व वाली सिद्ध होती है। पर इन अनिवार्य तत्वों के साथ ही उलटबाँसी पद रचना की कुछ सामान्य विशेषताएँ भी है। जैसे (1)विचित्र प्रकार की अभिधा का होना (2) प्रायः 'संम्बोधन' का होना, (3) प्रायः चुनौति जैसे स्वर की प्रतीति, (4) बूझै, विचारै, अरचावै आदि विशिष्ट क्रिया पदों का प्रयोग, (5) पारिभाषिक एवं सांकेतिक प्रतीक शब्दावली की योजना, (6) प्रयोक्ता की आत्म विश्वासमयी, ध्वनि,(7) विस्मय सृष्टि, (8) प्रतिपक्ष की परिकल्पना, (9) अंसभव प्रमाणों के माध्यम से रुढ़ि अथवा लोक मार्ग का व्यक्तिक्रम, (10) गेयत्व की प्रधानता, (11) रुपक तत्व की योजना, (12) व्यंग्य एवं वक्रता की विशेष चमक आदि।

क्रांतदर्शी कवि कबीर साधना को, विचारानुभव को, अनुभूति की अनिर्वचनीय को योगपरक रुपकों अथवा उलटाबाँसी पदो के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान करते रहते है। उनके उलट बाँसी पदों में विरोधगर्भित प्रतीकों के द्वारा, विधि–विरोध अथवा प्रकृति–विरोध के रुप में सामाजिक

विसंगति भी उभर कर आयी है। वैदिक ऋषि ने जल के बीच में प्यास बनी रहने की स्थिति को एक विशेष विरोधाभास के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। विचारण कबीर की भी यह उलटबाँसी पंक्ति 'जल बिच मीन प्यासी' मोहि सुनि–सुनि आवै हाँसी।'' प्रायःउदाहृत होती रहती है। ज्ञान विरह में विचारक, शायद, यह अनुभव करता रहता है कि भौतिक सुख–भोग, इन्द्रियों की बहिर्मुखता में सुख प्रदान करते हुए से प्रतीत होते हैं पर वृति के अन्तर्मुखी होते ही, विवेक का सहारा लेने के कारण वह विषयों में विचरते हुए भी तृप्ति का अनुभव नहीं कर पाता।

उलटबाँसी शैली को वास्तव में कबीर जैसा समर्थ प्रयोक्ता व्यक्तित्व मिला है, वैसा समग्र संत साहित्य में दूसरा नही है। विषय प्रतिपादन, प्रंतीक योजना, रुपकत्व, चमत्कार–सृष्टि आदि में कबीर का कुछ ऐसा व्यक्तित्व किया है, जो परवर्ती सन्तो के लिए पृष्ठभूमि निर्मित करता है। कबीर ने उलटबाँसी शैली प्रयोग में परम्परा से ग्रहण तो किया परन्तु उसका ताना–बाना अपने ही ढ़ग से बुना है। कबीर की उलटबाँसियाँ सर्वसाधारण को अवाक् करती है, तो जिज्ञासु को अर्थ की गहराई में ले जाने के लिए प्रेरित करती है। कबीर के उलटबाँसी पदों में प्रयुक्त 'संबोधन' श्रोता के मानसिक स्तर एवं प्रतिपक्ष की 'संपक्षता' को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। जब वे सन्तों को सम्बोधित करते है तो अपना विचार पक्ष समझाते अथवा परामर्श देते हुए प्रतीत होते है ओर जब वे 'अबंधू', 'पांडे', 'पंडित' को सम्बोन्धित करते हैं तो प्रतिपक्ष की मान्यता का खण्डन–सा करते प्रतीत होते है लोंगो, भाई ,आदि सम्बोधन उनके द्वारा जन–जीवन के प्रति सहृदयता की सूचना देते है। यद्यपि उनका उद्देश्य किसी को गर्वोक्ति के माध्यम से खुली चुनौनी देना नही रहता था, फिर भी बूझै अंरचावै, बतावै, जैसे क्रियापदों में अनुभव की प्रखरता एवं आत्म विश्वास की व्यजना चुनौति जैसी लगती है। बहुश्रुत के कारण कबीर के उलटबाँसी पदों में अन्य बातों के साथ ही साथ, दार्शनिक सिद्धान्तता भी सांकेतित होती है, सिद्ध नही होती। उनके उलटबाँसी पदों में विचार और भाव का अपूर्व सांमजस्य देखने को मिलता है।

कबीर की रचनाओं के लिए 'कबीर ग्रन्थावली' (सं. श्यामसुन्दरदास) कबीर–बीजक (सं विचारदास शास्त्री) अभी भी प्रामाण्य कोटि में गिने जाते है। इनकी पड़ताल करने से पता चलता है कि 'ग्रन्थावली' के 'साखी' भाग में लगभग पचास साखियाँ तथा पदावली भाग में लगभग नब्बे पद उलटबाँसी शैली के तत्वों पर खरे उतरते है। 'ग्रन्थावली' के परिशिष्ट भाग में भी उलटबाँसी पद है, परन्तु अधिकांश में पाठभेद के अतिरिक्त पुनरावृति मात्र है। 'बीजक' में भी बहुत से पद ग्रन्थावली के पदो ंके समान है परन्तु पाठ–भेद भाषण लिपि–भ्रम के कारण 'बीजक' के उलटबाँसी पदों का अर्थ, ग्रन्थावली के पदो ंके अर्थ से अधिक शास्त्रीय–सा प्रतीत होता है। 'बीजक' में उलटबाँसी तत्वों के आधार पर लगभग छः रमैनी, पैंतीस के लगभग 'सबद' और बीस के लगभग साखियाँ है।

इनके अतिरिक्त 'कहरा', 'बसंत', 'बेली' आदि में भी उलटबाँसी कथनों का प्रयोग है। कुल मिलाकर कबीर के उलटबाँसी पदों की संख्या सन्त साहित्य में सर्वाधिक है। सभी उलटबाँसी पदों का वैचारिक दृष्टि से एवं जिज्ञासापूर्वक पढ़ने से एक बात सर्वत्र व्यंजित होती है, वह यह कि जीवन को और 'जीवनि–रहनि' को सरल, सहज बनाकर अपरिग्रहपूर्वक जीवन के उच्चादर्शों को प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान विरह की दशा को व्यंजित करने वाला कबीर का एक उलटबाँसी पद, व्याख्या सहति, यहाँ प्रस्तुत है, जिससे उनकी बोध–वृति और मौलिकता का अनुमान लगाया जा सकता है–

कैसे नगरि करौ कुटवारी। चंचल पुरिष बिचषन नारी।।
बैल बियाइ गाइ भई बांझ। बछरा दूहै तीन्यू सांझ।।
मकड़ी धरि माषी छछिहारी। मास पसारि चील्ह रखबारी।।
मूसा खेवट नाव बिलइया। मीड़क सोवै साँप पहरइया।।
नित उठि स्याल स्यंध सू झूझै। कहै कबीर कोई विरला बूझै।।[130]

यदि इस पद का अर्थ सांकेतिक प्रतीकों की अभिधा से किया जाए तो बहुत ही विचित्र एंव बेसिर–पैर का बिम्ब बनेगा। लेकिन, जिज्ञासापूर्वक जब पद की प्रथम पंक्ति और अंतिम पंक्ति को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाए तो पद में अर्थ सम्बन्धी कुछ सूचनाएं मिल जाती है। साधना पथ पर चलने के लिए गुरु–वचनो पर विश्वास परमावश्यक है। इसी से जिज्ञासु को विरोधगर्मित प्रतीक–योजना बेसिर–पैर की अथवा 'बकवास' नहीं लगेगी। इस पद में एक ऐसे 'नगर' की रक्षा के सम्बन्ध में कहा गया है, जिसका निवासी 'पुरुष' चंचल वृति वाला है और 'नारी' विलक्षण स्वभाव की है। उस नगर में कार्य–कलाप भी तो बड़े विलक्षण हो रहे है। जब 'विरला बूझै' वाला प्रयोग सामने आता है तो सन्त स्वभाव से 'मनुष्य शरीर' की ओर ध्यान जाने लगता है। मन और कामना ही मनुष्य को 'संसार' में प्रवृत किये रहते है। अतः कार्य व्यापार संभाले हुए प्रतीत होते है, पर प्रश्न यह है कि ऐसे 'नगर' में विसंगति, विषमता, क्यों? सन्त बोध ही इनका उतर देता है कि मायिक सृष्टि, भ्रम अथवा अविवेकपुर्ण 'गोरख–धन्धे' में फँसाव के कारण है। विवेक या विचार का सहारा लेने पर ही इस विषमता से छुटकारा पाया जा सकता है। और जब साधनात्मक विचार या विवेक जागृत होता है, तो लगता है कि जन्म–जन्मांतरों के, नाना प्रकार के संस्कारों से लदा हुआ प्रवृतिमार्गी सदोष मन, इस नगर रुप शरीर में संकल्प–विकल्प के माध्यम से नित नयी सृष्टि करता रहता है। मन के बहिर्मुखी होने के कारण ही गाय रुप साखिकी बुद्धि को निष्क्रिय रुप में बन्ध्या बना रहता पड़ता है, क्योंकि तन की चंचलता और प्रबलता के कारण सात्विकी बुद्धि का कोई निर्णय कार्यशील नही हो पाता। यही 'बैल का बिमाना और 'गाय' का बाँझ होना है।'' 'यथा राजा 'तथा प्रजा' की उक्ति के अनुसार अन्य इंद्रिया भी राजा रुप मन के साथ ही बहिर्मुखी बनी रहती है। मन के आश्रयत्व के

कारण इन्द्रिय, मन की अनुकूलता के कारण मनुष्य की सीमित चेतना को अनेक प्रकार की कामनाओं से तृप्ति का आभास कराती रहती है। यही बछड़े रुपी इन्द्रियों का तीनों प्रहर अर्थात् कामनानुरुप हर समय दुहा जाना है।

अब प्रश्न उठता है कि 'मक्खी' मकड़ी के घर कि प्रकट छिछोलियाँ किया करती है? वास्तव में मकड़ी की शक्ति मक्खी से अधिक होती है। अतः मक्खी रुप माया के घर में अर्थात् मायिक संसार में इन्द्रिय सुख–भोग के रुप में ठिठोली करती रहती है। जिस प्रकार मकड़ी अपने जाल में मक्खी आदि जन्तुआ को फँसा लेती है, वैसे ही मनुष्य की वासनामयी वृति मायाकृत मोहक जाल में आकर्षित होकर फँसती रहती है। ऐसी परिस्थिति में ही विषयाकृष्ट सदोष कामना अपने चारों ओर उपलब्ध माँस रुप विषयों की रक्षा में तत्पर बनी रहती है। मन के इस प्रकार के कार्य–व्यापार में घात लगाने वाली दुष्ट मति रुप 'बिल्ली' आधार रुपा होकर 'नौका' का कार्य करती है और तब वह संवाहक अथवा केवट बने हुए मूषक रुप मन के लिए सतरज का आधार बन जाती है।

तात्पर्य यह है कि दुष्ट मति को आधार बनाकर बहिर्मुखी मन अपने संकल्प–विकल्प के कार्यों में प्रवृत बना रहता है। इस विषय परिस्थिति में भ्रमावस्थापूर्ण मण्डूक रुप मन अपने निकर सर्प रुप संशय को(भ्रम या संदेह की अवस्था में मन संशयालु बना रहता है।)। फन फैलाए हुए (जागरुक) देखकर भी, उदबुद्ध संशय के रहते हुए भी, सुख की नींद सोने का दम्भ करता रहता है। अर्थात् वह यह भूल जाता है कि अवसर पाते ही सर्प रुप संशय भ्रमित मन रुप मेंढ़क को निगल जायेगा। इस प्रकार चंचल पुरुष रुप मन और विचित्र स्वभाव वाली 'मनसा' या कामना के बहिर्मुखी प्रभाव के कारण नगर रुप मानव शरीर का रक्षा–कार्य अव्यवस्थित–सा बना रहता है। लेकिन, इस स्थिति का अनुभव कोई–कोई ही कर पाता है। इस विषम परिस्थिति में चतुर, किन्तु भीरु स्वभाव वाला श्रृगाल रुप मननशील जीवात्मा, आत्म–शक्ति की प्रेरणा से विषम एवं अवयवस्थित परिस्थिति को समुलन अथवा 'शम' अवस्था में लाने का, चंचलता को संतुलन में बदलने का प्रयत्न करता रहता है। अर्थात् अभ्यास की निरन्तरता से इस जन्म में अथवा जन्म–जन्मान्तरों में 'सिंह' का रुप काल से अथवा बहिर्मुखी प्रबल मन से संघर्ष करता रहता है। तात्पर्य यह है कि विचारक, साधक को शरीर की वृतियों में संतुलन अथवा सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए अथवा रामावस्था का 'परमपद' प्राप्त करने के लिए विषय वन मे स्वेच्छा चारिता के विषयों का शिकार करने वाले सिंह स्वभाव वाले क्रोधी, हठी, चंचल और प्रबल मन से निरन्तर संघर्ष करते रहना पड़ता है। कबीर का कहना है कि विषयेन्द्रियों में मृगयाशील मन की इस विषय परिस्थिति को विरला विचारक ही समझ पाता है।

(8) भारतीय धर्म साधना में कबीर का स्थान

जिस युग में कबीर आविर्भूत हुए थे उसके कुछ ही पूर्व भारत के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना घट चुकी थी। यह घटना इस्लाम जैसे एक सुसंगठित सम्प्रदाय का आगमन था। इस घटना ने भारतीय धर्ममत और समाज व्यवस्था को बुरी तरह से झकझोर दिया था। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जाने वाली जाति–व्यवस्था को पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी। सारा भारतीय वातावरण क्षुब्ध था। बहुत से पंडितगन इस संक्षोभ का कारण खोजने में व्यस्त थें और अपने–अपने ढ़ंग से भारतीय समाज और धर्म–मत को सम्भांलने का प्रयत्न कर रहे थे।

सबसे पहले यह समझ लिया जाय कि यह घटना अभूतपूर्व क्यों थी और इसमें नवीनता क्या थी? भारत वर्ष कोई नया नही है। बड़े–बड़े साम्राज्य उसकी धूल में दबे है, बड़ी–बड़ी धार्मिक घोषणाएँ उसके वायुमण्डल में निनादित हो चुकी है, बड़ी बड़ी सभ्याताऐं प्रत्येक कोने में उत्पन्न और विलीन हो चुकी है, उनके स्मृति चिह्न अब भी इस प्रकार निर्जीव होकर खड़े है मानों अट्टहास करती हुई विजय लक्ष्मी को बिजली मार गई हो। अनादि काल से उसमें अनेक जातियों, कबीलों, नस्लों और घुमक्कड़ खानाबदोंशों के झुण्ड इस देश में आते रहे है। कुछ देरी के लिए इन्होंने देश के वातावरण को विक्षुब्ध भी बनाया है पर अन्त तक वे पराये नहीं रह सके है। उनके देवता तैंतीस करोड़ सिंहासनों में से किसी एक को दखल करके बैठ जाते है और पुराने देवताओं के समान ही श्रद्धा–भाजन बन जाते रहे है, कभी–कभी अधिक सम्मान भी पा सके है। भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी विशेषता रही हैं कि उन कबीलों, नस्लों और जातियों की भीतरी समाज व्यवस्था और धर्म मत में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया है और फिर भी उनको सम्पूर्ण भारतीय बना लिया गया है। भागवत में ऐसी जातियों की एक पूरी मूली देकर बताया गया है कि एक बार भगवान का आश्रय पाते ही ये शुद्ध हो गई है। इनमें किरात है, हूण है, आंध्र है, पुलिन्द है, पुक्कास है, आभीर है, शुह्य है, भवन हैं, खस है, शक हैं और भी निश्चय ही ऐसी बहुत जातियाँ है जिनका नाम भागवत कार नही गिना गये। भारतीय संस्कृति इतने अतिथियों को अपना सकी थी, इसका कारण यह है कि बहुत पहले से ही उसकी धर्म साधना वैयक्तिक रही हैं प्रत्येक व्यक्ति को अलग से धर्मोसाधना का अधिकार है। झुण्ड बाँधकर उत्सव हो सकते है, भजन नही। प्रत्येक व्यक्ति अपने किये का जिम्मेदार आप है। श्रेष्ठता की निशानी किसी धर्म मत को मानना या देव–विशेष की पूज्य करना नही, बल्कि आचार–बुद्धि और चारित्र्य है। यदि एक आदमी अपने पूर्वजों के बताये धर्म पर दृढ़ है, चरित्र से शुद्ध है, दूसरी जाति या व्यक्ति के आचरण की नकल नही करता बल्कि स्वधर्म में मर जाने को श्री श्रेयस्कर समझता है, ईमानदार है, सत्यवादी है, तो वह निश्चय ही श्रेष्ठ है, फिर वह चाहे आभीर वंश का हो या पुक्कस श्रेणी का। कुलीनता पूर्व जन्म के कर्म का फल है, चारित्र्य

इस जन्म के कर्म का फल है। देवता किसी एक जाति की सम्पति नही है, वे सबके हैं और सबकी पूजा के अधिकारी है। पर यदि स्वयं देवता चाहते हों कि उनकी पूजा का माध्यम कोई विशेष जाति या व्यक्ति हो सकता है तो भारतीय समाज को इसमें आपति नही। ब्राह्मण मांतगी देवी की पूजा करेगा पर मांतग के जरिये। क्या हुआ जो सांतग चाण्डाल है। राहु यदि प्रसन्न होने के लिए दोनों को ही दान देना अपनी शर्त रखते है तो डोम सही। समस्त भारतीय समाज डोम को ही दान देकर ग्रहण के अनर्थ से चन्द्रमा की रक्षा करेगा। इस प्रकार भारतीय संस्कृति तें समस्त जातियों को उनकी सारी विशेषताओं समेत स्वीकार कर लिया। पर अब तक ऐसा 'मजहब' उसके द्वार पर नही आया। जिसको हजम कर सकने की शक्ति वह नही रखता था।

जो तर्क से इतना अनुसंधान करना चाहेगा उसके लिए यह बात रहस्य–सी दीखेगी, पर जो प्रेमी की दृष्टि से देखेगा उसके लिए इसमें कोई रहस्य नही है, कोई असंगति नही है और न कोई विरोध ही है। उसके लिए यह भगवान की लीला है। वह स्वयं इस लीला का जाल पसारे हुए है, इसलिए स्पष्ट ही उसे प्रेम की भूख है। यह पूछना बेकार है कि उसे क्या कमी है, जो यह भूख लगी? क्योंकि यह सब उसी की लीला है कि उसे क्या कमी है। सही इतना ही है कि वह रस पाये बिना आनन्दी नही होता, रस ह्योवांय लब्ध्वानन्दी भवति। इसी लीला के लिए प्रेम भिखारी साईं राह चलते भक्त पर रंग डाल देता है। जो दुनियादार है और जिनकी वृतियाँ बहिर्मुखी हैं वे उस रंग की लीला को अनुभव ही नही करते, अपने रास्ते चले जाते है। पर जो अनुभवी हैं वे व्याकुल हो उठते है। उन्हें एक व्याकुल पुकार सुनाई देती है। जैसे प्रियतम ने छेड़खानी करके एक ऐसी पुकार फेंकी है जिसकी चोट संभालना मुश्किल है। यह पुकार सारे शरीर को बेध डालती है। इसकी कोई औषधि नही, मन्त्र नही, जड़ नही, बूटी नही, बेचारा वैद्य क्या कर सकता है? इस प्रकार की चोट जिसे लगी वहीं वशीभूत हो गया। देवता हो या मनुष्य, मुनि हो या राह चलता आदमी, पीर हो या औलिया, एक बार चोट लगने पर अपने को संभाल रखना कठिन हो जाता है। कबीरदास गवाह है कि सांई के इस रंग का चोट खाया मनुष्य सब रंगों मे रंग जाता है। और फिर भी इसका रंग सब रंगों से न्यारा होता है। स्वंय कबीरदास रंग चुके थे। वे इस अकारण प्रेम–पुकार से घायल हो चुके थे। व्याकुल भाव से सतगुरु के पास इसका उपाय पूछने गये थे–

सतगुरु हो महाराज, मोपै सांई रंग डारा।
शब्द की चोट लगी मेरे मन में, बेध गया तन सारा।
औषध मूल कछू नही लागै, का करै वैद बेचारां
सुर नर मुनिजन पीर औलिया, कोई न पांवे पारा।।
साहब कबीर सर्व रंग रंगिया, सब रंग से रंग न्यारा।।[131]

फागुन की ऋतु नजदीक आ जाती है, प्रियतम के रंग डालने से अपने आपको भूला हुआ भक्त व्याकुल भाव से सोचने लगता है–हाय, वह सुख फिर क्या मिल सकेगा? क्या वह अलबेला साईं फिर मिलेगा? फिर उसके रंग की चोट खाने का सौभाग्य भाग्य में बदा है? कौन है जो पिया के पास तक पहुँचा सके? धन्य है जो प्रिय के साथ एक मेव होकर फाग खेलती है, धन्य है वे जो उसकी मनभावती है और अभगिन है वह सखी जो ऐंचातानी में ही रह गई। प्रिय का रुप क्या वर्णन किया जा सकता है? प्रेम–दीवानी प्रेमिका उसे अलग से कैसे समझावे? वह तो उसी में समा गई है, तन्मय हो गई है। कबीरदास इस फाग लीला का आनन्द अनुभव कर चुके थे। उनकी गवाही पर हम विश्वास कर सकते हैं कि वह फाग साधारण फाग नही है। इस पृथ्वी पर उसकी तुलना में कोई फाग खड़ी ही नही हो सकती। वह कहने की चीज नही है, अनुभव करने की चीज है, ''अकथ कहानी'' है,– बिरलो के नसीब में इस परम सुख का अनुभव है–

रितु फागुन नियरानी हो, कोई पिया से मिलावे।।
सोई सुंदर जाकों प्रिया को ध्यान है, सोइ पिया की मनमानी।।
खेलत फाग अंग नहिं मोड़े, सतगुरु से लिपटानी।।
इक–इक सखियां खेल घर पहुँची, इक–इक कुल अरुझानी।।
पिय को रुप कहाँ लगि बरसो, रुपहिं माहिं समानी।
जो रंग रंगे सकल छवि बाके, तन–मन सबहिं भुलानी।।
यो मत जाने यहि रे फाग है यह कछु अकथ कहानी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह गति बिरलै जानी।।[132]

यह है लीला। इसका रहस्य समझना कठिन है, क्योंकि यह रहस्य का समाधान है। समाधान का समाधान कैसा? भक्त का दावा है कि यह अनुभव से पाई जाती है। लीला ही लीला का मार्ग है। लीला ही साधन है, लीला ही साध्य है। जो साधन एक बार इसकी मस्ती से वाकिब हो गया वह आठो पहर मतवाला बना रहता है, नही वह आठों पहर को सम्पूर्ण काल को निचोड़ कर उसका रस पीता है। वह आठों पहर मस्ती में मस्त रहता है, ब्रह्म की छौल में वह जीवन धारण करता है। छौल अर्थात् आनन्द। वह भगवदानन्द में,अर्थात् भगवान् की लीला में ही वास करता है। उसके लिए सत्य को पकड़ना आसान हो जाता है, क्योंकि वह साँच और काँच के ऊपर उठ जाता है। उसका जन्म और मरण का भ्रम भाग जाता है। उसे कोई भय नही होता, दुख नही होता, वह निर्भय हो जाता है–

आठहु पहर मतवाल लागी रहै, आठहु पहर की छाक पीवै।
आठहु पहर मस्तान माता रहै, ब्रह्म की छौल में साध जीवै।
साँच ही कहतु औ साँच ही गहतु है, काँच का त्याग करि साँच लागा।
कहै कबीर यों साध निर्भय हुआ, जनम और मरन का भ्रम भागा ।।[133]

भक्त की भगवान् के साथ यह जो आनन्द केलि या प्रेम लीला है, वही मध्ययुग के समस्त भक्तों की साधना का केन्द्र–बिन्दु है। भगवान् के साथ यह रसमय लीला ही भक्त का परम काव्य है–लीला जिसका कोई प्रयोजन नही, फल नही, कारण नही, आदि नही। इसी बात को मध्ययुग के अन्यतम वैष्णव भक्त विश्वनाथ चक्रवर्ती ने कहा था, प्रेम ही परम पुरुषार्थ है–''प्रेमा पुमर्थो महान्।'' साधारणतः जिनको पुरुषार्थ कहा जाता है वे धर्म, अर्थ–काम–मोक्ष भक्त के लिए कोई आकर्षण नही रखते। और कबीरदास ने इसी बात को और शक्तिशाली ढ़ग से कहा था–

राता माता नाम का, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का, मागै मुक्ति बलाय।।[134]

और भक्ति के आदर्श की घोषणा करते हुए द्विधाहीन भाषा में कहा है–

भाव बिना नहिं पाइये, प्रेम प्रीति की भक्त।
बिना प्रेम नही भक्ति कछु, भक्ति भर्‌यो सब जक्त।।
प्रेम बिना जो भक्ति है, जो निज दम्भ विचार।
उदर भरन के कारने, जनम गवायौ सार।।[135]

परन्तु कबीरदास अपने युग के सगुण–साधना–परायण भक्तों से कुछ भिन्न थे। यद्यपि दोनों की साधना का केन्द्र–बिन्दु यह प्रेम भक्ति है, इसे आनन्द केलि, प्रीति, भक्ति, प्रेमलीला आदि जो भी नाम दे दिया जाय–तथापि एक बात मे वे सबसे अलग हो जाते है। मैने उधर लक्ष्य किया है कि भारतीय मनीषी इन दिनों स्मृति और पुराण ग्रन्थों की छानबीन मे जुटे हुए थे। उन्होने प्राचीन भारतीय परम्परा को शिरोधार्य कर लिया था अर्थात् सब कुछ सबके प्रति आदर का भाव बनाए रहकर अपने चलने का मार्ग तय करना। सगजोपासक भक्तगण भी सम्पूर्ण रुप से इस पुरानी परम्परा से प्राप्त मनोभाव के पोषक रहे। समस्त शास्त्रों और मुनिजनो को अकुष्ठ, चित से अपना नेता मानकर उनके वाक्यों की संगति प्रेम–पक्ष में लगाने लगे। इसके लिए उन्हें मामूली परिश्रम नही करना पड़ा। समस्त शास्त्रों का प्रेम–भक्ति मूलन अर्थ करने में उन्हें नाना अधिकारियों और नाना भजन शैलियों की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी, नाना अवस्थाओं और अवसरों की कल्पना करनी पड़ी, नाना शास्त्र ग्रन्थों के तारतम्य की भी करनी पड़ी। सात्विक, राजनिक और तामसिक

प्रकृति के प्रस्तार से अनन्त प्रणाली के भक्तों और अनन्त प्रणाली के भजनों की कल्पना करनी पड़ी। सबको उन्होने उचित मर्यादा दी। यद्यपि अन्त तक चलकर उन्हें भागवत महापुराण को ही सर्वप्रधान प्रमाण–ग्रन्थ मानना पड़ा, पर उन्होनें किसी भी शास्त्र की उपेक्षा या अवहेलना न की। उनकी दृष्टि बराबर भगवान के परम प्रेममय रुप और उनकी मनोहारिणी लीला पर निबद्ध रही, पर उन्होनें बड़े धैर्य के साथ अन्यान्य शास्त्रों की संगति लगाई और एक अभूतपूर्व निष्ठा और मर्यादा–प्रेम को समाज में प्रतिष्ठित कराया।

कबीरदास का रास्ता उल्टा था। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते है वे प्रायः सभी उनके लिए बन्द थे, वे मुसलमान नही थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नही थे। वे साधु होकर भी साधु (अगृहण्य) नही थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नही थे, योगी होकर भी योगी नही थे। वे कुछ भगवान की ओर ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान की नृसिंहावतार की मानव प्रति मुर्ति थे। नृसिंह की भाँति वे नाना असम्भव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन–बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। हिरण्यकशिपु ने वर माँग लिया था कि उसको मार सकने वाला न मनुष्य हो न पशु, मारे जाने का समय न दिन हो न रात, मारे जाने का स्थान न पृथ्वी हो न आकाश, मार सकने वाले का हथियार न धातु का हो न पाषाण का इत्यादि। इसीलिए उसे मार सकना एक असम्भव और आश्चर्यजनक व्यापार था। नृसिंह ने इसलिए नाना कोटियों के मिलन–बिन्दु को चुना था। असम्भव व्यापार के लिए शायद ऐसी परस्पर विरोधी कोटियों का मिलन–बिन्दु भगवान का अभीष्ट है। कबीरदास ऐसे ही मिलन–बिन्दु पर खड़े थे। जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व। जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ पर एक ओर योग मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना, उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोष गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद् सौभाग्य था। उन्होने इसका खूब उपयोग भी किया।

जैसा कि शुरु मे बताया गया है, कबीरदास ने अपनी प्रेम–भक्ति भूला साधना का आरम्भ एकदम दूसरे किनारे से किया था। यह किनारा सगुण साधको के किनारे से ठीक उल्टे पड़ता है। सगुण साधकों ने सब कुछ मान लिया था कबीर ने सब कुछ छोड़ दिया था। प्रथम श्रेणी के भक्तों की महिमा उनके उत्कट साध्य में। उन्होने सफेद कागज पर लिखना शुरु किया था। वे उस पांडित्य को बेकार समझते थे जो केवल ज्ञान का बोझ ढोना सिखाता है, जो मनुष्य को जड़ बना

देता है और भगवान के प्रेम से वंचित करता है। भगवत् प्रेम पर उनकी दृष्टि इतनी दृढ़ निबद्ध थी कि इस ढाई अक्षर (प्रेम) को ही वे प्रधान मानते थे–

पढि पढि के पत्थर भया, लिखि लिखि भया जु ईंट।
कहै कबीरा प्रेम की,लगी न एकौ छींट।।[136]
पोथी पढि–पढि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढै सो पंडित होइ।।

यह प्रेम ही सब कुछ है, वेद नही, शास्त्र नही, कुरान नही, जप नही, माला नही, तसबीह नही, मंदिर नही, मस्जिद नही, अवतार नही, पैगम्बर नही। यह प्रेम समस्त बाह्यचारों की पहुंच के बहुत ऊपर है। समस्त संस्कारों के प्रतिपाद्य से कही श्रेष्ठ है। जो कुछ भी इसके रास्ते में खड़ा होता है, वह हेय है। उन्होनें समस्त वृतों, उपवासों और तीर्थों को एक साथ अस्वीकार कर दिया। इनकी संगति लगाकर और अधिकार भेद की कल्पना करके इनके लिए भी दुनिया के मान–सम्मान की व्यवस्था कर जाने को उन्होने बेकार परिश्रम समझा। उन्होने एक अल्लाह निरंजन के प्रति लगन को ही अपना लक्ष्य घोषित किया। इस लगन या प्रेम का साधन यह प्रेम ही है और कोई भी मध्यवर्ती साधन उन्होंने स्वीकार नही किया। प्रेम ही साध्य है, प्रेम ही साधन, वृत भी नही, मुहर्रम भी नही, पूजा भी नही, नमाज भी नही, हज भी नही, तीर्थ भी नही–

एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरुक दहूँ नहिं मेरा।
राखूँ वृत ना मुहरम जानां, तिस ही सुमिरु जो रहे निदाना।
पूजा करुँ न निमाज गुजारुँ, निराकार हिरदै नमसकारु।
ना हज जाऊँ न तीरथ पूजा, एक पिछाणयां तौ क्या दूजा।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरजंन सूँ मन लागा।।[137]

जो ये पीर–पैगम्बर, काजी–मुल्ला, रोजा–नमाज और पश्चिम की भक्ति है ये सभी गलत है और वे जो देव और द्विज, एकादशी और दीवाली पूरब दिशा की भक्ति हैं वे भी गलत है। भला हिन्दुओं के भगवान तो मंदिर में रहते हैं और मुसलमानों के खुदा मस्जिद में, पर जहाँ मन्दिर भी नही है और मस्जिद भी नहीं है वहाँ किसकी ठकुराई काम कर रही है? कबीरदास ने इन सबको अस्वीकार कर दिया और उन लोंगो को भी अस्वीकार कर दिया जो आँख मूँदकर चलना ही पसन्द करते है, अपने आत्माराम को ही संगी बनाकर वे निकल पड़े। बोले–ओ फकीर! तू अपनी राह चल। मंदिर भी मत जा और मस्जिद की ओर भी रुख न कर। काहे को टंटे में पड़ता है। तेरे राम–रहीमा केसौ–करीमा मे तो कोई भेद नही है,तेरे लिए तो दोनों एक ही है, एक मेवा द्वितीयम्–

हमरे राम–रहीम करीमा, केसौ अलह राम सति सोई

बिसमिल मेंटि बिसभंर एकै, और न दूजा कोई।।

इनके काजी मुलां पीर पैगम्बर, रोजा पछिम निवाजा।

इनके पूरब दिशा देव द्विज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा।।

तुरुक मसीति देहुरो हिन्दू, दूहठा राम खुदाई।

जहाँ मसीति देहुरा नही, तहाँ काकी ठकुराई।

हिन्दू तुरुक दोऊं रह दूरी, फूटी अरु कनराई।

अरध उरध दसहुँ दिस जित तित पूरि रह्या राम राई।।

कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी राहि चलि भाई।

हिन्दू तुरुक का करता एकै, ता गति लखी न जाई।।[138]

परन्तु कबीर यहीं नहीं रुके। अगर 'अल्लाह' शब्द मुस्लिम धर्म का प्रतिनिधित्व करता है और 'राम' शब्द हिन्दू–संस्कृति का, तो वे इन दोनों को सलाम कर देने को तैयार है। आखिर कोई न कोई शब्द तो व्यवहार करना ही पड़ेगा। पर अगर अरबी फारसी के शब्द मुस्लिम संस्कृति की और संस्कृत–हिन्दी के शब्द हिन्दू–संस्कृति की अवश्य याद दिला देते है। तो कबीरदास इस बुद्धि–भेद को भी पनपने नही देते। वे वेद और कुरान के भी आगे बढकर कहते है–

गगन गरजे तहाँ सदा पावस झरै, होत झनकार नित बजत तूरा।

वेद कतेब की गभ्य नाहीं तहाँ, कहै कबीर कोइ रमै सूरा।।[139]

इस प्रकार सब बाहरी धर्माचारों को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर कबीर दास साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। केवल अस्वीकार करना कोई महत्व की बात नही है। हर कोई हर किसी का अस्वीकार कर सकता है। पर किसी बड़े लक्ष्य के लिए बाधाओं को अस्वीकार करना सचमुच साध्य का काम है। बिना उदेश्य का विद्रोह विनाशक है, पर साधु उदेश्य से प्रणेहित विद्रोह शूर का धर्म है। उन्होने अटल विश्वास के साथ अपने प्रेम–मार्ग का प्रतिपादन किया। रुढ़ियों और कुसंस्कारों की विशाल वाहिनी से वह आजीवन जूझते रहे, प्रलोभन ओर आघात काम और क्रोध भी उनके मार्ग में जरुर रहे, खड़े हुए होगें, उन्होने उनका असीम साहस के साथ जीता। ज्ञान की तलवार उनका एक मात्र साधन था, इस अद्‌भुत शमशेर को उन्होने क्षणभर के लिए भी रूकने नहीं दिया। वह निरन्तर इकसार बजती रही पर शील के स्नेह को भी उन्होंने नहीं छोड़ा–यही उनका कवच था। इन कुसंस्कारों, रुढ़ियों और बाह्याचारों के जंजालों को उन्होने बेदर्दी के साथ काटा। वे सिर हथेली पर लेकर ही अपने भाग्य का सामना करने निकले थे। क्षणभर के लिए भी भवें कुंचित नही हुई, माथे पर बल नही पड़ा। वे सच्चे शूर की भाँति जूझते ही रहे–

एक समसेर इकसार बजती रहै
खेल कोई सूरमा सन्त झेलै।
काम–दल जीति करि क्रोध पैमाल करि
परम सुख धाम तहँ सुरति मेलै।।
सील से नेह करि ज्ञान कौ खंग ले
आय चौगान में खेल खेलै।
कहै कबीर सोई सन्त जन सूरमा
सीस को सौंप करि करम ठेलै।।[140]

जो लोग कबीरदास को हिन्दू–मुस्लिम धर्मों का सर्व–धर्म समन्वयकारी सुधारक मानते हैं वे क्या कहते है, ठीक समझ में नही आता। कबीर का रास्ता बहुत साफ था वे दोनों को शिरसा स्वीकार कर समन्वय करने वाले नही थे। समस्त बाह्याचारों के जंजालों ओर संस्कारों को विध्वंस करने वाले क्रान्तिकारी थे। समझौता उनका रास्ता नही था। इतने बड़े जंजाल को नाही कर सकने की क्षमता मामूली आदमी में नही हो सकती। कमजोर स्नायु का आदमी इतना भार बर्दाश्त नही कर सकता। जिसे अपने मिशन पर अखण्ड विश्वास नहीं है वह इतना असीम साहसी भी नही हो सकता।

कबीर ने जो समस्त बाह्य आचारों को अस्वीकार करके मनुष्य को साधारण मनुष्य के आसन पर और भगवान् को 'निरपख' भगवान् के आसन पर बैठाने की साधना की थी, उसका परिणाम क्या हुआ और भविष्य में वह उपयोगी होगा या नही, यह प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नही। सफलता महिमा की एक मात्र कसौटी नही है। आज शायद यह सत्य निविड़ भाव से अनुभव किया जाने वाला हैं कि सबकी विशेषताओं को रखकर मानव–मिलन की साधारण भूमिका नही तैयार की जा सकती। जातिगत, कुलगत, संस्कारगत, विश्वासगत, शास्त्रगत, सम्प्रदायगत बहुतेरी विशेषताओं के जाल को छिन्न करके ही वह प्रश्न तैयार किया जा सकता है जहाँ एक मनुष्य दूसरे से मनुष्य की हैसियत से ही मिले। जब तक यह नही होता तब तक अशान्ति रहेगी, मारामारी रहेगी, हिंसा–प्रतिस्पर्धा रहेगी। कबीरदास ने इस महती साधना का बीज बोया था। फल क्या हुआ, यह प्रश्न महत्वपूर्ण नही है। आधुनिक काल के श्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ने विश्वास पूर्वक गाया है, कि जीवन में जो पूजाये पूरी नही हो सकी है, मैं ठीक जानता हूँ कि वे भी खो नही गई है। जो फूल खिलने से पहले ही पृथ्वी पर झड़ गया है। जीवन में आज भी जो कुछ पीछे छूट गया है, जो कुछ अधूरा रह गया है, मैं ठीक जानता हूँ कि वह भी व्यर्थ नही हो गया है। मेरा जो भविष्य है, जो अब भी अछूता हैं, वे सब तुम्हारी वीणा के तार में बज रहे हैं, मैं ठीक जानता हूँ, ये भी खो गये है–

जीवने यत पूजा हलो न सारा,

जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।

ये फुल ना फुटि ते झरेदे धरणीते

ये नदी मरुपथे हारा लो धारा।

जानि है जानि ताओ हय निहारा।

जीवने आजो याहा रये छे पिछे,

जानि है जानि ताओ हय नि मिछे,

आमार अनागत आभार अनाहत

तोमार बीजा तारे बजिछे तारा।

जानि है जानि ताओ हय निहारा।[141]—गीतांजलि

कबीरदास की साधना भी न तो लोप हो गई है, न खो गई है। उनका पक्का विश्वास था कि जिसके साथ भगवान है और जिसे अपने इष्ट पर अखण्ड विश्वास है उसकी साधना को करोड़—करोड़ काल भी झकझोर कर विचलित नही कर सकते—

जाके मन विश्वास है, सदा गुरु है संग।

कोटि काल झकझोर रही, तऊ नहीं चित भंग।।[142]

♦♦♦♦

सन्दर्भ सूची

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका – डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 42
2. आदि ग्रन्थ – बेणी।
3. आदि ग्रन्थ – नानक।
4. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – सा. 301
5. आदि ग्रन्थ – रविदास
6. आदि ग्रंथ – नानक
7. कबीर बीजक – सा. 353
8. पद्मावत – सं. वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 158
9. दादूबानी (दादूबानी)
10. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास, पृ. 4
11. वही, पृ. 50
12. कबीर ग्रंथावली – श्याम सुन्दरदास, पृ. 49
13. वही, पृ. 49
14. वही, पृ. 49
15. वही, पृ. 49
16. वही, पृ. 50
17. वही, पृ. 50
18. वही, पृ. 50
19. वही, पृ. 50
20. वही, पृ. 50
21 वही, पृ. 50
22. वही, पृ. 51
23. वही, पृ. 51
24. वही, पृ. 51
25. वही, पृ. 51
26. वही, पृ. 51
27. वही, पृ. 51

28. वही, पृ. 51
29. वही, पृ. 51
30. वही, पृ. 52
31. वही, पृ. 52
32. वही, पृ. 52
33. वही, पृ. 52
34. वही, पृ. 52
35. वही, पृ. 52
36. वही, पृ. 52
37. वही, पृ. 52
38. वही, पृ. 52
39. वही, पृ. 52
40. वही, पृ. 52
41. वही, पृ. 52
42. वही, पृ. 52
43. वही, पृ. 52
44. वही, पृ. 52
45. वही, पृ. 52
46. वही, पृ. 53
47. वही, पृ. 53
48. वही, पृ. 53
49. वही, पृ. 53
50. वही, पृ. 53
51. वही, पृ. 53
52. वही, पृ. 53
53. वही, पृ. 53
54. वही, पृ. 53
55. वही, पृ. 53

56. वही, पृ. 53

57. वही, पृ. 53

58. वही, पृ. 53

59. वही, पृ. 54

60. वही, पृ. 54

61. वही, पृ. 54

62. वही, पृ. 54

63. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास, पृ.

64. वही, पृ. 64

65. वही, पृ. 64

66. वही, पृ. 64

67. वही, पृ. 64

68. वही, पृ. 64

69. वही, पृ. 65

70. वही, पृ. 65

71. वही, पृ. 65

72. वही, पृ. 65

73. वही, पृ. 66

74. वही, पृ. 66

75. वही, पृ. 66

76. वही, पृ. 66

77. वही, पृ. 67

78. वही, पृ. 67

79. वही, पृ. 67

80. वही, पृ. 67

81. वही, पृ. 68

82. वही, पृ. 68

83. वही, पृ. 68

84. वही, पृ. 68

85. वही, पृ. 68

86. वही, पृ. 69

87. वही, पृ. 69

88. वही, पृ. 69

89. वही, पृ. 69

90. वही, पृ. 78

91. वही, पृ. 78

92. वही, पृ. 78

93. वही, पृ. 78

94. वही, पृ. 104

95. वही, पृ. 104

96. वही, पृ. 104

97. वही, पृ. 104

98. वही, पृ. 104

99. वही, पृ. 104

100. वही, पृ. 104

101. वही, पृ. 105

102. वही, पृ. 105

103. वही, पृ. 105

104. वही, पृ. 105

105. वही, पृ. 105

106. वही, पृ. 105

107. वही, पृ. 105

108. वही, पृ. 106

109. वही, पृ. 106

110. वही, पृ. 107

111. वही, पृ. 107

112. वही, पृ. 107
113. वही, पृ. 107
114. वही, पृ. 108
115. वही, पृ. 108
116. वही, पृ. 108
117. वही, पृ. 85
118. वही, पृ. 85
119. वही, पृ. 85
120. वही, पृ. 85
121. वही, पृ. 85
122. वही, पृ. 85
123. वही, पृ. 85
124. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास, पृ. 147
125. सुन्दर ग्रंथावली – अंग–20, साखी – 7
126. पलटू साहब की बानी, पहला भाग, कुण्डलिया – 179
127. तुलसी साहब (हाथरस वाले) की शब्दावली, पहला भाग, पृ. 136
128. घटरामायण, भाग–2, पृ. 142
129. घटरामायण, भाग–2, पृ. 177
130. कबीर ग्रन्थावली, पद–80
131. शब्दा, 5, पृ. 9
132. शब्दा, 22, पृ. 15
133. शब्दा, पृ. 103.4
134. कबीर वचनावली, पृ. 13
135. स.क.सा. पृ. 41
136. कबीर वचनावली, पृ. 65
137. कबीर वचनावली, पृ. 27
138. कबीर ग्रन्थावली, पद–338
139. कबीर ग्रन्थावली, पद–58
140. शब्दा, पृ. 104
141. शब्दा, पृ. 106
142. सं. क. सा. पृ. 184

पंचम अध्याय

हिन्दी साहित्य में कबीर का स्थान व निर्गुण भक्ति

(1) हिन्दी साहित्य में कबीर का योगदान

(2) समाज सुधारक कबीर

(3) कबीर की निर्गुण भक्ति

(4) वर्तमान में कबीर की साखियों का महत्व

(5) साखियों के आधार पर कबीर का मूल्याकंन

पंचम अध्याय

हिन्दी साहित्य में कबीर का स्थान व निर्गुण भक्ति

किसी भी प्राचीन संस्कृति में कुछ नया जोड़ने या पुराने को बदलने की आवश्यकता का अनुभव साधारण स्थितियों में नही होता। परिवर्धन या परिवर्तन तभी अनिवार्य हो उठता है, जब आन्तरिक गुणात्मक विकास के कारण या बाहरी आघात अथवा दवाब के फलस्वरुप परिस्थितियाँ इतनी बदल जाती है कि पुरानी दृष्टि और व्यवस्था उनकी नई चुनौतियों को स्वीकार करने में असमर्थ सिद्ध हो जाती है। जो सस्कृतियाँ इन नई चुनौतियों के नये उतर नही दे पाती, वे मर जाती है, अर्थात् दूसरों के रंग में वे इतना अधिक रंग जाती है कि अपना पूर्व पश्चिम खो बैठती है और आक्रांता सस्कृतियों की पिछलग्गू बन जाती है। तेज स्वितापूर्वक जीवित रहने के लिए अपरिहार्य रुप से अपने अतीत से अपने को सम्बन्ध रखते हुए (अर्थात् अपने मौलिक स्वरुप की रक्षा करते हुए) नई परिस्थितियों को अपने अनुरुप या अपने को नई परिस्थितियों के अनुरुप बनाना पड़ता है समूची जाति जब सचेत या अचेत रुप से ऐसे परिवर्तन की आवश्यकता का उत्कट अनुभव करने लगती है और उसकी संस्कृति इतनी समृद्ध होती है कि वह नई समस्याओं के नया समाधान दे सके, तब उसकी जिजीविषा ऐसे युग पुरुषों को जन्म दिया है, जो प्राचीन के जड़ अंश को काटकर उसके चित् अंश के आलोक में नवीन का सर्जन कर उसे समृद्ध और शक्तिशाली बनाते रहे है। कबीर असन्दिग्ध रुप से ऐसे ही महापुरुष थे।

ईसा का पन्द्रहवीं शती तक भीतर की केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता पर तुर्कों–अफगानों का अधिकार हो चुका था। वे अपने साथ इस देश में एक नया बलिष्ठ धर्म एवं नई आक्रमक संस्कृति लेकर आये थे। जातियों और सम्प्रदायों में बँटा भारत, हृदयहीन सामाजिक रुढियों और प्राणहीन धार्मिक बाह्यचारों के शिकंजो में जकड़ा भारत न उनका प्रत्याख्यान कर सकता था, न उसका आत्म–गौरव अपनी सांस्कृतिक महिमा को तिलांजलि देकर उन्हें पूर्णतः ग्रहण ही कर सकता था। भारतीय समाज एवं बाह्याचार–प्रधान धर्म की विसंगतियाँ इतनी प्रत्यक्ष हो चली थीं कि उनके परिमार्जन की प्रचेष्टाएँ स्वतः आरम्भ हो गयी थी, इस्लाम के आगमन ने उन्हें और व्यापक बनाया, और द्रुतगति से सम्पन किया। हमारा संकेत मध्यकालीन भक्तिधारा की ओर है, जिसने अपनी अमृतमयी तंरगों से समग्र भारत को प्लावित कर उसकी सांस्कृतिक ग्लानि को धो दिया। हम उन लोगों से सहमत नही है, जो मध्यकालीन भक्ति–साधना और साहित्य को इस्लामी आक्रमण की प्रतिक्रिया मानते हैं, दक्षिण के जो आलवार भक्त एवं वैष्णव–आचार्य भक्ति के भावात्मक एवं

शास्त्रीय स्वरुप के प्रमुख निर्धारक थे, वो निश्चय ही इस्लामी प्रतिक्रिया और प्रभाव दोनों से मुक्त थे, किन्तु हम यह मानते हैं कि इस्लामी आक्रमण के फलस्वरुप ऊँच–नीच की भावना पर आघृत वर्ण–धर्म का ढाँचा चरमराया, तथा कथित नीची जातियों ने सामाजिक विषमता का प्रतिवाद करना आरम्भ किया, ज्ञान और योग आहत जन मानस को आश्वस्त करने में असमर्थ सिद्ध होने लगे, कर्मकाण्ड मूलक धर्म–साधना कठिनतर हो गई। इससे उत्पन्न रिक्तता की सहजपूर्ति पर आघृत भक्ति–साधना कर सकी। जिसके लिए जाति–पाँति, क्रिया–कर्म, योग–ज्ञान आदि की आवश्यकता नही थी, जो न इतनी स्पर्श कातर थी कि विदेशियों या विधर्मियों के सम्पर्क से अपवित्र हो जाती, न इतनी कठोर कि अज्ञान या प्रलोभन के कारण हुए पतन, स्खंलन को क्षमा न कर पाती। इस भक्ति–गंगा को उतर भारत के जन–मानस में प्रवाहित करने वाले हरिद्वार बने कबीर।

इसका यह अर्थ नही हैं कि वे किसी प्रचलित वैष्णव–सम्प्रदाय मे दीक्षित हो गये और उसका प्रचार करने लगे। कबीर की प्रतिभा सर्जनामूलक थी, अनुकरणमूलक नही। अपने समय में प्रचलित विविध साधना मार्गो के निकट सम्पर्क में वे आये थे। विद्वानों के अनुसार वे मूलतः 'योगी' या 'युगी' जाति के थे। उनके परिवार ने उनसे सम्भवतः एक या दो पीढ़ी पहले इस्लाम स्वीकार कर लिया था, अतः उन्हें विरासत में ही नांथपंथी साधना तथा इस्लामी संस्कार प्राप्त हुए थे। अपने चारों ओर फैले समाज में प्रचलित परम्परागत हिन्दू–रीति–नीति से उनका प्रत्यक्ष परिचय था। वे सूफियो की 'मदहति' भी सुनते थे और वैष्णव तो उनके संगी ही थे। वे पुस्तकी ज्ञान से भले वंचित रहे हों, किन्तु गुरु–कृपा से वास्तविक धर्म के मर्म से अवगत हो चुके थे। ''सतगुरु तत कह्यो विचार, मूल गह्यो अनभै विस्तार''[1] तथा ''आपै कहत सुनत पुनि आपनौ, अपन पै आपा बूखया[2]'' आदि वचनों के अनुसार सद्गुरु से प्राप्त तत्व का उन्होने अपने अनुभव के आधार पर विस्तार किया था। यह 'स्वानुभूति' ही कबीर की कसौटी हैं। वे उसी को 'साखी' देते हैं, जिसे अपने अनुभव से ''स्वसंवेद्यज्ञान'' से वे जान चुके हैं।

वेद हो या कुरान या कोई अन्य मान्य ग्रन्थ, यदि उसकी कोई आज्ञा उनकी अपनी अनुभूति के प्रतिकूल जाती हैं, तो वे उसे अमान्य कर देने में रंच मात्र कुण्ठा का बोध नही करते। कबीर की भूमिका ऋषि की हैं, जो प्रयोजन पड़ने पर प्राचीन को अस्वीकार कर नवीन विधान देने की क्षमता रखता हैं, पुरोहित की नही, जो प्रायः अपरिवर्तन वादी एवं प्राचीन विधानों का अन्धानुगामी होता है। ऋषि परमतत्व का स्वयं साक्षात्कार करता है एवं अन्य को प्रेरणा देता हैं, जब की पुरोहित सामान्य जन और देवी–देवताओं के बीच मध्यस्थ बना रहना चाहता हैं और इसी मध्यस्थता द्वारा जीविकोपार्जन करता है। पुरोहित का सा कोई निहित स्वार्थ न होने के कारण ऋषि अर्थहीन बाह्याचारों के प्रति विद्रोह कर युगानुरुप विचार एवं आचार का प्रवर्तन करता है।

(1) हिन्दी साहित्य में कबीर का योगदान

कबीर की काव्य भाषा और कला–पक्ष पर विचार करने से यह तथ्य उभरता हैं कि ये संत अपने क्षेत्र में वे जोड़ है। कबीर की भाषा पर जब विचार करते हैं तो उसे तत्कालीन समय की बोल–चाल की भाषा खड़ी बोली के रुप मे विकसित होती है। कबीर का उद्देश्य साहित्य रचना निश्चित रुप से नहीं रहा है। बल्कि कबीर की अनुभूतियाँ स्वतः अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है। इन्होनें अपने शिष्यों को जो सदुपदेश दिए है, वही इनका साहित्य है।

ये अपनें शिष्यों को भजनों, सबदों, दोहों(साखियों) के माध्यम से प्रबोधित करते रहे है। अपने कथ्य को गेय बनाने का इनका प्रयास रहा है। इसीलिए इनके विविध 'पद' अनेक राग रागनियों में आबद्ध है। आज भी इनके सबद/पद अनेकानेक रागनियों में गाये जाते है। अपने कथ्य में अंलकारों का प्रयोग करना इनका उद्देश्य नही है, किन्तु कथन की भंगिमा और उक्ति की वक्रता और भाव के वैचित्र्य के कारण अंलकार स्वतः उपस्थित हो गए है।

कबीर जहाँ अपने समय में प्रचलित अन्य काव्य शैलियों के साथ–साथ नाथों की 'उटलबाँसी' शैली का प्रयोग अपने काव्य मे करते हैं, वहाँ तथ्य कथन, द्विरुक्ति, प्रश्नोतर, चेतावनी आदि शैलियों का प्रयोग भी करते है। इनकी प्रतीक योजना सामान्य जीवन के सामान्य शब्दों से निर्मित होते हुए भी अपना वैशिष्ट्य लिए है। काव्य विषय और काव्य कला की दृष्टि से कबीर अन्य सम–कालीन संतों से दो हाथ आगे नजर आते है। उर्दू, संस्कृत शब्दों का प्रयोग इनके साहित्य में उपलब्ध हो जाता है। सामान्य मुहावरे और लोकोक्ति भी इनके साहित्य मे प्रयुक्त है। छंद की दृष्टि से कबीर की पकड़ अन्य संतो का मुकाबले मे सुदृढ़ है। इनकी भाव सम्पदा और उदाता का कोई मुकाबला नहीं । कबीर तो निश्चित रुप से हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख कड़ी है।

कबीर के साहित्यिक स्वरुप का अंकन करते समय उनके प्रतीकों को भुलाना असंभव है। दैनिक जीवन के अनुभवों को भी वे प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करने में सक्षम है। जन्म और मरण का एक निश्चित सम्बन्ध होता है। इस शाश्वत सत्य को व्यक्त करने के लिए कबीर सूर्य और फूल को चुनते है। मकान का बनाया जाना और फिर ढह पड़ना भी शाश्वत है। अतः जो उगता है वह छिपता हैं, जन्म लिया है, वह मरता भी है। इस शाश्वत सत्य की अभिव्यक्ति उपर्युक्त शब्दों को लाक्षणिक बनाकर की गई है।[3]

प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन काल कवलित होते हुए लोगो को देखता है, किन्तु उसे यह तथ्य समझ में नही आता हैं कि स्वंय भी काल का ग्रास बनने वाला है। अतः इस तथ्य को लोंगों तक पहुँचाने के लिए कबीर माली और कली दो सामान्य शब्दों के माध्यम से काल लीला का निरुपण

करते हैं।[4] कबीर प्रतीको के साथ–साथ लोकोक्तियों का प्रयोग भी करते है–'सूने घर का पाहुणा'[5] 'घूंबा केरा घौलर'[6] 'काजल केरी कोठरी'[7] 'बगज्यूँ माँडै ध्यान'[8] ये ऐसी सामान्य लोकोक्तियाँ है जिन्हें लोग सामान्य जीवन में व्यवहार करते रहते हैं और इनके अर्थ को बखूबी समझते भी हैं। इन्हें अपने काव्य में प्रयुक्त करके कबीर अपने काव्य को सशक्त बना लेते है।

लोकोक्तियों के प्रयोग से उनके कथ्य मे चमत्कार आ जाता है। इसी प्रकार का चमत्कार अंलकारों से भी उपस्थित होता हैं और अभिव्यक्ति प्रखर हो जाती हैं। कबीर के

काव्य में 'खालिक खलक खलक में खालिक'[9] जैसे अनुप्रास प्राप्त है तो 'संतो भाई आई ज्ञान की आँधी'[10] जैसे सांगरुपक भी विद्यमान है। उनकी उपमाएँ भी कम महत्वपूर्ण नही है। जब वे कहते हैं–''यहु ऐसा संसार है जैसा सेंवल फूल'[11] या फिर 'सतगुरु' ऐसा चाहिए जैसा सिकलीगर होई।'[12] अतिश्योक्ति का वर्णन भी बड़ा सार्थक है–

सपने हूँ बरड़ाइ कै, जिह मुख निकसै राम।
ताके पा की पनहीं, मेरे तन को चाम।।[13]

यही नहीं 'आंगण बेलि अकास फल''[14] में असंगति भी मनोहर बन पड़ा है। इस प्रकार कबीर वाणी में खोजने पर अनेकानेक अलकांर उपलब्ध हो जाते है। इस दृष्टि से कबीर का साहित्य कोरा उपदेश ही नहीं, अपितु जीवित साहित्य भी है। यह सत्य हैं कि अलंकार प्रदर्शन उनका उद्देश्य नहीं है। अलंकार उनकी अभिव्यक्ति की सार्थकता और उनकी प्रभविष्णुता के परिचायक है।

जिस फकड़ाना अंदाज में कबीर अपनी बात कहते हैं कि उसी फकड़ाना अंदाज में अन्य संत अपनी बात करते नजर नहीं आते है। बस फर्क इतना है कि कबीर में जहाँ दर्शन का गूढ़ ज्ञान है वहाँ उनके काव्य मै लोक रंग निचुडता चलता है कबीर दर्शन के गुढ ज्ञान को भी सहजता से कहते है।

यहाँ हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं की इनके साहित्य में भाव की दृष्टि से जहाँ सामाजिक जीवन दर्शन की अनूठी झाँकी मिलती हैं, वहाँ सामाजिक विसंगतियों पर तीखा प्रहार भी है। जहाँ नारी के कणक–कामिनी रूप की निंदा है. वहाँ मातृ,भगिनी पतिव्रता रुप की प्रशंसा भी है। जहाँ पाखण्डों, रुढ़ियों का खण्डन हैं, वहां पारमार्थिक विवेचना भी है। जहाँ ये ज्ञान, योग की चर्चा करते हैं वहाँ निष्काम भक्ति पर बल भी देते है। संस्कार की शुद्धता और नैतिकता पर बल देकर निवृति मूलक दृष्टिकोण का प्रतिपादन इनका उद्देश्य प्रतीत होता है। संत की सेवा, गुरु की सेवा, नाम का स्मरण, ईश्वर के गुणों का कीर्तन करते हुए भावात्मक एकता और

विश्वबन्धुत्व की भावना को भी वे नहीं भूलते है। ये पाखण्डी, कुसंगी लोगों के निंदक हैं, किन्तु सत्य तथा अहिंसा के मार्ग पर चलने वालों के प्रशंसक भी है। माया की सत्ता को स्वीकार करके उसे ईश्वर प्राप्ति में बाधक मानते है। धर्म और नीति की जो बात सही नहीं है, उसे आलोचना का पात्र बनाते हैं। ये जातिगत भेदभाव से ऊपर हैं। उनकी दृष्टि में राम भजन करने वाला संत सबसे बड़ी जाति का है।

इनका साहित्य गंगा की निर्मल धारा है। जैसे गंगा का पानी कभी बासी नहीं होता सदा निर्मल रहता हैं। ठीक इसी प्रकार इनका साहित्य भी सदियों बाद भी बासी नही हुआ है। गंगा जल की भाँति समाज के असाध्य रोगों का उपचार इनका साहित्य आज भी कर रहा है। साहित्य–रसिक उनके काव्य की भावधारा में काव्यानंद का आस्वाद लेता हैं तो व्यंग्यकार उनके चुटीले व्यंग्य पर चुटकी लेता है। इनका साहित्य जहाँ साधारण व्यक्ति की पहुँच का हैं, वहाँ विद्वानों को द्रविड़ प्राणायाम भी करवाने में सक्षम है। यद्यपि ये संत आध्यात्मिक रस की गगरिया भरकर चलते नजर आये हैं, किन्तु उनकी इस गगरिया से काव्य रस भी छलक–छलक पड़ता है। विविध प्रतीक, विविध अलंकार, विविध छंद, विविध काव्य शैलियाँ भी उनके साहित्य में विद्यमान हैं और सामान्य जन को समझाने के लिए साधारण साखियाँ, सबद और पद भी।

ये नये विचार सर्वथा नये ही होते हैं, ऐसा नही कहा जा सकता। विशेषतः प्राचीन संस्कृतियों के सम्बन्ध में तो यह देखा गया हैं कि उनके अन्तर्गत विकसित होने वाले परवर्ती चिन्तक स्वानुभूति के आधार पर ही सहीं, इतना मौलिक चिन्तन क्यों न करें उनके अधिकांश तत्व किसी न किसी पुरानी विचार धारा या परम्परा से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध दिखाए जा सकते हैं। किन्तु इससे न तो वे पुराने माने जा सकते हैं, न ही यह स्वीकार किया जा सकता हैं कि उनका उस संस्कृति के विकास में कोई नया योगदान नहीं है। वस्तुतः अपनी संस्कृति के अन्तर्गत चली आने वाली अनेकानेक परम्पराओं में से (जिनमें कुछ परस्पर विरोधी भी हो सकते है) किसी एक को या अनेक के समन्वित रुप को परिष्कृत कर इस प्रकार रखना की किंकर्तव्यविमूढ़ सामान्य जन उसका अनुगमन कर अपने जीवन को उन्नततर बना सकें, निश्चय ही संस्कृति में नया योगदान करना है। इसी तरह पुरानी संस्कृतियां अपने स्वरुप को सुरक्षित रखते हुए नई बनती चली जाती है। अपने समय में ऐसा करने के कारण ही कबीर को भारतीय संस्कृति का विशिष्ट उन्नायक माना जाता है। इस सन्दर्भ मे कबीर का यह मार्मिक दोहा विचारणीय है–

कबीर सोई आषिर सोई वचन, जन जूजुबा चबतं।
कोई एक मैले के लवणि, अमी रसाइण हंत।।[15]

अर्थात् अहार और वचन तो वे ही रहते हैं, किन्तु लोग उनको भिन्न–भिन्न ढंग से कहते हैं। जब कोई एक उनमें 'लवण' मिला देता है तब उसका अमृत रसायन हो जाता है। कबीर ने भी पुरानी मान्यताओं मे ऐसे ही 'लवण' का योग कर उन्हें अमृत–रसायन बनाया था।

अपनी सुदीर्घ परम्परा से प्राप्त जिस बीज भूत तत्व को कबीर ने साहसपूर्वक जीवन के नाना क्षेत्रों में उसका प्रयोग किया, वह था ''आध्यात्मिक एकत्व'' अथवा ''अद्वैतवाद''।उन्होने अनुभव किया था कि–

व्यापक ब्रह्म सर्बान में एकै, को पंडित को जोगी।
राणा रंक कवन सू कहिये, कबन वेद को रोगी।।
इनमें आप, आप सबहिन में, आप आप सू खेलै।
नाना भांति गढ़े सब भांडे, रुप थरै हरि मैले।।[16]

एक ही ब्रह्म पण्डित, योगी, राणा, रंक, वेद, रोगी सबमें व्याप्त है, बल्कि वह आप ही इन विविध रुपों में व्यक्त होकर लीला कर रहा हैं, इस सत्य तक वे तर्क द्वारा या शास्त्र विवेचन द्वारा नही पहुँचें थे, न उन्होंने इसका दार्शनिक पद्धति से निरुपण ही किया था। यह उनका सहज साधना लब्ध सत्य है और इसकी अभिव्यक्ति भी उन्होनें विश्वास की सरल, किन्तु जीत लेने वाली भाषा में की है। उदाहरणार्थ–

एक राम देख्या सबहिन में, कहै कबीर मन माना।[17]
प्यारे राम मन ही मना, कासू कहू, कहन कौ नाही दूसर और जना।[18]
हम तो एक एक करि जाना दोइ कहै तिनही कौ दोजग जिन नाहिन पहचाना।।[19]

जैसी अनेक उक्तियाँ उद्धृत की जा सकती है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता के बलों निर्गुणश्य।।[20]

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इसमें तथा ''सर्व खलिंद ब्रह्म'' के औपनिदिक अद्वैत एवं सर्वात्मवाद की अनुगूँज है, इस्लामी एकेश्वरवाद की नहीं, जिसके अनुसार परमात्मा एक होकर भी सृष्टि से भिन्न है और बन्दा खुदा से कभी अद्वैतता का दावा नहीं कर सकता।

इस आध्यात्मिक एकत्व को वे विचार तक ही सीमित नही रखते, विवेकपूर्वक धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक क्षेत्रों में व्यवहार के धरातल पर भी उतरते है। यदि परमात्मा एक है, तो वह समस्त सस्थाबद्ध धर्मो के आचार्यो द्वारा भिन्न–भिन्न नामों से पुकारे जाने पर भी एक ही है। इसी

स्तर पर वे राम रहीम, केशव करीम, ब्रह्म–अल्लाह को एक ही घोषित करते है।

हमारे राम रहीम करीमा केसौ, अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि विसंभर एकै और न दूजा कोई।।[21]

आज के कुछ विचारकों की दृष्टि में कबीर की महता मुख्यतः इसी में है कि उन्होनें हिन्दुओ और मुसलमानों के वैमनस्य, जाति–पाँति के वैषम्य तथा छुआछुत को दूर करने का भगीरथ प्रयास किया था। सचमुच यह बड़ा काम हैं, किन्तु स्वंय कबीर की दृष्टि से विचार किया जाए, तो उनके लिए यह उपसाध्य मात्र था, अपने आधारभूत सिद्धांत के निष्ठापूर्वक किये गये अनुगमन का उपफल मात्र था। उनका वास्तविक साध्य तो था–प्रभु साक्षात्कार। कबीर ज्ञानी भक्त थे। पारमार्थिक दृष्टि से वे ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों से परे तथा जीव को ब्रह्म ही मानते थे, किन्तु भक्ति–साधना के स्तर पर वे भगवान को सगुण निराकार और भक्त को उनका परम आत्मीय मानते थे। भक्ति की निजी विशिष्टता है कि भक्त को भगवान से आत्मीयता का सम्बन्ध अपने स्वभाव के अनुसार जोड़ना पड़ता है। कबीर ने भगवान को अपना स्वामी, पिता और सखा भी कहा है, किन्तु सर्व प्रमुख रुप से उन्हें अपना प्रियतम पति कहा हैं । उनकी भावमयी कल्पना के अनुसार प्रभु उनके प्राण प्रिय हैं, वे हरि की बहुरिंया हैं, राम बड़े हैं, किन्तु वे स्वंय छोटे ही हैं, सोलहों सिंगार किये आत्मा रुपी बहुरिंया अपने प्रिय से मिलने के लिए विकल हो उठी है ओर समझ नही पा रही हैं कि प्रियतम अब क्यों नहीं आ मिलते । कबीर का सुप्रसिद्ध पद हैं–

हरि मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव,
हरि बिन रहि न सके मेरा जीव।।
हरि मेरा पीव मैं। हरि की बहुरिया,
राम बड़े में छुटक लहुरिया।।
किया स्यंगार मिलन के ताई,
काहे न मिलौ राजा राम गुसाई।।
अब की बेर मिलन जो पाँऊ,
कहे कबीर भौजलि नहीं आँऊ।।[22]

कबीर की कान्ता भाव की यह भक्ति भारतीय संस्कृति को उनकी एक विशिष्ट देन है। भारत की परम्परागत भक्ति साधना मे कान्ता भाव का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु उसका आलम्बन भगवान का सगुण, अधिकतर अवतारी साकार रुप है। कबीर न भगवान के अवतार पर विश्वास करते थे, न साकार रुप पर। अव्यक्त परमात्मा को अव्यक्त रखकर उसके प्रति प्रेयसी भाव से प्रणय निवेदन कबीर के पूर्व किसी भारतीय भक्त ने नहीं किया था। अतः अधिकांश आधुनिक

विचारकों ने इसे भक्ति से भिन्न रहस्यवाद की संज्ञा दी हैं और इसे सही साधना का प्रभाव बताया है।

प्रेम साधना भक्ति और सूफी–मत की सामान्य विशेषता है, किन्तु उनमें अन्तर भी कम नही है। सूफी इश्क–मजाजी या लौकिक प्रेम को इश्क–हकीकी या अलौकिक प्रेम में सहायक मानते है। कबीर ने इश्क–मजाजी का समर्थक नही किया है उनकी तो मान्यता थीं कि 'नर–नारी सब नरक है जब लगां देह सकाम।'[23] बल्कि उन्होनें तो यहां तक कहा था कि ''भगति बिगाड़ी'' कामिय इंद्री केरे स्वादि।[24] सिर्फ एक साखी में उन्होने नियन्त्रित काम को भी राम–मिलन मे सहायक बताया है, किन्तु उसमें भी वे गुरुदेव के निर्देश को स्वीकार करने पर विवशता प्रकट करते है।

काम मिलावे राम कूँ जे कोई जाव्यें राषि।
कबीर विचारा क्या करै, जाकी सुखदेव बोले साषि।।[25]

स्पष्ट है कि यहाँ वे भगवान का अनुगमन कर रहे है, सूफी मत का नही। सूफियों में परमात्मा को माशूक और साधक को आशिक माना जाता है। फारसी, सूफी–मसनवियों माशूकाएँ प्रायः परकीया है। भारतीय सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में केवल चाँदायन में इस परम्परा को निवाहा गया है। परवर्ती काव्यों में भारतीय मर्यादाबोध के कारण नायिकाएँ स्वकीया ही चित्रित की गई है, किन्तु आशिक के प्रेम वर्णन में उन्मुक्तता, वासनात्मकता और उच्छ्वासित विह्वलता को ही प्रधानता दी गई है। जबकि कबीर ने भारतीय प्रकृति–पुरुष की परम्परा के अनुरुप आत्मा को विरहिणी प्रिया और परमात्मा को प्रियतम माना है और फिर भारतीय सती को अपना आदर्श स्वीकार कर संयत, मनुहारपरक एंव गम्भीर आर्तिमूलक प्रेम–निवेदन किया है। प्रेम के क्षेत्र में उन्होंने मजनू, युसूफ या फरहाद को अपना गुरु न मानकर गोपी को अपना गुरु माना है–

'कबीर तालिब तोरा, तहाँ गोपि हरी गुर मोरा।''[26]

यह नारदीय भक्ति सूत्र के ''यथा ब्रज गोपि का नाम''[27] का अनुसरण है विरह की प्रधानता सूफियों मे भी है और कबीर में भी, किन्तु कबीर की विरहानुभूति में व्याकुलता होते हूए भी विक्षिप्तता नहीं है, न उसमें ''विरह सरागहि भूंजैं माँसू'' की वीभत्सता है, न आकाश–पाताल एक करने वाली अतिश्योक्ति ही। कबीर की विरहिन 'हाल' के आवेश में या प्रियतम के साक्षात्कार के समय सूफी–प्रमियों की तरह मूर्च्छित नहीं होती। नारदीय भक्ति सूत्र में भक्ति को ग्यारह आसक्तियों में सर्वोत्कृष्ट आसक्ति बताई गई है ''परम विरहा सक्ति''।ऐसी स्थिति में ''भगति नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भव तिरी कहै कबीरा''।[28] की घोषणा करने वाले कबीर की विरहानुभूति को सूफी भाव पन्न मानने का कोई कारण नहीं है। मिलन के चित्रण तो कबीर में कृष्ण भक्त कवियों

और सूफियों की तुलना में कहीं अधिक मर्यादा युक्त है। सूफियों के लिए प्रेम ही ज्ञान है, किन्तु कबीर ने दोंनों को सहयोगी मानते हुए भी पृथक माना है।

'कबीर बीजक' में संगृहित रचनाओं की एक यह विशेषता है कि उनमें सृष्टि रचना विषयक वर्णनों की भी प्रचुरता है। कबीर साहब यहां पर न केवल किसी दार्शनिक की भाँति विश्व के मूल तत्व का ही प्रतिपादन करते है, अपितु उसके विकास–क्रम का भी प्रश्न छेड़ते है। इस विषय के पीछे कबीर पंथ में भी बहुत अधिक महत्व दिया गया है और उसकी कुछ रचनाएँ इसी कारण, पुरानों जैसी भी बन गई है। स्वंय कबीर साहब तथा उनके व्यक्तिगत जीवन के संबंध में भी इसके आधार पर पौराणिकता का समावेश कर दिया गया है, इससे हम उनके सुन्दर लोक जीवन की अनुपम झांकी पाने से वंचित कर दियें गये है। जहाँ कहीं वह मानिकपुर आदि के प्रसंगवश, हमारे निकट आते भी जान पड़ते हैं, वहाँ भी वह केवल एक शास्त्रार्थ–पटु व्यक्ति तथा सुधारक के रुप में ही दिखते है। फिर भी 'कबीर बीजक' में संगृहीत पथों के विविध काव्य रुपो पर दृष्टि डालते समय हमें उसके संगृह काल में प्रचलित लोकगीतों का भी स्मरण हो जाता है। उन्हें कबीर कृत मान लेने पर हमारी धारणा कुछ ऐसी होने लगती है कि किस प्रकार वह सर्व साधारण के बीच रहते हुए जन–जीवन के सम्यक् उत्थान के यत्न करते रहे होंगे। गूढ़ से गूढ़ विषयों को भी सरल भाषा में व्यक्त कर उन्हें लोक प्रचलित माध्यमों द्वारा उनको सब तक पहुँचाने का कार्य जितना 'कबीर बीजक' में संगृहीत रचनाओं द्वारा उदाहृत किया जा सकता है, उतना अन्य ऐसे संगृहों में संगृहित पदों द्वारा संभव नहीं है। 'कबीर–बीजक' के कबीर साहब अन्य संग्रहों वाले कोरे सहृदय तथा स्पष्टवादी भक्त मात्र न रहकर एक तार्किक प्रचारक, लोकचतुर तथा व्यंग्य कर्ता व्यक्ति भी है।

(2) समाज सुधारक कबीर

मध्यकाल के क्रांतिपुरुष कबीर के सम्बन्ध में और चाहे जो भी हो, इतना निश्चित है कि उन्होनें एक साथ ही अपने समय के समाज को भीतर बाहर से झकझोर दिया था। जिस समय कबीर प्रादुर्भूत हुए थें, उस समय की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक स्थितियाँ पर्याप्त विषम थीं कबीर इस बात को समझते थे अतः उन्होनें अपने क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के माध्यम से समाज, धर्म, जाति, प्रथा, छुआछूत तथा विविध प्रकार के ब्राह्याडम्बरों और बाह्याचारों का विरोध किया और आन्तरिक शुद्धता व आत्मा की पवित्रता पर जोर दिया। यही वह बिंदु है जहाँ पर आकर कबीर एक समाज सुधारक का रुप धारण कर लेते है। प्रश्न यह है कि समाज सुधार करने वाला व्यक्ति मात्र सुधारक होता है या कुछ और भी? कबीर की मूल चेतना अथवा कहें कि उनके काव्य की मूलधारा भक्ति की धारा है। उनकी भक्ति में निष्कामता, अनन्यता, समर्पणशीलता तो है ही, सत्संगति और सदाचरण के लिए विशेष स्थान है। जो व्यक्ति इस प्रकार का होता है, वह एक शब्द

में 'संत' कहा जा सकता है। फिर सन्त का सुधारक होना अनिवार्य भले ही न हों, किन्तु उसके सन्तत्व की एक सहज प्रक्रिया अवश्य होती है। स्पष्ट ही कबीर सन्त भी थे और सुधारक भी थें।

कबीर सन्त थे और संत अपने दिव्य ज्ञान के आधार पर प्रत्येक धर्म, प्रत्येक दर्शन और प्रत्येक स्थिति से सार तत्व का चयन करता है। वह यह देखता है कि उसके समय में जो विभिन्न मत और सम्प्रदाय प्रचलित है, उनमें सार तत्व क्या है। वहीं सार तत्व वह ग्रहण कर लेता है। कबीर ऐसे ही सारग्रही महात्मा थें। कबीर के समय में विभिन्न मत–सम्प्रदाय प्रंचलित थें। प्रत्येक मत अपने जटिल विधानों एवं विरोधी सिद्धान्तों को लेकर अपने ढाई चावल की खिचड़ी पका रहा था। इससे समाज में द्वेष, पाखण्ड और ऊंच नीच की भावना का बोलबाला हो रहा था। कबीर अपने युग और समाज के सजग प्रहरी थें। उन्होंने एक सामान्य सत्य का स्वरुप उपस्थित कर समाज को सुधारने का प्रयत्न किया। एक सारग्राही के समान उन्होनें प्रत्येक मत और सम्प्रदाय की अच्छाइयों को ग्रहण कर कुरीतियों, पाखण्ड और बाह्याडम्बरों का अपनी प्रखरवाणी में विरोध किया। वे विभिन्न मत–मतान्तरों के स्वरुप का उल्लेख करते हुए कहते हैं–

''आलम दुनी सबै फिरी खोजी, हरि सकल अयाना।
छह दरसन छयानवै पाखण्ड, आकुल कितहूँ न जाना।''[29]
दस सन्यासी बारह जोगी, चौदह शेख बखान।
अठारह ब्राह्मण. अठारह जंगम, चौबिस सेवड़ा जान।।[30]

उस समय हिन्दू धर्म में वैष्णव सम्प्रदाय एवं उपसम्प्रदाय, शैवसम्प्रदाय, शाक्त सम्प्रदाय, स्मृति धर्म, नाथ–पंथ, इस्लाम, सूफी आदि विभिन्न धार्मिक मत–मतान्तर जनता को प्रभावित कर रहे थें। इसी प्रकार विभिन्न उपसना पद्धतियाँ एवं साधनाएँ भी प्रचलित थीं। इनके झगड़ों में जनता भ्रमित हो रही थी। विजयेन्द्र स्नातक द्वारा सम्पादित पुस्तक 'कबीर' में लिखा है कि ''कबीर सहज में आस्था रखने वाले मानवतावादी व्यक्ति थें। इस्लाम को स्वीकार करने पर भी मजहबी कट्टरता से वह कोसों दूर थें। उनका कोई लगाव किसी रुढि और अंध मर्यादा से नहीं था। हृदय की स्वच्छ कसौटी पर विवेक की जो खरी लीक बनती, उसे ही कबीर साहब सही मानते थें । अनुभव की तुला पर तथ्य और सत्य की परख कर ग्रहण या त्याग की पद्धति ही उनका जीवन–क्रम बन गया था''[31]

कबीर के समय में हिन्दू समाज के अन्तर्गत सनातन धर्म सम्बन्धी परम्पराएँ प्रचलित थीं। सनातन धर्म सदैव से आचार–प्रवण रहा हैं, जिसके परिणामस्वरुप हिन्दू जनता धार्मिक क्रियाओं में लीन रहती थीं। उन सबमें पूजा–पाठ, यज्ञानुष्ठान एवं अन्य कर्मकाण्डों का आधिक्य था, परन्तु उसके पीछे जो तत्ववाद निहित था, वह उनकी दृष्टि के पूर्णतया विलुप्त हो चुका था, अतएव

तीर्थाटन, उपवास–व्रत, कथावार्ता, वेदाध्ययन तथा वैदिक यज्ञादिक हवन में सिवाय आडम्बर के कुछ भी अवशेष न रह गया था। इन कार्यों में कर्मकाण्डी, ब्राह्मण, पुरोहित एवं पुराणपंथी लोग यजमानों को ठगते थें, जो स्वंय अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित थें तथातत्व ज्ञान से अनभिज्ञ थें। वे लोग केवल अपना उल्लू सीधा करने के लिए जनता को आडम्बरों, ढकोसलों एवं मिथ्या कर्मों में लगाए रखते थें। कबीर ने उन सबके कर्मों का सूक्ष्म निरीक्षण किया तथा वेद को समझकर पर्दाफाश किया।धार्मिक ठेकेदारों के कुकृत्यों को देखकर कबीर ने उन्हें खूब फटकारा है। यही नहीं, अपितु कसाई कहकर जनता का शत्रु बताया–

साधो पाण्डे निपुन कसाई।
बकारी मारि भेड़ि को धाये, दिल में दरद न आई।।[32]
इनसे दिच्छा सब कोई माँगें, हँसि आवै मोहि भाई।।[33]

कबीर का प्रादुर्भाव ऐसे संक्रान्ति युग में हुआ जब उतर भारत में सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं विविध सम्प्रदायों में पारस्परिक विरोध अधिक था। उतर भारत में ही हिन्दू मुसलमान ये दो बड़ी जातियाँ निवास करती थीं। इन दोनों ही में अपने आचार–विचारों, रीति–रिवाजों, सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं आदि के बारे में दृढता एवं कट्टरता विद्यमान थीं जिसके परिमाणस्वरुप दोनों जातियाँ परस्पर संघर्षरत थीं। ईर्ष्या, द्वैष, वैमनस्य का बोलबाला था। परस्पर समझौते की प्रवृति नहीं थीं। उस समय हिन्दू एवं मुसलमान धर्म के ठेकेदारों ने भोली–भाली जनता को बहकाकर अनकोनेक पाखण्डों, बाह्याचारों, अन्धविश्वासों एवं मिथ्या आडम्बरों में उलझाये रखा था। और वे अपने की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए पारस्परिक मनोमालिन्य एवं ईर्ष्या द्वेष को प्रश्रय दे रहे थे।

इस प्रकार के संकीर्ण विचार उस समाज का संतुलन बिगाड़ रहे थें। कुरीतियों और कुप्रथाओं का बाहुल्य था। धार्मिक अव्यवस्था बड़ी ही चिन्तनीय थीं। रुढिवादी विचारधारा पनम रही थीं। अतएव उस समय किसी ऐसे महात्मा या धर्म प्रवर्तक अथवा सामाजिक नेता की आवश्यकता थीं जो दोनों धर्मों, सम्प्रदाओं में व्याप्त अन्तर्विरोधों का अध्ययन करके उनसे ऊपर उठकर बुराइयों को दूर कर सके। हिन्दू मुसलमान दोनों में समता स्थापित कर सके। कबीर अपने समाज के सजग प्रहरी थें। साथ ही सामाजिक अव्यवस्था को मिटाकर उसे सुन्दर एवं सुदृढ. व्यवस्था स्थापित कर सके। उन्होनें तत्कालीन अव्यवस्था, आडम्बर प्रियता, अहंकार प्रियता, रुढिवादिता तथा मिथ्याचारों का खुलकर विरोध किया और उन्हें दूर करने का बीड़ा उठाया।

कबीर के समय में हिन्दू धर्म एवं समाज के भीतर पौराणिक धर्म सम्बन्धी परम्पराएँ प्रचलित थीं। जिसके परिणामस्वरुप हिन्दू जतना पौराणिक आचार–विचार, सम्पन्न धार्मिक कृत्यों में लीन रहती थी। पूजा–पाठ, यज्ञानुष्ठान, कर्मकाण्ड आदि का बोलबाला था, परन्तु उनके पृष्ठ में

अन्तर्निहित तत्ववाद उनकी दृष्टि से पूर्णतः विलुप्त हो चुका था। उस समय धर्म के नाम पर मिथ्या प्रदर्शन ही था। पुराणपंथी पण्डित और कर्मकांडी ब्राह्मण अपने यजमानों को ठगते थें। वे तत्वज्ञान से रहित उल्टे सीधे कर्म करने वाले अशिक्षित एवं अर्द्धशिक्षित थें। ब्राह्याचारों में जनता को लीन रखकर भ्रमित कर रहे थें। कबीर ने इन बुराइयों का सशक्त विरोध किया। एक उदाहरण देखिए–

साधों पांडे निपुन कसाई।
बकरी मारि भेड़ि को धाये, दिल मे दरद न आई।।
करि अस्नान तिलक दै बैठै, विधि सों देव पुजाई।
आतम मारि पलक बिनसे, रुधिर की नदी बहाई।
अति पुनीत ऊंचे कुल रहिये, समा माहिं अधिकाई।
इनसे दिच्छा सब कोई मांगे, हँसि आवै मोहि भाई।[34]

ब्राह्माणों के छुआछुत आदि व्यर्थ नियमो को कबीर ने उखाड़ फैंकने में कोई कसर नही छोडी। वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा के नाम पर उस समय हिन्दू समाज में छुआछूत के साथ जातियों मे अस्पृश्यता का भी प्रचार प्रसार हो गया था। कबीर ने देखा कि यह समाज के लिए अभिशाप है, अतएव उसका खण्डन किया। इस प्रकार इस महामानव ने उस वर्ग का तो अवश्य ही कल्याण किया, जो पंडितो के प्रपंच से पिस रहा था। उन्होनें खुले शब्दों मे हिन्दुओं के धार्मिक ठेकेदारों का ललकारा–

काहे को कीजै पांडे छोटि बिचारा।
छोटि हि ते उपजा संसारा।
हमारे कैसे लोहू, तुम्हारे कैसे दूध।
तुम कैसे ब्राह्मण पांडे, हम कैसे सूद।
छोटि–छोटि करत तुम्ह ही जाये।
तौ ग्रंथवास काहे को आये।।[35]

हिन्दुओं मे प्रचलित विभिन्न सम्प्रदाय एवं अनेक मत–मतान्तर थें। शैव, शाक्त, वैष्णव, योगी, यती, नाथपंथी, तांत्रिक, जैनी, बौद्ध, निरगुनिया आदि सभी दुराचारी थें, मांस मदिरा का सेवन करते थें। व्यभिचार और अनाचार मे उनकी आस्था थीं। कबीर ने उन सभी मतावलम्बियों की विभिन्न क्रियाओं एवं उपासना पद्धतियों का उल्लेख करके उनके कुकृत्यों का विरोध करके जनता को उनसे सचेत किया।

हम पढ़ै पाठ एक भ्रमै उदास, इन नगन निरुतर रहै निवास।
इक जोग जुगति तन होहिं खीन, ऐसे राम संग रहै न लीन।
इक दूहि दीन, एक देहि दान, इक करै कलापी सूरापान।
सब मदमाते कोऊ न जाग, संग ही चोर घरै मुसन लाग।।[36]

इस प्रकार कबीर ने इस सभी साधु, सन्यासियों, योगी, यतियो, ऋषि, मुनियों आदि के आडम्बरों का विरोध किया। माला धारण करना, केश मुंडवाना जैसे कृत्यों का विरोध किया –

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख मांहि।
मनुवा तो चंहु दिसि फिरै यह तौ सुमरिन नाहिं।।[37]
केसन कहा मुंडइया, जो मूडौ सौ बार।
मन को क्यों नहीं मूंडिये, जामे विषय विकार।।[38]

तथा 'छापा तिलक बनाइ के दग्धा लोक अनेक''।[39] इस प्रकार कबीर ने इन आडम्बरों को मिथ्या सिद्ध किया है। ये मिथ्याडम्बर किसी मत के प्रमाण नही है। पूजा–पाठ का उपहास कबीर ने इस शब्दों में किया है–''पापी पूजा बैसि करि भयौ मांस मद दोहू।।''[39] इतना ही नहीं, हिन्दुओं में पूजा के नाम पर फैली अनेक मिथ्या परम्पराओं का खुलकर विरोध किया, यथा– पाहन पूजै हरि मिलै तो मै पूँजू पहार।'' कहकर मूर्तिपूजा का खण्डन किया। इसमें कबीर के मुस्लिम धर्म का संकेत स्पष्ट है। अवतारवाद का खण्डन यह कहकर किया है–''ना दसरथ घर औतरि आवा।'' ''तिरथ गये ते बहि मुये बूड़े पानी न्हाय।'' कहकर तीर्थाटन का विरोध किया है। ''अन को त्यागै, मन नहिं हटकै मारन करै संगोती।'' कहकर व्रत उपवास का विरोध किया । इस प्रकार बड़ी निर्भीकता के साथ कबीर ने हिन्दू जाति में व्याप्त नाना धार्मिक विश्वास जो आडम्बर मात्र थे, उनका विरोध किया है।

कबीर ने मुस्लिम समाज में व्याप्त अनेकानेक ब्राह्याडम्बरों का भी विरोध किया है। इस्लाम धर्म के अनुयायी कबीर की दृष्टि मे तुर्क कहलाते थें। इस मत के ठेकेदारों को काजी, मुल्ला, शेख, दरवेश आदि नामों से पुकारा है। केवल दिखावे के लिए हज करने वाले शेख कहलाये, नमाज पढने वाले, झूठी बन्दगी करने वाले को तथा खुदा की इबादत करने वाले केवल स्वाद के लिए गौहत्या करने वाले को काजी नाम से पुकारा है। मस्जिद पर अजान देने वाले मुल्ला कहलाये। कुरान पढकर जनता का मन बहलाने वाले मौलवी कहलाये । इन सभी को कबीर ने वास्तविक धर्म से शून्य पाया तथा इन्हें मिथ्याचारी एवं सीधी सादी जनता का प्रवंचन सिद्ध किया। कबीर की अनेक साखियां एवं पद बाह्य आडम्बर के उपहास, भर्त्सना के रुप में प्रस्तुत की जा सकती है, उदाहरणार्थ–

दिन में रोजा रखत है, रात हनत हौं गाइ''।[40]
बकरी पाती खात है, ताकी खींची खाल।
जे नर बकरी खात है, तिनके कौन हवाल।।[41]
कांकर पाथर जोरि कै मसजिद लई बनाय।
ता पर मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।[42]
जो रे खुदाय मसीत वसतु है ऊपर मुलुक कहि करो।।[43]

इसमें ईश्वरोपसना के नाम पर फैले बाह्याचार पर व्यंग्य किया गया है। इस प्रकार कवि ने बड़े कटु शब्दो में व्यग्ंय प्रहार किया है। यही कारण है कि कबीर की ये कटुक्तियाँ नीरस एवं रुखी है, परन्तु इनमें सहानुभूति एवं सच्चाई भरी हुई है। वस्तुत कबीर ने बड़ी सच्चाई से दोनों धर्मों एवं जातियों की बुराइयों को उनके सामने प्रस्तुत किया है।

कबीर मात्र कटु आलोचक ही नही है। अपितु एक सच्चे सुधारक भी है। उनकी इस आलोचना में संतुलित समदृष्टि एवं अद्भुत सुधार भावना भी विद्यमान है। कबीर ने जो कुछ कहा है। उनके कथन में निर्द्वन्द्वता दिखाई देती है।–

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू आपन करै बढ़ाई गागर छुवन न देई।
वेश्या के पावन तर सौवे या देखों हिन्दुवाई।
मुसलमान के पीर औलिया मुरगा मुरगी खाई।
खाला के संग बेटी ब्याहै घर ही मा करै सगाई।
कहे कबीर सुनौ भाई साधौ कौन राह दुई जाई।।[44]

कबीर का लक्ष्य दोनों ही मिथ्यामार्गियों को उचित राह पर लाने का ही रहा है। छुआछुत का विरोध एवं ऊंच नीच की भावना को बुरा बतलाया है। हिन्दुओं में व्याप्त वर्णव्यवस्था का उपहास करके मानव मात्र की एकता एवं समानता पर जोर दिया है। इतना ही नहीं''सो हिन्दू सो मुसलमान जाका दुरुस्त रहे ईमान'' कहकर कबीर ने स्पष्ट घोषणा की है कि जिसका ईमान दुरुस्त है, जो अपने धर्म पर सत्य के साथ आरुढ़ है वही हिन्दू या मुसलमान है। पाखण्डी एवं मिथ्याचारी व्यक्ति न हिन्दू है, न मुसलमान। कबीर ने मिथ्याचारों का विरोध कर उनके स्थान पर सत्य एवं शुद्ध आचरण का भाव पैदा किया है। कबीर का कथन है–''एक ज्योति से सब जग उपज्या कौन भला कौन मंदा'' तथा ''एक ज्योति से सब उत्पन्ना कौन बाम्हन कौन सूदा।'' इस प्रकार कबीर ने जातियों एंव अन्तर्जातियों के मध्य व्याप्त नाना कुरीतियों को, भेदभाव को मिटाकर ऐक्य स्थापन पर बल दिया है। वह सच्ची मानवता के पुजारी थें। कबीर के विचार इस प्रकार हैं–''भला भरमि परै जिनि कोई, कोई हिन्दू तुरुक झूठ कुल दोई'' तथा '' हिन्दू तुरक की एक राह है सतगुरु इहै बताई।'' दोंनो में अभिन्नता का भाव जाग्रत किया है।

मध्यकाल मे शासकों और सामन्तों ने नारी को जिस प्रकार विलास सामग्री बनाया था उसका समाज पर दूषित प्रभाव पड़ा ही था, हिन्दी संत कवियों के पूर्ववर्ती सहजयानी सिद्धों और कौलमार्गी साधको ने जिस रुप मे नारी को साधना का अंग बनाया था, मांस, मद्य, मैथुन, मुद्रा आदि पंचम कारी साधना द्वारा समाज मे व्यभिचार और कामोपासना को बढावा दिया था, धर्म के

नाम पर अनैतिकता तथा कामुकता का प्रसार किया था, उससे भी समाज में विकृति आई थीं। हिन्दी संत काव्य में इसकी खूब प्रतिक्रिया दिखाई देती है। कबीर ने चारित्रिक दृढ़ता पर बहुत जोर दिया है। उनका कथन है कि–

''जहाँ काम तह राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।''[45]

उनके काव्य मे नारी के दो रुप मिलते हैं, प्रथम कामिनी रुप, दूसरा पतिव्रता एंव सती साध्वी का रुप। कबीर की दृष्टि में नारी केवल साधना के मार्ग मे बाधक है। इसीलिए उन्होने कामिनी को ''काली नागिनी'' और ''शहद की मधुमक्खी'' के समान बताया जो विषयासक्त लोगों को पूर्णरुप से खा जाती है। जो पुरुष नारी के संसर्ग में लिप्त रहते है उनके तीन गुण–भक्ति, मुक्ति और ज्ञान नष्ट हो जाते है। कनक और कामिनी विष के समान है। स्त्री और स्वर्ग आग की लपट के समान है, जो खाते या भोगते समय मधुर प्रतीत होती है किन्तु अन्ततः विषवत् सिद्ध होती है। इन कथनों से स्पष्ट है कि कबीर का लक्ष्य समग्र नारियों का अपमान नहीं था अपितु वे समाज में मर्यादा की स्थापना करना चाहते थें।

विलास–जर्जर समाज को वासना के पंक से निकालकर सत्पथ पर लाना चाहते थें। वस्तुतः कबीर के काव्य में नारी के अनेक रुप मिलते है। उन्होनें नारी के कन्या, तरुणी–रुप, विवाहिता नारी, कर्कशानारी, माता, भगिनी तथा वेश्या के रुपों का यथार्थ अंकन किया है।

कबीर की दृष्टि मे पतिव्रता नारी ही समाज का आदर्श है। यदि कोई स्त्री अपने पति को प्रिय नहीं है तो उसके लिए पड़ौसियों को प्रसन्न करने से कोई फायदा नहीं। पति के लिए बाहरी श्रृंगार की अपेक्षा मानसिक और चारित्रिक पवित्रता अधिक आवश्यक है। यदि नारी पतिव्रता है तो वह चाहे जैसे रहे अपने पति को प्यारी होगी। सच्ची सौभाग्यवती स्त्री वहीं है जो अपने पति को तन, मन तथा यौवन पूर्णतया समर्पित कर देती है–

जौ पै प्रिय के मनि नाहीं भाए।
तौ का परोसनि के हुलराए।।
का चूरा पाइल झमकाए, कहां भयौ बिछुवा ठमकाए।
का काजल सिन्दूरकै दीयैं, सोलह सिंगार कहा भयौ कियें।
अंजन मंजन करै ठगौरी का पंचि मरै निगोड़ी बौरी।।
जौ पै पतिव्रता ह्वै नारी कैसे ही रहै सो पियही पियरी।।
तन मन जीवन सौंपि सरीरा, ताहि सुहागिनी कहै कबीर।[46]

कबीर ने सामान्य जनता को कभी विस्मृत नहीं किया। उनका मानस उसी क्षण संतप्त हो उठता था। जब वे किसी किसान, चमार, नाइ या धोबी आदि को तिरस्कृत देखते थें। कबीर की दृष्टि से

सब मानव समान है और उनमे भेद करना मूढ़ता है। इनकी दृष्टि में इंसानों के बीच विभाजित रेखा को निर्मित करना अमानवीयता है, दानवता है और निष्ठुरता है। लोक जीवन से सतत् प्रभावित संत कबीर ने अपने युग की सामान्य जनता के प्रति अगाध अनुराग किया है।

सामान्य जनता का जीवन अपने एक अलग स्तर पर चल रहा था। धर्म और जाति का भेद होते हुए भी साधारण जनता एक स्तर पर श्रम करके अपना जीवन बिता रही थीं। किसान खेती का काम करते थें। बढ़ई लकड़ी का काम करते थें। चरखा बनाते थें। कुम्हार, धोबी, चमार, नऊ ब्राह्मण आदि समाज की विभिन्न जातियाँ थीं, जो परम्परागत सामाजिक मान्यता के अनुसार अपने कर्म में लगी थीं। इस कृषक और श्रमिक वर्ग के अलावा एक व्यापारी था। समाज में हाट लगाते थें। लोग दूसरों को धोखा देकर ठगते थें। कबीर मनुष्य में इन व्यवहारों को नहीं देखना चाहते थें। दूसरों को धोखा देना, ठगना, परमात्मा के प्रति अन्याय है। मानवता के प्रति अन्याय है, अत्याचार हैं। कबीर साहब इन कृत्यों से दुखी थें।

उपर्युक्त विवेंचनोपरान्त कह सकते है कि कबीर ने अपनी मर्मस्पर्शी वाणी द्वारा तत्कालीन धार्मिक पाखण्डों एवं सामाजिक कुरीतियों का बहिष्कार करके जन सामान्य को सरल जीवन सत्याचरण, सात्विक व्यवहार, पारस्परिक एकता, समता आदि की ओर उन्मुख करने का जो प्रशंसनीय कार्य किया है, इसी के फलस्वरुप वे एक उच्च कोटि के समाज सुधारक कहलाते है।

(3) कबीर की निर्गुण भक्ति

मध्यकालीन धार्मिक इतिहास में कबीर का व्यक्तित्व एक ऐसा अपराजेय व्यक्तित्व था। जिसने भारत की धर्मप्राण जनता को भक्ति के अमृतरस में निमग्न कर दिया था। कबीर से पहले मध्ययुगीन जनता सिद्धों और नाथ योगियों की गुह्य साधना के दलदल में फंसी हुई थीं। वह अपना साहस खो बैठी थीं, ठीक उसी समय कबीर का आविर्भाव हुआ। कबीर ने भाव–भक्ति को अपनाया क्योंकि वे इसे गुरु का प्रसाद मानते थें। इसी भाव भक्ति के आधार पर कबीर के जन–जन को सत–पथ पर चलने का संदेश दिया। कबीर तो कोई भेदभाव नहीं करते थें, उन्होंने प्रेम–भक्ति के सहारे एक ऐसी समन्वय कारिणी दृष्टि विकसित कर ली थीं जिसके सामने जाति–पाँति, भेदभाव, छुआछुत, ढोंग, दिखावें सभी समाप्त हो जाते थे। कबीर हिन्दू–मुसलमान मे भी कोई भेद नहीं करते थें क्योंकि उनका तो कहना ही यह था कि–

''जाति–पाँति पूछै नहिं कोई
हरि का भजै सो हरि का होई।।''[47]

कबीर मूलतः भक्त थें। वे एक ऐसे सन्त थें जिन्होनें दिव्य ज्ञान के माध्यम से यह निष्कर्ष निकाल लिया था कि कोरा ज्ञान व्यर्थ है। वही ज्ञान का विषय न मानकर भावानुभूति का विषय मानते थें । ग्रियर्सन ने लिया है कि रहस्यवाद और प्रेमोल्लास के देश मे ऐसी आत्माएँ होती है जिनकी कोई जाति नहीं होती और जो समता, निष्कामता और भक्ति को प्रमुख मानती हुई कार्यरत रहती है। कबीर ऐसे ही थे।।[48]

कबीर के पूर्व यद्यपि रामानुजाचार्य ने भक्तिलता को बहुत गहराई से रोपित किया था। उन्होनें भक्ति की जड़ों में समर्पण को महत्व दिया था अथवा कहें कि समर्पण के जल से भक्ति की जडो को सींचा थां इसी भक्ति–लता को आगे चलकर कबीर ने अपनी अमर वाणी और भावनाओं की याद से पुष्पित किया और पल्लवित किया। कबीर के मूलतः भक्त रुप को ध्यान में रखकर ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह कहा है कि ''कबीर की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थीं।''[49] कबीर दास का रास्ता उल्टा था। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग अच्छा मिला था जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते थें, वे प्रायः उनके लिए बन्द थें। यही कारण है कि वे मुसलमान होकर भी पूरे मुसलमान नहीं थें और हिन्दू होकर भी पूरे हिन्दू नहीं थें। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन ठीक ही है कि–''कबीर साधु होकर भी साधु नहीं थें, वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थें, वे योगी होकर भी योगी नहीं थें। वे कुछ भगवान की ओर से ही न्यारे बनाकर भेजे गए थें। वे एक ऐसे प्रशप्त चौराहे पर खड़े थें जहाँ एक ओर योग मार्ग निकल जाता है तो दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है और दूसरी तरफ सगुण साधना।'' वास्तव में कबीर ने दुनिया के कर्मकाण्ड, मान–सम्मान की व्यवस्था को व्यर्थ जानकर उससे हटकर परमानन्द को प्राप्त करने के लिए प्रेम को ही साधना एवं साध्य दोनों रुपो में ग्रहण किया था। इनका ह्रदय प्रेम का क्षेत्र था अथवा कहना चाहिए कि कबीर का ह्रदय इतना विशाल था कि उसमें सम्पूर्ण मानव जाति के दुख–दर्दो के प्रति असीम संवेदना थी। कबीर सही अर्थों में प्रेमाभक्ति मूला साधना के साधक थे। रामानन्द द्वारा प्राप्त ज्ञान भक्ति की अलौकिक थाती को इस महामानव ने एक सूक्ष्म व्यक्ति की तरह संजोया नहीं। बल्कि गुरू के वरदान को जन–जन में बाँट देने का अनुपम कार्य किया। कहा भी जाता है –

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्त दीप नवखण्ड।[50]

भज् धातु से 'भक्ति' शब्द की उत्पति हुई है, जिसका अर्थ होता है – भजन अथवा स्मरण करना। 'नारद' के अनुसार 'भक्ति' परम प्रेमरूपा और अमृतरूपा है, जिसे प्राप्त कर साधारण से साधारण मनुष्य सिद्ध एवं अमर हो जाता है। भगवान को प्राप्त करने के साधनों में कर्म, ज्ञान, योग

और भक्ति मार्ग की गणना की जाती है। इन भाव में सहज उपलब्ध होने के कारण आचार्यो एवं साधकों ने भक्ति मार्ग को प्रमुख्ता दी है। भक्ति भगवद्विषयक प्रेम का रूप है। तात्पर्य यह है कि भक्त की भगवान के प्रति पूज्य भावना है, जिसमें श्रद्वा, प्रेम– प्रीति आदि कई चित्तवृत्तियों का संयोग होता है। ईश्वरानुराग के कारण भक्ति भाव की चर्वणीयता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। यहाँ तक कि यह ईश–मिलन का सर्व सुलभ साधन है।

नारद भक्ति सूत्र में महा भक्त नारद ने भक्ति के दो रूप बतलाये है–प्रेम रूपा भक्ति और गोडी भक्ति। प्रेम कथा भक्ति के भी दो भेद है – प्रथम कामरूपा जिसमें कान्ता भाव की प्रधानता रहती है। दूसरी , सम्बन्ध रूप भक्ति है जिसमें दास्य, वात्सल्य और दाम्पत्य भाव आते है। कबीर की भक्ति में कामरूपा भक्ति का भले ही, प्रावल्य हो, किन्तु सम्बन्ध रूपा भाव की भक्ति भी वहाँ कम नहीं है। गौड़ी भक्ति में देवार्चन, मगन एवं सेवा की प्रवृति प्रमुख रहती है। नारदीय भक्ति सूत्र में गौड़ी भक्ति को तीन प्रकार की बतलाया गया है। – सात्विकी, राजसी और तामसी, कबीर एक सिद्व पुरूष थे। उनका सारा जीवन साधना में व्यतीत हुआ था। उसकी भक्ति सिद्धावस्था के अन्तर्गत आती है। यही परा भक्ति है। इसी को साध्य भक्ति भी कहा जाता है साध्यज्ञान और पराभक्ति दोनों में कोई अन्तर नहीं है। कबीर भारतीय धर्म साधना के एक ऐसे अद्भुत साधक है जिनके ऊपर पूर्ववर्ती साधनाओं का प्रभाव प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनो रूपों में पड़ा है। कभी तो वे वैष्णवों की भक्ति से प्रभावित दिखलाई देते हैं तो कभी हठयोग साधना से इतना ही नहीं, कहीं–कहीं तो वे सिद्धों और नाथों की गुह्साधना से और कहीं इस्लामी– सूफी फकीरी की इश्क मिजाजी से प्रभावित है।

कबीर को एक निर्गुणोपासक सन्त कहा जाता हैं जिसके निर्गुण ब्रह्म का तात्पर्य निगुणी नहीं, अपितु गुणातीत त्रैलोक्य विलक्षण है। इनकी निर्गुण भक्ति का तात्पर्य निष्कामता है। इस भक्ति के उदय होते ही साधक को अपूर्व शांति एवं आनन्द प्राप्त होता है। भारतीय भक्तिधारा के अन्तर्गत वैष्णव भक्ति के दो रूप निर्गुण एवं सगुण मिलते है। रामानन्द के शिष्य होने के कारण कबीर के हृदय में वैष्णवों के प्रति असीम आदर एवं स्नेह था, इसीलिए उन्होंने बार–बार ''मेरे संगी द्वै जणा, एक वैष्णव, एक राम'' कहकर वैष्णवों की प्रशंसा की है। यही नहीं उन्होंने यहाँ तक स्वीकार किया है कि वह माता धन्य है, जिसने वैष्णव पुत्र को जन्म दिया है। उन्होंने लिखा है –

कबीर धनि वे सुन्दरी, जिनि जना बैसनोपूत।
राम सुमिरि निरभै हुआ, सब जग गया अऊत।।[51]

कबीर का यह विचार सगुणोपासक भक्त–प्रबर तुलसीदास में मिलता–जुलता है। उन्होंने भी यह बात स्वीकार की है –

"पुत्रवती युवती जग सोई। राम भगत जाकर सुत होई।"[52]

कबीर की वैष्णव भक्ति एक ओर भारतीय अद्वैतवादी भावना से प्रभावित है तथा दुसरी ओर उसमें मुसलमानों के एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसका मुख्य कारण उनकी सार्वजनिक कल्याण की भावना है। इस महामानव ने निर्गुण भक्ति के आवलम्बन द्वारा राम रहीम, कृष्ण करीम, मुहम्मद–महादेव में एकता स्थापित कर नाम–माहात्म्य को जन–जन तक पहुँचाने का सराहनीय कार्य किया है। भक्त प्रारम्भ से ही प्रभु को सगुण रूप में स्वीकार कर चले है अन्यथा भक्ति भावना जीवित ही न रह पाती, क्योंकि भगद्विषयक रति को ही भक्ति कहते है। यदि भगवान की कल्पना ही न की गयी होती तो यह पूजा–अर्जन किसके प्रति? इसलिए कबीर यह स्वीकारते हैं कि भक्त अवश्य ही किसी न किसी रूप माधुर्य का सहारा लेता है, भले ही वे रूप–स्वरूप विहीन, पुष्प–गंध के पतले, सूक्ष्म राम की कल्पना कर कहें कि वह ने तो दशरथ के घर जन्मा है और न उसने लंका के राजा रावण को सताया है। तुलसी उसे ही दशरथ–नन्दनराम के रूप में स्वीकार करते हैं तथा सूर मुरलीधर, यशोदानन्दन का स्मरण करते है। अपनी बंद आँखो से नहीं, अपितु ज्ञान–चक्षुओं द्वारा सूर ने अपूर्ण सौन्दर्यशाली नटवर कन्हैया के सौन्दर्य का दर्शन किया था। कबीर उसे दूसरे रूप में गृहण करते है।

वैष्णव धर्म के मूल ग्रन्थ श्रीमद्भगवत् में नवधा भक्ति का वर्णन किया गया है –

"श्रवणं कीर्तन विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।[53]

प्रभु के गुणों का श्रवण, उनका कीर्तन, स्मरण, चरणों की सेवा, पूजन और प्रार्थना, प्रभु के ऐश्वर्य के सम्मुख नत–मस्तक होना, उनसे सखा भाव रखना तथा आत्म निवेदन करना, ये लवधा भक्ति के नौ प्रकार बताये गये है। कबीर के काव्य में नवधा भक्ति के काफी उदाहरण मिलते है।

(1) गुणमहात्म्य–कबीर एक वैष्णव भक्त थे उन्होंने अपने निर्गुण प्रभु का गुणगान किया है। परन्तु यह ध्यात्व्य है कि उनका निर्गुण गुणों का भण्डार है, अतएवं वह उसके सभी गुणों की महिमा गा नहीं पाते है –

सात समन्द की मसि करौं, लेखनि सब बनराई।
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिखा न जाई।।[54]

(2) स्मरण–कबीर की भक्ति भावना में नाम स्मरण का अत्यधिक महत्व है। सगुण और निर्गुण दोनों में भगवान की नाम–महिमा का गुणगान किया है। चूँकि नाम ब्रह्म है, इसलिए नाम के स्मरण को महत्व दिया गया है –

''भगति भजन हरि नाँव है, दूजा हुक्म अपार।
''मनका, वाचा, कर्मना, कबीर सुमिरण सार।।''[55]
लाली मेरे लाल की, जित देखू तित लाल।
लाली देखन मैं चली, मैं भी ह्वै गई लाल।।[56]

(3) पादसेवन – यदि कबीर का राम निराकार हैं तो चरणों की कैसी सेवा? परन्तु इस भक्त ने साधनानुभूति में प्रभू–दर्शन किये, अतएवं वह अव्यक्त को व्यक्त रूप में अभिव्यक्त करता है –

कबीर हरि चरणै चल्या, माया मोह थै टूटि।
गगन मण्डल आसण किया, काल गया सिर फुटि।।[57]

(4) सख्य भाव–कबीर के काव्य में सख्य भाव के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं। इसका मुख्य कारण उनकी दास्य भावना की उत्कृष्टता है। जिस भगवान को धर्म धुरन्धर, महाज्ञानी खोजते–खोजते भटक गए, कबीर ने उसे भक्ति द्वारा प्राप्त कर उससे मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिया –

''जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत किया अलेख।''[58]

(5) वात्सल्य भक्ति–कबीर भगवान से पिता–माता आदि के सम्बन्ध जोड़ने में भी नही चूकते हैं। वैसे परमपिता वह सर्वशक्तिमान ब्रह्म तो सबका ही है, परन्तु कबीर ने उससे बहुत निकट का सम्बन्ध बना लिया है –

''हरि जननी मैं बालक तोरा।''
बाप राम सुनि बिनती मोरी।।[59]

(6) समर्थता एवं अनुभूति–कबीर ने अपने प्रभु के एश्वर्य के दर्शन किये थे, तथा उसके सामर्थ्य का परिचय प्राप्त किया था, अतएवं वह उसके समक्ष नत–मस्तक होते है –

सांई सूं सब होत है, बंदे थै कछु नाहिं।
राई थैं परबत करै, परबत राई माहिं।।[60]

(7) तन्मयाभक्ति–प्रभु के दर्शनकर कबीर तन–मन से तादात्मय स्थापित कर उसी में लीन हो जाना चाहते है –

कहै कबीर हरि दरस दिखावै

हमहिं बुलावौ के तुम्हि चलोआवौ।[61]

(8) पूजन एवं तीर्थ–कबीर ने पाषण–पूजन यद्यपि नहीं किया था, फिर भी वह प्रेम एवं भक्ति के माध्यम से, ज्ञान का आश्रय ले, परमात्मा की उपासना अवश्य करते रहे होंगे। तभी तो उन्होंने लिखा है –

जो पूजा हरि नहिं भावै, सौ पूजन हार चढ़ावै।

जेहि पूजा हरि भावै, सौ पूजन घर न जानै।।[62]

कबीर ने देवालय में पूजन अवश्य किया है, परन्तु उस देवालय की विशेषता यह है कि उसका कोई रूप–आकार नहीं है क्योंकि उनका देव भी तो अलख, निराकार है अतएवं उन्होंने उसे अपने हृदय में ही बिठा लिया है –

नींव बिहूँणा दे हूरा, देह विहूणां देव।

कबीर तहाँ बिलंषिया, करै अलख की सेव।।[63]

(9) आत्मनिवेदन–कबीर ने तो अपने स्वामी के हाथों अपने आप को पूर्ण रूप से सौंप दिया और वह सदा उसी की इच्छानुसार कार्य करते है। उनकी अपनी न कोई कामना है और न कोई कार्य, जो कुछ है वह उनके स्वामी का ही है। भारतीय भक्ति–साधना में दैन्य भावना की भक्ति में महात्मा तुलसी से यदि कोई टक्कर ले सकता हैं तो वह कबीर ही हैं। इस प्रकार ज्ञानी कबीर के भक्ति–निवेदन का अपना महत्व है –

राम सो बड़ो है कौन, मोसो कौन छोटो।

राम सो खरौ है कौन, मोसो कौन खोटो।।[64]

तो–तो करत बाहुड़ौ दुरि – दुरि करै तो जांउ।

ज्यूं हरि राखै, त्यूँ रहौं, जो देवै सो खांऊ।।[65]

कबीर ने प्रभु के महत्व का वर्णन सांसारिक दंभ–अभिमान से रहित होकर किया है। उसका पूरे से परिचय हो गया था अतएवं उन्होंने तीर्थ–व्रत, पूजा–पाठ आदि द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया, अपितु हृदयानुभूति के सहारे प्रेम द्वारा पा लिया।

भक्ति प्रेमास्वरूपा है। कबीर की भक्ति भावना में माधुर्य की सुन्दर झलक है। कारण कि कबीर ने भक्ति में विभोर होकर आत्मा–परमात्मा के पारस्परिक प्रेम का, वियोग का जो वर्णन किया है, उसमें माधुर्य भाव की भक्ति का सौन्दर्य देखा जा सकता है। भले ही उस विरह जन्य तीव्रता पर सूफी मत का प्रभाव हो, किन्तु उसमें भारतीय माधुर्य भावना का ही प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है।

कबीर की आत्मा अपने निर्गुण निराकार पर ब्रह्म के लिए विरह व्यथित नारी की भाँति व्याकुल होती है, यथा –

वासुरि सुध ना रैणि सुध, नां सुख सुपिने मांहि।
कबीर बिछुट्या राम सूं, ना सुख धूय न छांहि।।[66]
बहुत दिनन की जोवती, बाँट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुम मिलन कूं मन नाहीं विसराम।।[67]

कबीर की आत्मा एक विरहिणी की भांति राम के दर्शनों के लिए उठती है और दुर्बल होने के कारण गिर पड़ती है तथा उसे अपने प्रिय के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा है, कबीर की विरहिणी आत्मा तो यहाँ तक तैयार है कि –

या तन जारू मसि करूँ, ज्यूं धूवां जाइ सरग्गि।
मति पै राम दया करे, बरसि बुझावै अग्गि।।[68]

इस तरह विरहिणी की भाँति अत्यन्त व्यथित आत्मा का चित्रण करके कबीर ने माधुर्य भाव की भक्ति को अपनाया है। कबीर की आँखों में अपने प्रिय राम की राह देखते–देखते सांझ पड़ गई है, जिह्वा 'पिउ–पिउ' की रट लगाकर शुष्क हो गयी है यथा –

आंखडियाँ सांई पड्यां पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाल्या पड़याँ, पीऊ पुकारि–पुकारि।।[69]

कबीर की यह भक्ति प्रेमाभक्ति ''राम मोरे पिउ में राम की बहुरिया'' माधुर्य भाव से ओत प्रोत है। इसमें ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेमभाव विद्यमान है। निष्कर्षत निर्गुण ब्रह्म के प्रति भक्ति भावना प्रकट करते हुए भी कबीर ने उसमें माधुर्य भाव का सुन्दर समावेश कर दिया है।

नाम स्मरण नवधा भक्ति का एक अंग है। इसे कबीर ने अपनी भक्ति भावना में अत्यधिक स्थान दिया है। वैसे तो निर्गुण एवं सगुण सभी कवियों ने ईश्वर सें बढकर ईश्वर के नाम को महत्व दिया है – ''मोरे मत बहु नाम बुहू तें'' किन्तु निर्गुण भक्त कवियों ने नाम स्मरण को सार तत्व ही कहा है। यह राम नाम इतना अमूल्य है कि इसकी समतुल्या में कुछ देने के लिए कबीर के पास नहीं है –

राम नाम के पटतरे देवे को कछु नाहिं।
क्या गुरू ले सन्तोषिये रही हौंस मनमांहि।।[70]

इस नाम स्मरण में बाह्याडम्बर को कोई स्थान नहीं है। अन्तर की शुद्वता ही इसमें अनिवार्य है –

माला तो कर में फिरे जीभ फिरै मुख माहिं।
मनवा तो चहुं दिसि फिरे, यह तो सुमिरन नाहि।।[71]

कबीर की दृष्टि में नाम स्मरण तभी सार्थक है जब भक्त अपने आराध्य का स्मरण करते करते उसी का हो जाय, अहं का उसमें लेश भी न हो –

तू तू करता तू भया, मुझ में रही न मैं
वारी फैरी बलि गई, जित देखूं तित तैं।।[72]

साथक की आत्मा उद्बुद्ध होकर परमात्मा का साक्षात्कार कर ले और उसे अन्तर बाह्य उसी एक ब्रह्म का रूप दिखाई दे –

लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।।[73]

कबीर का यह नाम स्मरण सन्तों की दृष्टि में अजपा जाप है। इस प्रकार कबीर ने नाम स्मरण का महत्व बताते हुए निष्काम भाव से राम–नाम जपने पर पर्याप्त बल दिया है। कबीर ने अपनी भक्ति भावना में गुरू को सर्वोपरिस्थान दिया है। वह ईश्वर से भी बढ़कर है। कारण कि ज्ञान देने वाला ब्रह्म से साक्षात्कार कराने वाला, अन्तर के अन्धकार को मिटने वाला एक मात्र गुरू ही तो है।

कबीर की भक्ति भावना हठयोग से प्रभावित हुई है। अपनी भक्ति तरंग में कबीर ने स्थान–स्थान इंड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, कुण्डिलिनी, अष्टचक्र आदि का वर्णन किया है। साथ ही इनका सम्बन्ध भक्ति से स्थापित करते हुए अपने पदों में हठयोंग और प्रेम भक्ति का अद्भुत समन्वय किया है। कहीं कबीर ने 'अष्टकमल दल चरखा डोले' कहा है तो कहीं ''प्रेम भगति–हिडोलना सब सन्त करै विसराम'' बताया है। जिसमें 'चन्द सूर दोइ सम्भवाबंक नालि की डोर' जड़ी है। कहीं ''चन्द सूर दोइ तुंबा करि है चित चेतन की डांडी तथा सुषुमन तन्त्री बाजन लागी'', ''अहिं विधि त्रिष्णां छाड़ी' कहा है। इसी प्रकार 'सुन्नि मण्डल में घर किया' तथा 'गगन मंडल सींगी बाजै' बताया है तथा कभी 'अमृत झरे सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीवौ' कहकर चन्द्र नाड़ी में झरने वाले अमृत का वर्णन किया है। इस प्रकार कह सकते है कि कबीर की निर्गुण भक्ति में हठयोग का भी पर्याप्त रूप से समन्वय हो गया है।

कबीर की भक्ति भावना पर विहंगम दृष्टि डालें तो स्पष्ट है कि इनकी भक्ति मे निष्काम भाव की प्रधानता है। निर्गुण ब्रह्म के प्रति अटूट श्रद्धा एवं विश्वास व्यक्त हुआ है। बाह्याडम्बरों का खंडन एवं अन्तर की शुद्धि कबीर की भक्ति की आवश्यक शर्त है। मनसा, वाचा, कर्मणा अपने आराध्य का ध्यान एवं महत्व स्वीकारना, शुद्धाचरण पर बल, मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद का खण्डन नामस्मरण द्वारा ब्रह्म के साक्षात्कार करने का आग्रह, भगवान का गुण कीर्तन को महत्व, भक्त का आत्मसमर्पण अपने आराध्य के प्रति, ये सभी कबीर की भक्ति के आवश्यक अंग है। साथ ही सत्संगति, साधुसेवा, जितेन्द्रियता, संयम, वैराग्य, अनासक्त भाव, माया एवं तृष्णा का त्याग, गुरू महता, माधुर्य भाव आदि का महत्व प्रतिपादित करते हुए सहजभाव से दीनता एवं विनम्रता के साथ भगवान की भक्ति को अपनाने का आग्रह है।

(4) वर्तमान में कबीर की साखियों का महत्व

सदगुरू कबीर साहब एक एकल साधक, प्रभावशाली उपदेशक, महान नेता और क्रान्त–युगद्रष्टा थे। उनका समस्त काव्य विचारों की भव्यता और ह्रदय की तन्मयता से परिपूर्ण है। उन्होंने अपने विचार साधारण छन्दों, शैलियों तथा काव्य रूपों में प्रकट किए है। उनके यह काव्यरूप साहित्यिक परम्परा के अतिरिक्त अपने युग में लोक प्रचलित अनेक भावाभिव्यक्ति के माध्यमों से भी आए है। उन्होंने बहुत से जन–प्रचलित रूपों को चुना और उनको साहित्यिक रूप देकर वास्तव में काव्य रूप ही बना दिया।

सन्त कबीर मध्ययुगीन निर्गुण संतो में मूर्धन्य है। उन्होंने अपनी वाणी को काव्य रचना करने की दृष्टि से नहीं अपितु सांसारिक और आध्यात्मिक समस्याओं का समाधान करने के लिए प्रस्तुत किया। तात्विक विचारों को इन पद्यों के सहारे सरलतापूर्वक प्रकट कर देना ही उनका एक मात्र लक्ष्य है –

तुम्ह जिन जानों गीत हैं यहु निज ब्रहम विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे।।[74]

कबीर साहब ने काव्य रचना इस उद्देश्य से की है कि भव सागर में पड़े हुए जीव उनके सदुपदेशों से पार जा सकें।

हरि जी यहै विचारिया साखी कहै कबीर।
भौं सागर में जीव है जो कोई पकड़ै तीर।।[75]

कबीर साहब की वाणी को लिखित रूप उनके द्वारा नहीं मिला। उनके मौखिक उपदेशों को उनके शिष्यों तथा प्रशंसको ने उनके जीवन काल में अथवा बाद में लिपिबद्ध किया होगा। यह भी

सम्भव है कि उनकी कुछ रचनाएँ लिपिबद्ध न हो सकी हैं और संतों और लोक–गायकों की कण्ठ परम्परा में जीवित चली आ रही हैं। उनकी वाणियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि सदगुरू की वाणियों का कहीं अन्त नहीं। संसार में वृक्षों के जितने पत्ते है तथा गंगा में जितने बालू कण है उतनी ही संख्या उनकी रचनाओं की है लेकिन इन धारणाओं को बुद्धिवादी पाठक स्वीकार नहीं कर पाता। विभिन्न समीक्षकों तथा विचारकों ने कबीर ग्रन्थावली तथा आदि ग्रन्थ में संगृहीत वाणियों एवं कबीर बीजक को अधिक मान्यता प्रदान की है। प्रायः विद्वानों ने इन्ही तीनों संग्रहों को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। कबीर साहब के इन संग्रहो में प्राप्त होने वाले काव्यरूप निम्न लिखित है –

(1) साक्षी (2) पद(शब्द) (3) रमैनी (4) चौंतीसा (5) बाबनी (6) विप्रमतीसी (7) वार (8) चिंती (9) चाँचर (10) वसन्त (11) हिंडोला (12) बेलि (13) कहरा (14) विरहुली (15) उलटबाँसी

साक्षी उपदेश–प्रधान काव्यरूप है। नाथ और निर्गुण सम्प्रदाय के सन्तों ने नीति, व्यवहार, एकता, समता, ज्ञान और वैराग्य आदि की बातें बताने के लिए इसका प्रयोग किया है। इन्होंने ज्ञान ध्यान की अनेक बातों को उपदेशात्मक ढंग से कुछ पंक्तियों में कहा और उन्हें साक्षी कहकर पुकारा। साखियों में सर्वाधिक प्रयोग दोहा छन्द का है। संतो के नीति–प्रधान उपदेशात्मक दोहे ही 'साक्षी' कहे गए है। कबीर साहब ने भी अपने दोहों को साक्षी कहा है।

साखी रचना की परम्परा का प्रारम्भ गुरू गोरखनाथ आदि के समय से प्राप्त होता है। साखी काव्य रूप के अन्तर्गत प्राप्त होने वाली सबसे प्रथम रचना गोरखनाथ की जोगेश्वरी साखी है। नामदेव जी के नाम से प्राप्त ग्रन्थों में से एक नामदेव जी की साबी भी है।

कबीर साहब पर इन दोनों का प्रभाव पड़ा होगा। उन्होंने गोरखनाथ और नामदेव दोनों का उल्लेख आदरपूर्वक किया है। कबीर साहब से पूर्व साखियों की दृढ़ परम्परा अवश्य रही होगी। नाथपंथियों ने दोहा जैसे छोटे छन्दों में रचित उपदेश–प्रधान वचनों को साक्षी कहा। कबीर साहब भी इन्हीं से प्रभावित है। इनके अनन्तर अन्य सन्तों ने भी अपने उपदेश प्रधान दोहों को साखी ही कहा है।

संत कबीर की रचनाओं में साखियाँ सर्वाधिक है। हंसदास शास्त्री द्वारा सम्पादित कबीर बीजक में 353 साखियाँ है। कबीर ग्रन्थावली में 819 साखियाँ है। आदि ग्रन्थ में इनकी संख्या 243 हैं जिन्हें 'सलोक' कहा गया है।

साखी शब्द संस्कृत के साक्षी (साक्षिन्) शब्द का अपभ्रशं रूप है जिसका अर्थ है वह व्यक्ति जिसने कोई घटना अपनी आँखो से देखी हो (साक्षी – गवाह) तटस्थ दर्शक।

प्रारम्भ में सांसारिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उलझनों के उपस्थित होने पर गुरूजनों को ही साक्षी (साखी) माना गया।[76] आगे चलकर गुरूजनों की अनुपस्थिति में उनके वचनों को ही 'साखी' कहकर महत्व प्रदान किया गया है। सिद्ध और नाथ योगियों ने स्वानुभूत एवं गुरूजन प्रदत ज्ञान को जब अपने शिष्यों और सामान्य जनों को बताया तो अपने कथन की पवित्रता एवं महत्ता सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपने गुरूजनों के विचारों को साक्षी रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने साक्षी (साखी) देकर सिद्ध किया कि इस प्रकार की दशा का अनुभव अमुक–अमुक पूर्ववर्ती गुरूजन भी कर चुके है। एक चर्यागीत में बौद्ध सिद्ध कण्हपा ने स्वानुभूत तथ्य का प्रतिपादन करने के लिए जालन्धर पाद का नाम साक्षी रूप में उपस्थित किया है।[77] सिद्ध और सन्त यह जानते थे कि साधारण व्यक्ति इस दशा को समझ नहीं सकते। अतः उन्होंने अपनी दशा का ज्ञान कराते समय अपनी इस पाशमुक्त दशा का अनुभव कर लेने वाले अपने गुरू का नाम ही साक्षी रूप में लिया। प्रारम्भ में गुरूओं को प्रभाव रूप में साक्षी बनाने की आवश्यकता रही, बाद में सन्तों ने अपने प्रत्येक शब्द की प्रामाणिकता के लिए अपने दीक्षा गुरूओं को साक्षी (साखी) समझकर अपनी वाणियाँ कही।

कबीर साहब सिद्ध पुरूष थे। उन्होंने पूर्ववर्ती साधकों की अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों को स्वानुभव की खराद पर चढ़ाकर जनता के समक्ष कविता के रूप में रखा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते है – असल में साक्षी (साखी) का मतलब ही यह है कि पूर्वतर साधको की बात पर कबीर साहब अपने साक्षी या गवाही दे रहे है। अर्थात इस सत्य का अनुभव वो कह चुके है।[78] अतः प्राचीन धर्म प्रवर्तकों द्वारा प्रति पादित ज्ञान को शिष्यों के समक्ष साक्षी रूप में उपस्थित करते समय जिस काव्य रूप का जन्म हुआ वह 'साखी' कहलाया। उपनिषेदों में परमात्मा को समस्त भूतों का साक्षी या सर्वदृष्टा कहा गया है –

एको देवः सर्व भूतेषु गूढः सर्व व्यापी सर्व भूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।[79]

अर्थात् एक देव (प्रकाश स्वरूपात्मा) सब प्राणियों में माया से आवृत है। वह सब में व्याप्त सब प्राणियों का अन्तरात्मा, कर्मो का अधिष्ठाता, सब भूतों में बसने वाला, साक्षी (साक्षार दृष्टा) केवल (शुद्ध) निर्गुण है।

संत कबीर की साखियाँ उसी निर्गुण साक्षी (साक्षात् द्रष्टा) के साक्षात्कार से उत्पन्न भावोत्मत्तता, उन्माद, ज्ञान और आनन्द की लहरों से सराबोर है। वे ब्रह्म विद्या बोधिनी, उपनिषदों का जनसंस्करण और लोकानुभव की पिटारी है। संसार की असारता माया मोह की मृग– तृष्णा काम क्रोध की क्रूरता को दिखाने वाली और सन्मार्ग की सोपान है। वे सासांरिक क्लेश, दुख और

आपदाओं से मुक्त कराने वाले ज्ञान का भण्डार है। संत कबीर के सिद्वान्तों की जानकारी का सबसे उत्तम साधन साखी ही है।

साखी आँखी ग्यान की समुझि देखु मन माँहि।

बिन साखी संसार का झगरा छुटत नाहिं।।[80]

कबीर ग्रन्थावाली में साखियों का विभाजन अंगों में किया गया है। अनुमान है कि साखियों को गुरूदेव का स्वरूप मानकर शरीर के विभिन्न भागों के परिचायक रूप में साखियों को अंगो में विभाजित किया गया। वैसे इनमें कोई संगति नहीं बैठती। अंग का अर्थ प्रकरण या भाग भी हो सकता है।

साखियों में अधिकतर दोहा छन्द का प्रयोग हुआ है। दोहा के अतिरिक्त सोरठा, उपमान, मुक्तामणि, अवतार, दोहकीय, गीता आदि छन्दों का प्रयोग भी यत्र–तत्र प्राप्त होता है। विषय की दृष्टि से कबीर की साखियों को प्रधानतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है –

(1) लौकिक भाव प्रधान।

(2) पारलौकिक भाव प्रधान।

लौकिक भाव प्रधान साखियाँ भी तीन प्रकार की है –

(1) सन्तमत का स्वरूप बताने वाली।

(2) पाखण्डो का विरोध करने वाली।

(3) व्यवहार प्रधान।

सन्तमत का स्वरूपं बताने वाली साखियाँ –

कबीर साहब ने कुछ सखियों में सन्त और सन्तमत के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए है –

निरवैही निह कामता साई सेती नेह।

विषिया सूँ न्यारा रहै संतनि को अंग एह।[81]

वे सन्त को सारग्रही सूप की तरह मानते हैं जो सार–सार को गहि रहे थोथा देइ उड़ाय के व्रत को लिए रहता है। उनकी दृष्टि में सन्त का लक्ष्य धन संग्रह नहीं है –

सौ पापन को मूल है एक रूपैया रोक।

साधू ह्वै संग्रह करै, हारै हरि सा थोक।।[82]

संत न बाँधे गाँठरी पेट समाता लेई।

आगे पाछे हरि खड़े जब माँगे तब देइ।।[83]

सन्त यदि निर्धन भी है तो उसे मन छोटा करने की आवश्यकता नहीं –

सठगंठी कोपीन है साधु न माने संक।

राम अमल माता रहै गिनै इन्द्र को रंक।।[84]

कबीर साहब परम्परागत रूढ़ियों, अंधविश्वासों, मिथ्याप्रदर्शनों एवं अनुपयोगी रीति–रिवाजों के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने हिन्दू मुसलमानों दोनों में ही फैली हुई कुरीतियों का विरोध अनेक साखियों में किया है।

व्यवहार प्रधान साखियाँ

कबीर साहब की व्यवहार प्रधान साखियां नीति और उपदेश प्रधान है। इनमें संसभू के प्रत्येक क्षेत्र में उचित व्यवहार की रीति बताई गई है। इन साखियों में मानव मात्र के कल्याणकारी अनुभव का अमृत छिपा हुआ है। पर निंदा, असत्य, वासना, धन, लोभ, क्रोध, मोह, मदमत्सर कपटादि का निषेद करके वे सहिष्णुता, दया, अहिंसा, दान, धैर्य, संतोष, क्षमा, समदर्शिता, परोपकार तथा मीठे वचनादि के लिए आग्रह करते है। वे त्याज्य कुकर्मो को गिना देते है।

जूआ, चोरी, मुखबिरी, ब्याज, धूस, परनार।

ज्यों चाहे दीदार को एती वस्तु निवार।।[85]

विपत्ति में धैर्य धारण करने के लिए कहते है –

देह धरे का दंड है, सब काछू पै होय।

ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि मूरख भुगतै रोय।।[86]

बाक् संयम पर बल देते है –

ऐसी बानी बोलिए मन का आपा खोए।

औरन को सीतल करै आपहु सीतल होय।।[87]

पार लौकिक भाव प्रधान

इन साखियों में कबीर साहब की आध्यात्मिक या अलौकिक विचारधाराओं का प्रदर्शन हुआ है। वह कभी तो इस परमशक्ति के साक्षात्कार से अभिभूत होकर अनेक प्रकार से उसका गुणगान करने लगते है तथा उसी का स्मरण और आत्मनिवेदन करते हुए विश्व कल्याण की कामना करते है तो कभी दार्शनिक आधारों पर प्रभु के रहस्य को सुलझानें का प्रयत्न करते है। यह साखियाँ भक्ति

भाव प्रधान. दर्शन प्रधान, रहस्यात्मक तथा कथनी प्रधान भागों में विभाजित की जा सकती है। इनके अनेक उदाहरण कबीर साहब की वाणियों में प्राप्त होते है। इस प्रकार कबीर ने अपनी साखियों में नैतिक आध्यात्मिक, सांसारिक, पारलौकिक आदि विभिन्न विषयों का वर्णन किया है। दुखी और जिज्ञासुजन के दुख दूर करने और ज्ञान–पिपासा शान्त करने के लिए वे परिस्थितियों के अनुसार अपनी साखियों का प्रयोग करते रहते है।

विचारों और भावों के साथ ही काव्य रूपों के क्षेत्र में भी कबीर साहब आदर्श गुरू और मार्ग–प्रदर्शक रहे। परवर्ती सन्तों और भक्तों ने उनके विचारों और भावों के साथ ही काव्य रूपों को भी अपनाया। वे भी इनके द्वारा प्रयुक्त काव्य रूपों में अपने भावों को सजाते रहे। इस प्रकार कबीर साहब के अनन्तर इन काव्य रूपों की लम्बी परम्परा ही चल पड़ी। कबीर साहब ने स्वीकार करके इन काव्य रूपों को महान् और अमर बना दिया। कबीर के समकालीन सन्तों से लेकर आधुनिक युग के सन्तों तक ने इन काव्य रूपों में अपने विचार प्रकट किए है और नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में होने वाले कितने सन्त इन काव्य रूपों को अपनाते रहेंगे।[88] सन्त साहित्य की स्रोतस्विनी इन्हीं काव्य रूपों में प्रवाहित हो रही हैं। हिन्दी साहित्य में कबीर की साखियों का अत्यन्त महत्व है और इसी दृष्टिकोण से कबीर साहब के काव्य रूपों का काव्य के विकास में अमिट योगदान है।

(5) साखियों के आधार पर कबीर का मूल्यांकन

कबीर महान साधक थे। उन्होंने साधना से जो कुछ अनुभव प्राप्त किया, जो ज्ञान प्राप्त किया उसे उन्होंने समाज हित की दृष्टि से समाज को देने का प्रयत्न किया। कबीर ने अन्य साधको की भाँति गुरू का महत्व स्वीकार किया है। कबीर ने अपनी बात साखी, सबद और रमैनी के माध्यम से कही है। 'साखी' शब्द का अर्थ है साक्षी। साक्षी गुरू के उपदेशों का प्रत्यक्ष रूप है। आगे गुरू के उपदेशों को गुरू की साखी समझा जाने लगा। बीजक में तो साखियों का कोई विभाग नहीं है, किन्तु कबीर ग्रंथावली में इन साखियों को 'गुरू कौ अंग' आदि छप्पन अंगो में विभाजित किया गया है, कबीर ने साखियों को ज्ञान चक्षु कहा है –

साखी आँखी ज्ञान की समुझि देखु मन माँहि।
बिन साखी संसार का झगड़ा छुटत नाहि।।[89]

स्पष्ट है कि साखियों में संसार से छुटकारा दिलाने वाली तार्किक बातों का वर्णन किया गया है। साखियों में परमतत्व को प्राप्त करने में सहायक साधनों का उल्लेख हुआ है। साधक भटके नहीं इसके लिए उसे साधु, असाधु, असली और नकली गुरू, सच्चे शिष्य के कर्त्तव्यों, सदाचार आदि का ज्ञान होना चाहिए। इसी कारण कबीर ने माया, मन, असाधु, साधु आदि का

वर्णन किया है। व्यवहार अच्छा बने और आध्यात्मिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त हो इसमें सहायक बातों की जानकारी साधक को करा देना ही साखियां रचे जाने का उद्देश्य है।

खाना सोना जागना ही जीवन नहीं है। मनुष्य जीवन अत्यन्त दुर्लभ है। इसका कोई विशेष प्रयोजन है। मनुष्य जन्म प्राप्त करके कैसा व्यवहार किया जाये, कैसे ईश्वर, को प्राप्त किया जाये, यह जानने के लिए अच्छा उपाय साधु संगति के सम्बन्ध में कहा है –

कबीर संगति साध की, बेगि करीजै जाइ।

दुरमति दूरि गँवाइसी, देगी सुमति बताइ।।[90]

कबीर ने स्वार्थ त्याग कर जन–सामान्य के प्रति प्रेम का व्यवहार करने वाला ही ईश्वर में प्रेम कर सकता है। वैसे भी प्रेम के व्यवहार में आपसी मेल मिलाप बढ़ता है, शांति रहती है। कबीर ने चेतावनी कौ अंग में बाहर के दिखावे, आडम्बर पर आक्षेप किया है। काव्य का वेश धारण करने से व्यक्ति उसी प्रकार साधु नहीं हो सकता जिस प्रकार घूँघट कर लेने से ही नारी सही नहीं कही जा सकती। मुख्य बात तो व्यवहार है – मुद्रा पहर्‌या जोग न होई, घूँघट काढ्‌या सती न होई।[91]

कबीर कहना चाहते है कि यदि मनुष्य ईश्वर भक्ति नहीं करता, राम नाम नहीं लेता तो उसके ज्ञानी होने आदि का कोई लाभ नहीं है। ईश्वर को प्राप्त करना मनुष्य और जीवन का उद्‌देश्य है और वह भक्ति से प्राप्त होता है। भक्ति का सरल उपाय राम नाम का स्मरण करना है–

ज्ञानी ध्यानी बहु उपदेशी दुहु उपदेशी इहु जग सगली धंधा।

कहि कबीर इक राम नाम बिनु या जग माया धंधा।।[92]

कबीर ने बतलाया है कि ईश्वर आडम्बर करने से नहीं मिलता, वह सच्चे मन से भजन करने से ही मिल सकता है – 'आसन भवन दूरि करि बाबरे, छोड़ि कपट नित हरि भजि बाबरे।'[93] यदि आडम्बर करने, नंगे रहने से ही ईश्वर मिलता, मुक्ति हो जाती तब तो भेड़ मुक्त हो गई होती।

कबीर साहब के पूर्व साखियों की परम्परा अवश्य रही होगी। नाथपंथियों में दोहा जैसे छोटे छन्द में रचे गये उपदेश प्रधान जितने भी वचन है उनको साखी कहा है। जिन साखियों का अनुसरण कबीर साहब ने किया। इसके अनन्तर अन्य संतो ने भी उपदेशात्मक दोहों को साखी ही कहा है। निर्गुण संतों के अतिरिक्त अन्य जितने भी सम्प्रदाय वाले थे सभी ने निर्गुण भावापन्न दोहों

को साखी नहीं कहा। कबीर के काव्य में ढोला मारू रा दोहा के कई दोहे इसी प्रकार प्रयुक्त किये है जिनमे कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है –

ढ़ोला – राति जु सारस कुरलिया गूंजि रहे सब ताल।

जिनकी जोड़ी बीछड़ी तिणका कवण हवाल।।

कबीर – अम्बर कुंजा कुरलिया गरजि भरे सब ताल।

जिनपे गोविन्द बीहुरे तिनकी कौन हवाल।।[94]

प्राचीन काल से छाए हुए संस्कृत के श्लोक या अनुष्टुप पद की प्रतिध्वाच्छन आदिग्रथो में साखियों के आलोक में दिखाई पड़ती है। अतः साखियाँ आज से नहीं बल्कि अत्यन्त प्राचीन समय से ही चलती आ रही है। कबीर ग्रन्थावली में 59वां अंग है ओर अन्य संग्रहो में 84 अथवा इसमें भी अधिक प्राप्त होते है। इसमें यह अनुभव होता है कि अंग का अर्थ प्रकरण या भाग अवश्य रहा होगा। यह भी कहा जा सकता है कि जिन विषयों पर कबीर ने समय–समय पर साखियाँ कही होगी उन्ही को 'अंग' कहा गया होगा। अंग के नाम के द्वारा ही विषय का स्पष्टीकरण किया गया है। जैसे गुरूदेव को अंग, सुमिरण को अंग, विरह को अंग, ग्यान को अंग, निहकपटी प्रतिवृता को अंग इत्यादि। बहुत से अंगो का विभाजन स्थूल रूप से स्पष्ट कर दिया गया है जैसे उपदेश को अंग वैसे तो समस्त साखियाँ उपदेश प्रधान ही है। एक साखी में कबीर ने अंग शब्द का प्रयोग लक्षण के अर्थ में किया है –

निरवैरी निहकामना सांई सेती नेह।

विषया सू न्यारा रहे, संतनि का अंग एह।।[95]

कबीर की साखियों की रचना दोहों में की गई है, दोहों के अतिरिक्त सोरठो में भी की गयी है। दोहे एवं सोरठे के अलावा चौपाई श्याम, उल्लास, हरिपद, गीता, सार, छप्पय छन्दों के भी अनेक उदाहरण मिल जाते है।[96] साखी को हम दोहा का पर्याय कहें यह भी उचित नहीं, क्योंकि अन्य लोगों ने इसे साखी से पृथक माना है। जैसे तुलसीदास ने एक स्थान पर 'अधम' कवियों के भक्ति निरूपण की शैली की आलोचना करते हुए साखी को दोहे एवं सबदियाँ से भी पृथक मानकर कहा है –

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।

भगति निरूपहि अधम कवि, निंदही वेद पुरान।।[97]

कबीर बीजक में दोहों का प्रयोग तो हुआ है इसके अतिरिक्त अन्य छन्दों का भी प्रयोग हुआ है–

सब्द सब्द बहु अन्तरे, सार सबद रूचि लीजै।

कहैं कबीर जहं सार शब्द नहीं, धृग जीवन सो जीजै।[98]

इसमें मुक्तामणि छन्द का प्रयोग है क्योंकि इस छनद में 13–12 मात्राओं पर यति होती है। अन्त में दो दीर्घ होते है। यह लक्षण इस साखी में घटित होता है। इस कारण मुक्तामणि है। इस प्रकार उल्लाला छन्द का प्रयोग भी इसमें दिखाई पड़ता है। उदाहरण देखिए –

लाई लावनहार की, जाकी लाई पर जरै।

बलिहारी लावनहार की, छप्पर वाचे घर जरै।।[99]

इसमें 13–13 मात्राऐं होने के कारण उल्लासा छंद स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरण देखिए

मोहि जाने, ताहि मैं जानों।

लोक वेद का, कहा न मानो।।[100]

इसमें सम छन्द का प्रयोग है। जो लक्षणतः (9–9) अन्त में दो दीर्घ के अनुसार ठीक है।

कबीर की साखियाँ उसी निर्गुण साखी के साक्षात्कार से उत्पन्न भावोन्मत्तता, उन्माद, ज्ञान और आनन्द की लहरों से सरबोर है। कबीर के अनेक स्तरों के बीच से मन्द–मन्द किन्तु अव्याहत गति से अनेक दिशाओं में उल्टी सी भी बहकर आने वाली विविध विचारधाराओं को आत्मसात् करती हुई, ऊँच नीच की चट्टानों को मिटाती हुई, वैराग्य तथा गृहस्थ जीवन के भूलों से टकराती हुई और भिन्न–भिन्न सम्प्रदायों की सिद्धान्तानुसारी सुधा से प्राणियों के अन्तःकरण को तृप्त करती हुई, प्रेम व शांति के अथाह समुन्द्र की ओर बहती जाती है। कबीर की साखियाँ उनकी विचारधारा को प्रकट करने वाले तथा सांसारिक क्लेश, दुख और आपदाओं से मुक्त कराने वाले ज्ञान का भण्डार है।

विषय की दृष्टि से कबीर साहब की साखियों को भी पद साहित्य की भाँति प्रधानतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है – (1) लौकिक भाव प्रधान (2) पारलौलिक भाव प्रधान लौकिक भाव प्रधान साखियाँ तीन प्रकार की है – (क) सन्त मत का स्वरूप बताने वाली (ख) पाखण्डों का विरोध करने वाली (ग) व्यवहार (प्रधान) सन्तमत के स्वरूप का दिग्दर्शन कराने वाली

साखियों में कबीर साहब ने संतो तथा सत्संगति का महत्व बताने के साथ–साथ सद्गुरू तथा संत शिष्य के लक्षण का स्वरूप दर्शाया है।

निष्कर्ष यह है कि काव्य की किसी कसौटी को आधार बनाकर कबीर का मूल्यांकन किया जाये तो उन्हें कवि–कोटि से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। हमारा विश्वास है कि इतिहास लेखकों और आलोचकों की भावी पीढ़ियाँ कबीर को अधिक महत्व देगी और कविता हल्के ढंग की साखी न मानी जाकर श्रेष्ठ कविता समझी जाएगी। कबीरदास कागज पर सामान्य बात लिखने वाले साधारण जन न थे, वे आत्म दृष्टि सम्पन्न तत्व द्रष्टा थे। उन्होंने सर्वत्र अपने प्रियतम को ही व्याप्त देखा था और उससे मिलकर एक होने की साधना की थी।

♦♦♦♦

सन्दर्भ सूची

1. कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी, पद – 386
2. वही, पद – 6
3. कबीर ग्रन्थावली श्याम सुन्दर दास, पृ. 73.11
4. वही, पृ. 72
5. वही, पृ. 6.18
6. वही, पृ. 23.27
7. वही, पृ. 49.8
8. वही, पृ. 49.2
9. वही, पृ. 56.2
10. वही, पृ. 162
11. वही, पृ. 21.13
12. वही, पृ. 21.13
13. वही, पद – 162
14. वही, पृ. 21.13
15. कबीर ग्रन्थावली, साखी 33/7
16. वही, पद – 186
17. वही, पद – 52
18. वही, पद – 54
19. वही, पद – 55
20. श्वेताश्वतर उपनिषद – 6/11
21. कबीर ग्रन्थावली, पद – 58
22. वही, पद – 117
23. वही, साखी 20/7
24. वही, साखी 20/18
25. वही, साखी 29/11
26. वही, पद – 53
27. नारदीय भक्तिसूत्र, सं. 21

28. कबीर ग्रंथावली, पद – 278

29. कबीर वाणी सत्यज्ञानामृत – लालचन्द 'दूहन' जिज्ञासू', पृ. 42

30. कबीर वाणी सत्यज्ञानामृत – पृ. 105

31. कबीर – विजेन्द्र स्नातक – पृ. 68

32. कबीर सत्यज्ञानामृत – लालचन्द दूहन – जिज्ञासू – 68

33. वही, पृ. 47

34. वही, पृ. 78

35. वही, पृ. 95

36. वही, पृ. 63

37. वही, पृ. 40

38. वही, पृ. 36

39. वही, पृ. 201

40. वही, पृ. 119

41. वही, पृ. 98

42. वही, पृ. 82

43. वही, पृ. 93

44. वही, पृ. 55

45. वही, पृ. 52

46. वही, पृ. 78

47. वही, पृ. 128

48. वही, पृ. 159

49. कबीर ग्रन्थावली सटीक – डॉ. हरिहर प्रसाद गुप्त – 72

50. कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी – 18

51. कबीर – सत्याज्ञानामृत – लालचन्द दूहन जिज्ञासू – 117

52. वही, पृ. 25

53. वही, पृ. 99

54. वही, पृ. 63

55. वही, पृ. 102

56. वही, पृ. 152

57. वही, पृ. 98

58. वही, पृ. 57

59. वही, पृ. 38

60. वही, पृ. 47

61. वही, पृ. 20

62. वही, पृ. 61

63. वही, पृ. 19

64. वही, पृ. 77

65. वही, पृ. 96

66. वही, पृ. 202

67. वही, पृ. 40

68. वही, पृ. 58

69. वही, पृ. 44

70. वही, पृ. 205

71. वही, पृ. 88

72. वही, पृ. 97

73. वही, पृ. 209

74. वही, पृ. 57

75. कबीर ग्रंथावली – पृ. 89, पद 5, 27

76. वही, पृ. 56

77. कबीर बीजक – साखी – 261

78. साखि करव जालंधर पाद : हिन्दी काव्य धारा – राहुल सांकृत्यायन – पृ. 153–156

79. हिन्दी साहित्य की भूमिका – आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी – 42

80. श्वेताश्वर उपनिषद् – अ. 6/11

81. कबीर वाणी सत्यज्ञान मृत – लालचन्द दूहन 'जिज्ञासू' – 153

82. वही, पृ. 54

83. वही, पृ. 163

84. वही, पृ. 42

85. वही, पृ. 109

86. वही, पृ. 78

87. वही, पृ. 85

88. वही, पृ. 33

89. वही, पृ. 49

90. वही, पृ. 56

91. वही, पृ. 105

92. वही, पृ. 88

93. वही, पृ. 50

94. सन्त कबीर का साहित्य – डॉ. बिन्दू दूबै – 134

95. कबीर ग्रन्थावली – पृ. 50

96. वही, सा. 10, कबीर बीजक सा. 44, 140

97. तुलसी ग्रन्थावली पृ. 151

98. कबीर बीजक – पृ. 40

99. कबीर बीजक – पृ. 52

100. वही, पृ. 98

षष्ठम अध्याय

कबीर के काव्य का शिल्प विधान

(1) काव्य भाषा

(2) छन्द योजना

(3) अंलकार योजना

(4) लोकोक्तियां

(5) शब्द भण्डार

(6) रस परिपाक

(7) प्रतीक योजना

(8) गेयता

(9) काव्य सौन्दर्य और शैली

षष्ठम अध्याय

कबीर के काव्य का शिल्प विधान

कबीर उस हिन्दी–संस्कृति के सदस्य हैं जो नकार, विरोध के साथ अशिक्षित जनों की भाषा के बीच अपना साहित्यक इतिहास बनाती हैं। आठवीं शताब्दी में मूर्ति, मंदिर, शास्त्र, संस्कृति, मठ. छत्र, मुकुट, माला और तिलक, शिक्षा और यज्ञोपवीत, जाति, वर्ण को अस्वीकार करने वाली सिद्धचर्या विकसित हुई। इस सिद्धयर्या ने कुछ पद कहैं जो पद से अधिक 'सबद' थे, उन्हीं सिद्धों के ज्ञान की 'साखी' थे और उनके भ्रमण और रमण के भीतर नाद, बिन्दु, खानी, बानी जैसी समस्याओं पर विचार करते थे। उनकी भूमिका लोकोत्तर में थी, वे कई अर्थो में 'लोकोत्तर' भी थे। 'लोकोत्तर' अर्थात अन्त्यज अब्राह्म, अवर्ण, विस्थापित, भ्रमणशील, आत्मनिर्भर। घूमने और 'चेताने' के बीच उन्होंने अपनी चर्या बनायी थी। वे हर तरह के पद और पदार्थ से मुक्त थे। लेकिन उनका आचरण अत्यन्त शाब्दिक होते हुए भी सम्पूर्ण अर्थ था। वे 'सबद–विवेकी' थे। शब्द की पहचान परम्परा, व्याकरण, शिक्षा और दीक्षा से बहिगर्मन इनकी नियति थी। ऐसे सिद्धों ने साधुता और कविता को एकाकार किया। त्याग सभी अर्थो में था। जिनमें भाषा की महिमा का त्याग सबसे महत्वपूर्ण हैं। इन्हीं त्यागियों की परम्परा में नाथ आये। वे सच्चे अर्थो में अनाथ थे। घर–द्वार के बाहर कही 'मसान–बचान–वीरान में उनका 'अलख' जगता था, नाम को योगी थे, पूर्णतः विरक्त और वियोगी थे। ऐसे नाथपथियों ने भी चर्या–पदों के बाद 'सब्दी' जैसी एक चीज कहीं। अपने ही ज्ञान की गवाही के लिए 'साखी' रची। गले में सांरगी डालकर कविता को संगीत और साधुता दोनों से बाँध लिया, राग और रागिनियों में वे 'सबद' बोलते थे और अनेक अंगो में बनी बँधी साखी–गवाह उक्तियाँ कहते थे।

फिर उधर से बाहर से इलहास की मस्ती, तसव्वुफ का अन्दाज, लानत–मलामत–इनकार का तोहफा लिए हुए एक खास तरह की हिजरत में फिक्र और जिक्र का जनता की भाषा में 'ढ़ाई–आखर' बोलने वाले सुफी भी आये। सब मिला जुलाकर हिन्दी–संस्कार बना। यह संस्कार, शब्द शक्ति, अलकांर और रसवेद्यता की भारतीय परम्परा से बचकर या उसके प्रति अनजान होकर एक तरह के सुझाव, स्वभाव के भीतर बना था। यहाँ न संस्कार था न विकार। बस जो कुछ बजता था वह धीरे–धीरे आहत से अनाहत, हद से बेहदी तक पहुँचने वाला था। इस सिद्ध, नाथ, सूफी यायावर जन भाषा संस्कृति ने कबीर को 'करघे ' से शब्द उठाते देखा। उनके पेशे के भीतर से

गृहकार्य के सारे जंजालों के दांये–बाये से उन्हैं न केवल ध्वनित और व्यंजित शब्द मिले बल्कि शब्द का विवेक भी मिला। इसी शब्द–विवेक को जहाँ बना वहाँ सीधे, जहाँ नहीं बना वहाँ उलटे–उलटबाँसी में–कबीर ने अपनी बात कही। कबीर की यह बात कथ भी हैं और अकथ भी। अर्थात् – जो उक्ति अभिव्यक्त और शब्द बद्ध हैं। उसके 'पार' भी कबीर की उक्तियों का अर्थ जाता हैं और उक्त अभिव्यक्ति के 'आर' से भी शुरू होता हैं। इस आर–पार की पूरी स्थिति को पहचाने बिना कबीर की भाषा के सम्बन्ध में कोई सीधी समझ नहीं बनायी जा सकती। इस बात को स्थूल ढ़ंग से भी कहा जा सकता हैं कि कबीर एक ऐसी संगीत–परम्परा के साधु कवि हैं जहाँ शब्द और अर्थ के बाद, सुर, लय, तान–संगीत के ठाट, रंग, भीड़ और अनुतान भी उनकी कविता को अर्थ देते हैं। छन्दों यानी काव्यात्मक अनुशासन की दृष्टि से भी कबीर विस्मित करते हैं, वे बार–बार 'अचरज' की बात करते हैं लेकिन स्वयं एक 'अचरज' की तरह कविता और पाठक को एक बड़े ही ऊबड़–खाबड़, अनुशासन शिथिल कवित्व में ले जाते हैं।

(1) काव्य भाषा

कबीर की काव्य भाषा की मनोहारी झाँकी प्रस्तुत करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं – ''भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा हैं उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया बन गया हैं तो सीधे–सीधे, नही ंतो ददेरा देकर। ..... अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में हैं वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती हैं।[1]

वस्तुतः कबीर का समय 15वीं शताब्दी माना गया हैं। अतः कबीर के कथ्य को भी 15वीं शताब्दी का ही कहा जाएगा। ई. सन् 1000 के बाद भारतीय आर्य भाषा का कुछ नयापन सामने आता हैं जो अपभ्रशं से इतर हैं। 1200 शती तक आते–आते अपभ्रंश दुर्बल और क्षीण होती हैं। निश्चित रूप से यह कहा जा सकता हैं कि 1300 ई. पूर्व ही आधुनिक भारतीय भाषाओं का उदय हो चुका था। इस काल तक कुछ प्रदेशों में पुन भाषाओं में साहित्यिक रचना होने के संकेत भी उपलब्ध होते हैं।[2]

इस तथ्य की पुष्टि हैंतु राहुल जी का मत भी काफी उपादेय हैं, वे मानते हैं कि ''13वीं शती के अंत तक हिमालय–गोदावरी और सिन्ध–ब्रह्मपुत्र के बीच, यद्यपि बहुत सी बोलचाल की भाषाएँ थी, मगर उनके साथ सबकी एक सम्मिलित भाषा भी थी। वस्तुतः उस वक्त उत्तर भारत की सारी भाषाएँ एक दूसरी के बहुत नजदीक थी।[3]

कबीर के युग की भाषा का दिग्दर्शन करते हुए डॉ. सरनाम सिंह शर्मा लिखते हैं – कबीर के समय में अनेक बोलियों का मिश्रण एक साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हो रहा था। इसका प्रयोग धर्म प्रचारकों या साधु संतो में विशेष रूप से हो रहा था जो प्रारम्भिक मध्ययुग में समग्र उतरी भारत में अपने विशेष धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार करते फिरते थे। वस्तुतः वे निर्गुण भक्ति के प्रचारक थे। उनकी आस्था एक ओर वैष्णव भक्ति में थी। और दूसरी ओर यौगिक तत्वों में उनका विश्वास था। उनके यौगिक सिद्धान्त नाथों से आए थे। साधुओं की यह मिश्रित भाषा जिसे रामचन्द्र शुक्ल ने सधुक्कड़ी कहा हैं, ब्रजभाषा पर आधारित थी, जिसमें दिल्ली और पूर्व पंजाब की पूर्ववर्ती भाषा के शब्द रूप थे।[4]

डॉ. सरनाम सिंह शर्मा ने गोरखवाणी से 44 शब्द ऐसे छाँटे हैं जो कबीर साहित्य में ज्यों के त्यों हैं। इनके साथ ही कुछ वाक्यों को छाँटकर वे कबीर वाणी से मिलाते हैं। इस प्रकार इनकी मान्यता हैं कि कबीर की वाणी गोरखवाणी के निकट हैं।[5] लेकिन इसके साथ ही एक संकेत और भी देते हैं कि अपभ्रंश का परिनिष्ठित रूप एक ओर हैं तथा दूसरी ओर जन भाषा या ग्राम भाषा फूटती हैं। कबीर की भाषा में इनका सम्पुटित रूप व्यक्त होता हैं।[6]

इस प्रकार कबीर की वाणी में एक ''खिचडी भाषा (मिली जुली भाषा) का रूप देखकर केवल इतना अनुमान लगा लेना कि यह गोरखनाथ की भाषा हैं, पूर्णतः सही नहीं हैं। यह सत्य हैं कि गोरखनाथ की भाषा भी 'खिचड़ी भाषा हैं।'' गोरख की भाषा प्रचार–प्रसार की भाषा होने के साथ–साथ यह व्यापक क्षेत्र की धार्मिक भाषा भी थी। डॉ. साहिब ने एक मान्यता और दी हैं – ''ऐसा प्रतीत होता हैं कि उस समय मुसलमानों के सम्पर्क से साधु समाज में जिस खड़ी बोली का प्रचलन बढ़ रहा था। ..... इस खड़ी बोली का सम्बन्ध एक ओर ब्रज, अवधी में था तो दूसरी ओर पंजाबी एवं राजस्थानी से भी था। इसमें खड़ी बोली के तात्कालिन रूप में इन बोलियों का समावेश हो जाना अयुक्त नहीं था। इसके अलावा संत लोगों की पर्यटन प्रवृत्ति, उदार चेतना ने भी स्थान–स्थान की बोली के समावेश को इनकी मातृभाषा में समाहित करने की प्रेरणा दी।[7]

इस प्रकार के निष्कर्षो से एक तथ्य उभरकर सामने आता हैं कि उस समय विभिन्न प्रान्तीय बोलियाँ अपभ्रंश से विकसित हो रही थी। क्योंकि इनकी मूल जननी अपभ्रंश भाषा थी। इसीलिए प्रारम्भिक रूप में इन बोलियाँ में बहुत अधिक साम्य भी था। शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारी ब्रजभाषा अपने विस्तृत क्षेत्र के कारण तथा धर्म का आश्रय प्राप्त करने के कारण कुछ अधिक तीव्रता से विकसित हो चली थी। ब्रज बोली ही मध्यप्रदेश की शब्दावली का सहारा लेकर मुसलमानों से सम्पर्क के कारण मेरठ और दिल्ली के आसपास के इलाकों की बोली के व्याकरणिक रूपो को

हजम करती हुई एक नव्य भाषा के रूप में विकसित हो रही थी। जिसका प्रयोग अमीर–खुसरो आदि कवियों ने किया हैं। यह भाषा न तो ब्रजी हैं और न ही अवधी हैं। उस समय तक इस भाषा को कोई नाम नहीं दिया गया था।

हम यही कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार अन्य देशी भाषाओं का विकास हो रहा था, ठीक इसी प्रकार कुछ राजनैतिक, धार्मिक, व्यापारिक कारणों से मुसलमानों के दिल्ली में, मेरठ में जमावड़े के कारण एक ऐसी भाषा का विकास हो रहा था जो हिन्दू और मुसलमानों के बीच सम्पर्क भाषा का काम करती थी। इसी सम्पर्क भाषा को तत्कालीन नाथों ने धर्मावलम्वियों ने भी ग्रहण किया। यही भाषा अधिकांश लोगों के समझ सकने की भाषा थी।

यह एक बीच की भाषा थी जो ब्रजी थी, न अवधी थी, न अरबी और न ही फारसी थी, यह थी सधुक्कड़ी क्योंकि साधु–संतो ने इसे प्रचार के लिए अपना लिया था। यह जन सम्पर्क की भाषा थी। सम्भवतः इसीलिए इसमें भाषा के नए–पुराने शब्दों का संकलन था और प्रादेशिक सीमाओं और संकीर्णताओं का अतिक्रमण भी था। इसके गर्भ में एक तरफ ब्रज भाषा थी तो दूसरी तरफ दिल्ली और मेरठ के आस पास बोली जाने वाली बोलियों के कारक और क्रिया रूप इसमें समाहित थे तथा अरबी और फारसी के शब्द। इसका रूप नितान्त भिन्न था। कबीर को यह भाषा बंधे–बंधाएं ढाँचे के रूप में प्राप्त हुई। कबीर ने अपनी रूचि के अनुरूप इसी भाषा का प्रयोग अपने सदुपदेशों के लिए किया। कबीर की इस भाषा को कोई एक नाम देना असंगत ही नहीं, अपितु गलत भी होगा।

कबीर बनारस में रहैं, अतः इनकी भाषा में यदि कहीं पूर्वीपन हैं तो गलत नहीं हैं, किन्तु शुद्ध भोजपूरी या अवधी उनकी भाषा नही हैं। 'गुरू ग्रन्थ साहिब' में उनकी भाषा का जो रूप हैं इसमें पूर्वीपन के साथ–साथ राजस्थानी और पंजाबी का पुट भी देखते ही बनता हैं। हमारे इस मत की पुष्टि डॉ. साहिब के निम्न कथन में भी हो सकती हैं। ''मुसलमान विजेताओं के बिखराव और उत्तर भारत के प्रमुख शहरों में उनके प्रभाव के कारण इस नई भाषा का प्रचार तेजी से होने लगा था। इसीलिए संक्रान्तिकालीन संतो ने, जिनमें से अधिकाशं मुसलमानी संस्कृति से किसी न किसी रूप में प्रभावित थे, इसी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इस नई भाषा का कोई ठोस नाम न था। कबीर की भाषा (भाखा) शब्द का प्रयोग करके संस्कृत से भिन्न प्रचलित भाषा को बोधित कराया हैं। शायद बाद में इसी भाषा को 'रेखता' नाम मिला था।''[8]

इसी प्रकार की पुष्टि पं. परशुराम चतुर्वेदी जी करते हैं – ''कबीर साहब के आविर्भाव काल के पहले तथा उसके पीछे तक विभिन्न भाषाओं का एक साथ प्रयोग किया जाना अथवा एक ही

रचना के अन्तर्गत उसके विभिन्न पदों में विभिन्न भाषाओं का आ जाना एक साधारण सी बात थी। कवियों की कृतियों में जहाँ विभिन्न भाषाओं के क्रियापद, कारक चिह्न तथा संयोजक शब्द तक अनायास एक साथ आ जाते हैं। वहाँ प्रान्तीय भाषाओं अथवा बोलियों की रचनाओं के बीचों–बीच में संस्कृत, फारसी आदि की पंक्तियाँ भी सन्निविष्ट कर दी जाती हैं और इसे कदाचित किसी प्रकार का दोष भी नहीं माना जाता।''[9] इस प्रकार निर्विवाद रूप से कबीर की भाषा को पूर्वी हिन्दी या पश्चिमी हिन्दी कहना ठीक नहीं हैं। कुछ लोग निम्न उक्ति को उद्धत करके उनकी बोली को पूर्वी कहते हैं –

''बोली हमको पूरब की हमैं लखैं नहीं कोय।
हमको तो सोई लखै, धुर पूरब कां होय।।''[10]

लेकिन कुछ विद्वान निम्न उक्ति का सन्दर्भ देकर ''शिव सकती दिए, कौन जु जोवै, पछिम दिसा उठै धूरि'' कहकर उनकी भाषा को पश्चिमी–हिन्दी कहने के पक्षधर हैं, किन्तु कबीर के ये शब्द पूर्वी और पश्चिमी दिशा बोधक न होकर प्रतीकात्मक हैं।

प्रतीकात्मक प्रयोग कबीर के अतिरिक्त 'नाथवाणी' में भी देखे जा सकते हैं। यह सत्य हैं कि उस समय तक 'खड़ी बोली' का नाम उभरकर सामने नही आया था, नहीं तो विद्वानों को ऐसे भ्रम शायद न होते। इसीलिए लोग कबीर की भाषा को लेकर विविध प्रकार से उसे व्याख्यायित करते रहैं हैं। डॉ. सरनाम सिंह शर्मा का कथन इस दृष्टि के काफी उपादेय हैं – ''कबीर का लक्ष्य अपने मत को अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचा देने का था, साहित्य सर्जना नहीं जिसने कि वे किसी विशेष साहित्यिक भाषा का प्रयोग करते। वे प्रचलित कुरीतियों और रूढ़ियों के विरोधी थे उनमें वे समाज को मुक्त करना चाहते थे, वे दम्भ, पाखण्ड और छद्म के स्थान पर सहज सत्य की प्रतिष्ठा देखना चाहते थे। ये यह भी जानते थे कि सत्य की एकता का साक्षात्कार इन चर्म लोचनों से नहीं हो सकता, केवल ह्रदय के लोचन ही उसे देख सकते हैं। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कबीर किसी क्षेत्रीय संकीर्णता मे उलझकर अपने को खो देना नहीं चाहते थे। इससे उन्होंने उस भाषा को अपनाया जो विस्तृत भूखण्ड की भाषा थी, जिसको हिन्दू और मुसलमान दोनों सहर्ष समझ और स्वीकार कर सकते थे और जिसका स्वागत अनेक प्रदेशों में हो सकता था।[11]

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता हैं कि कबीर ने बनारसी बोली के साथ–साथ अपनी 'काव्य भाषा' के लिए अन्य भाषाओं और बोलियों का अर्जन किया। इससे एक तरफ वे अपने श्रोताओं को चमत्कृत और मंत्र–मुग्ध करते थे तो दूसरी तरफ वे अपनी 'काव्य भाषा' को किसी क्षेत्र विशेष, जाति विशेष, वर्ग विशेष की न बनाकर जनतांत्रिक भाषा बनाना चाहते थे, जो वर्ग, सम्प्रदाय,

जाति, क्षेत्र आदि के विवाद से ऊपर हो। कबीर को इस दृष्टि से बेहद सफलता भी प्राप्त हुई, क्योंकि उनकी भाषा कृत्रिम नहीं थी, अपितु अर्जित भाषा थी जो केवल पठन से ही नहीं, अपितु सम्पर्क से भी एकत्र की जाती हैं। उच्च कोटि के साधक होने के कारण उनका सम्पर्क विविध लोगों से रहा तथा उन्होंने चारों दिशाओं में भ्रमण और पर्यटन भी किया। उनके साहित्य से इस सन्दर्भ में अन्तः साक्ष्य भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इस प्रकार निश्चित रूप में 'कबीर वाणी' में उनकी 'काव्य भाषा' का जो रूप उभरा हैं उसमें ब्रज भाषा और खड़ी बोली का आधार हैं तथा राजस्थानी और पंजाबी का पुट साथ ही उनकी अपनी बोली का गहन प्रभाव थी। इसे चाहैं कोई अन्य नाम दे, किन्तु हमारी मान्यता उसे किसी भ्रामक नाम से बाँधने की नहीं, क्योंकि कबीर बँधने वाला व्यक्तित्व हैं ही नहीं, वह तो उन्मुक्त हैं भावों से , विचारों से और भाषा से।

(2) छन्द योजना

कबीर ने कुल मिलाकर 'सांखी', 'शब्दी' (पद), 'रमैनी', 'चौंतीसा', 'बावनी', 'वार', 'चिंती', 'चाँचर', 'बसंत', 'हिंडोला', 'बेलि', 'विप्रमतीसी', 'कहरा' और 'बिरहुली' इन चौदह काव्य रूपों का प्रयोग किया हैं। ये काव्य रूप शास्त्रीय नहीं हैं। इन्हैं कबीर ने सिद्धों और योगियों की परम्परा से प्राप्त किया हैं। इनके बीज लोककाव्य में लक्षित किये जा सकते हैं। 'साखी' 'साक्षी' का अपभ्रशं रूप हैं। साखियों में संतो द्वारा अनुभूत (साक्षात्कृत) सत्य व्यक्त हुआ हैं। ये ज्ञान की आँखे हैं। इनका प्रयोग गोरखपंथी योगियों और सिद्धों के साहित्य में भी हुआ हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत हैं कि जिसे सिद्धों ने 'उएस' 'उपदेश' कहा हैं, वही बाद में साखी 'शब्द' बन गया हैं।[12]

साखी कबीर का सबसे प्रिय काव्य रुप हैं। शब्द या शब्दी गेय पद हैं। 'शब्द' ब्रह्म का प्रथम विवर्त हैं। शब्द से ही सारे संसार की उत्पति हुई हैं। ब्रह्मतत्व के विचार से मुक्त होने के कारण ही संतो ने अपने गेय पदों को 'शब्द' या शब्दी कहा हैं। गेय पदों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन हैं। बौद्ध सिद्धों के 'चर्यापद' गेय पद ही हैं। इनसे ही पहले 'बज्रगीतियों' परम्परा मिलती हैं। यह गेय पद–परम्परा लोक काव्य की निजी शैली हैं। सिद्धों, योगियों और संतों ने इसे अपने अनुकूल बनाकर वहीं से ग्रहण किया हैं। रमैनी के सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत हैं कि इसका प्रचलन कबीर पंथ में बहुत बाद में हुआ हैं। 'नाभादास ने कबीर की चर्चा करते हुए 'रमैनी', 'संबदी' साखी का उल्लेख किया हैं। इससे प्रमाणित हैं कि नाभादास (सं.1642) के पहले कबीर साहित्य में रमैनी का प्रचलन था। पं. परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार इसकी व्युत्पति रामायण शब्द से (रामायण> रमैनी>रमैन.) हुई हैं।[13]

कुछ लोग 'रमैनी' का अर्थ 'संसार' में जीवों के रमण कराने वाली[14] कहते हैं। 'रमैनी' का समावेश 'कबीर ग्रन्थावली' और 'बीजक' दोनों में हैं, इसलिए इसे बहुत बाद को प्रचलित नहीं मान सकते। 'रमैनी' में दोहा और चौपाई छंदो का सम्मिलित प्रयोग मिलता हैं 'बावनी' में नागरी वर्णमाला के 52 अक्षरों को लेकर (16स्वर, 36 व्यंजन) प्रत्येक दो पंक्ति को एक वर्ण से सम्बद्ध करते हुए क्रमशः सभी वर्णो से सम्बद्ध द्विपदियाँ रची जाती हैं। कबीरदास ने जो बावनी लिखी हैं, उसमें स्वरों को छोड़ दिया गया हैं और व्यंजनों में भी अंतिम 'त्र' 'ज्ञ' को छोड़कर चौंतीसा व्यंजनों को लेकर ही द्विपदियाँ बाँधी गई हैं। इस प्रकार कबीर की बावनी एक प्रकार से चौंतीसा व्यंजनों को लेकर ही द्विपदियाँ बाँधी गई हैं। इस प्रकार कबीर की बावनी एक प्रकार से चौंतीसा ही हैं। चौंतीसा भी बावनी की पद्धति का ही काव्य रूप हैं। इसमें स्वरों को छोड़ दिया जाता हैं। शेष वर्णो के क्रम से द्विपदियाँ बाँधी जाती हैं। जायसी ने इसी प्रकार के काव्य रूप को 'अखरावट' कहा हैं। फारसी में इस प्रकार की रचनाओं को 'सीहर्फी' कहा गया हैं। ऐसा समझा जाता हैं कि इस काव्य प्रकार के आविष्कर्त्ता जैन कवि हैं। प्राचीन लोक या जन – काव्य में इसके व्यापक प्रयोग से यह सिद्ध होता हैं कि इसका आरम्भ भी लोक कवियों ने ही किया होगा।

'चिंती' तिथि का अपभ्रंश हैं। इसमें महीनों के दोनों पक्षों की तिथियों का उल्लेख करते हुए भक्ति, ज्ञान, वैराग्यपरक उपदेश दिये जाते हैं। आदि ग्रन्थ में संग्रहीत कबीर वाणी में 'चिंती' काव्य रूप पाया जाता हैं 'वार' भी इसी प्रकार का काव्य रूप हैं। इसमें सप्ताह के सातों बारों का क्रमशः उल्लेख करते हुए ज्ञानोपदेश दिया जाता हैं। 'चांचर' चर्चरी का अपभ्रंश हैं। यह वसंतोत्सव के उपलक्ष्य में गाया जाने वाला एक लोकगीत हैं प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में 'चच्चरी' या 'चाचरि' का प्रयोग बहुत मिलता हैं वंसत ऋतु के मादक वातावरण से उल्लसित होकर लोक–कवि जो गीत गाते रहैं होंगे उन्हैं बसंत कहा गया होगा। कबीर ने इसी लोक–प्रचलित काव्यरूप को स्वीकार करके उसमें अपना आध्यात्मिक उपदेश दिया हैं। इसी काव्य रूप के निकट पड़ने वाले 'फागु' और 'धंमार' भी हैं। सावन में झूलते समय जो लोकगीत गाये जाते हैं, उन्हीं के अनुकरण पर संतो ने 'हिंडोला' नामक गेय पदों की रचना की हैं। 'कहरा' भी एक प्रकार का गये पद हैं। कहरवा के ढंग पर रच जाने के कारण इसे कहरा कहा जाता हैं। कुछ लोग 'कहरा' का सम्बन्ध 'कहर' में जोड़ते हैं। उनकी दृष्टि में 'संसार के जरा–मरण रूप कहर (क्लेश) से बचाने वाला ही 'कहरा' हैं।[15]

'बेलि' वह काव्य रूप हैं, जिसमें काव्य को लता रूप में अकुंरित और पल्लवित दिखाया जाता हैं। राजस्थान में नेलि काव्यों की पुष्ट परम्परा रही हैं। कबीर ग्रन्थावली में वेली को अंग शीर्षक के अन्तर्गत संग्रहीत साखियों में 'नेलि' शब्दलता के अर्थ में प्रयुक्त हैं। किन्तु बीजक में

संग्रहीत दो बेलियों में लता का रूप नहीं बाँधा गया हैं। ऐसा लगता हैं कि 'नेलि' भी कोई लोक प्रचलित काव्य रूप था जिसे संतो ने अपने आध्यात्मिक विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बना लिया। 'बिरहुली' साँप का विष दूर करने के लिए गाया जाने वाला गीत हैं। किसी–किसी ने इसका अर्थ 'विरही जीव' किया हैं। यह संभव हैं कि मूल रूप में 'विरहुली' साँप का विष दूर करने के लिए झाड़–फूँक करने वालों द्वारा गाया जाने वाला मंत्रगीत रहा हो और लोक में इसका प्रचार देखकर संतो ने इसे अपनी वाणियों में स्थान दिया हो। 'विप्रमतीसी' सम्भवतः 'विप्र–मतितीसी' का बिगड़ा रूप हैं। इसका अर्थ होगा ' विप्रो की मति का विवेचन करने वाली तीस पक्तियाँ वस्तुतः इस काव्य रूप में ब्राहम्णों की आलोचना की गई हैं। यह काव्य–प्रकार बीजक में ही प्राप्त हैं। कबीरदास द्वारा उपर्युक्त काव्य–प्रकारों में कुछ तो प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा से ग्रहण किये गये हैं और कुछ सिद्धों और योगियों की रचना परम्परा से। कुछ सीधे लोक–जीवन से लिये गये हैं। यों बीज सभी का लोक काव्य ही हैं।

उपर्युक्त चौदह प्रकार के काव्य रूपों में प्रयुक्त छंदो की संख्या भी कम नहीं हैं। कुल मिलकार 30 प्रकार के छंदो का प्रयोग किया गया हैं। साखियों में दोहा, सोरठा, उपमान, मुक्तामणि, अवतार, दोहकीय और गीता छन्दः शब्दियों (पदों) में चौपाई, चौपई, पद्धरी, डिल्ला, वीर, चौवोला, अरिल्ल, तांटंक, लावनी, सार, सखी, सरसी, विष्णुपद, उल्लाला, चण्डिका, लील, शोभन, कुण्डल और सुखदा छन्द तथा शेष काव्य रूपों में (उपर्युक्त छन्दों के अतिरिक्त) कज्जल, पद्धटिका, रूपमाला और सिंह छंदों का प्रयोग मिलता हैं। कबीर की यह विशेषता हैं कि उन्होंने उपर्युक्त सभी छन्दों का प्रयोग उनके शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपों में किया हैं। छन्दों को गेय बनाने के लिए शुद्ध छन्दों के अन्त में कुछ शब्द जोड़ लिये हैं और कभी–कभी दो या अधिक छन्दों को मिलाकर छन्द–विधान का स्वतन्त्र रूप खड़ा कर लिया हैं। जाहिर हैं कि कबीर को इन छन्दों का शास्त्रीय ज्ञान नहीं था। उन्होंने लोक प्रचलित काव्य रूपों का प्रयोग करते हुए अपनी बातें कहीं और उन्हैं प्रभाव पूर्ण बनाने के लिए वहाँ जैसे चाहा शब्दों का प्रयोग किया। चूँकि यह सारा कथन पद्यबद्ध हैं। इसलिए शास्त्रीय दृष्टि से उसमें अनेक प्रकार के छन्द–विधान लक्षित होते हैं।

कबीर का समग्र साहित्य 'कबीर–बीजक' में संकलित हैं। इसके तीन भाग हैं, साखी. सबद और रमैनी का यह अनूठा संगम हैं। साखियाँ प्रायः दोहा छन्द में हैं किन्तु इनके अन्तर्गत कहीं–कहीं चौपाई, सोरठा, श्याम, उल्लास, हरिपद, गीता, सार और छप्पय छंद भी उपलब्ध हो जाते हैं। यदि ध्यान से देखा जाए तो कबीर द्वारा या इसके शिष्यों द्वारा प्रयुक्त 'साखी' शब्द मूलतः भाव घोतन कर देने वाला शब्द हैं, छन्द का घोतक नहीं हैं। इसीलिए विशेषभाव कोटि के अन्तर्गत आने

वाले अन्य छन्द भी 'साखियों' में ही समाहित हैं। यह कबीर का 'अगेय' साहित्य हैं। जो छन्द रमैणी या गेय पदों (सबदों) में समाविष्ट नहीं हो सकते थे उन्हैं संग्रह कर्त्ताओं ने 'सांखियों' में संकलित कर दिया हैं। दोहा छन्द अपभ्रंश का प्रिय छन्द रहा हैं। छन्द के आचार्यो के इस छन्द के तेईस भेद कर दिए हैं, लेकिन इन भेदों में 'साखी' नाम कहीं भी नहीं आया। तुलसीदास ने इसे दोहरा कहा हैं –

साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं अधम कवि निदहिं वेद पुरान।।[16]

दोहरा दोहा का ही भेद हैं। इसके विषम चरणों में 12 मात्राएँ और समचरणों में 11 मात्राएँ होती हैं। द्विपथा। दुबहा। दूहा। दोहैं के नाम हैं। दोहैं या साखी को सिक्खों के गुरू ग्रन्थ साहिब में 'सलोक' कहा हैं। कबीर की साखियों में दोहरा छन्द भी उपलब्ध हो जाता हैं –

जिन जिन संबल कियो, अस पुर पाटन पाय।
आलि परे दिन अथये, संबल कियो न जाय।।[17]

।ऽ ।ऽ ।। ।।ऽ=12 ऽ।। ।ऽ । ऽ। = ।। = ।2+।।=23

जहाँ दोहैं के शास्त्रीय नियम भंग होते हैं, उन्हैं संभग दोहा कहा गया हैं। और जहाँ दोहैं के शास्त्रीय नियमों का पालन होता हैं उन्हैं अभंग दोहा कहते हैं। निम्न उदाहरण देखिए –

अभंग – गंग जमुन उर अंतरै, सहज सुनिं ज्यों घाट।
ऽ। ।।। ।। ऽ। ऽ (13) ।।। । ऽ ऽ ऽ । (11) = 13+11=24 मात्राएँ
तहाँ कबीर मठ रच्यां, मुनि जन जोवैं बाट।।
। ऽ । ऽ। ।। ऽ ऽ (13), । । । । ऽ ऽ ऽ । (11) = 13+11=24 मात्राएँ
सिव सकती दिसि कौंण जु जोनैं, पच्छिम दिसा उठै घूरि।
। । । । ऽ । । ऽ । । ऽ ऽ= (16) ऽ।। । ऽ । ऽ ऽ। (13) = 16+13=29 मात्राएँ
जल में स्पंध जु घर करै, मछली चढ़ै खजूरि[18]
।। ऽ ऽ। । ।। ।ऽ (13) ।। ऽ । ऽ । ऽ । (11)=13+11=24 मात्राएँ

इस दोहैं में ऊपर के चरण में 26 मात्राएँ हैं जबकि नीचे के चरण में 24 मात्राएँ हैं।

कबीर ने चौपाई और चौपई दो छन्दों को अपनाया हैं। इसके अतिरिक्त वीर, सरसी और सार छन्द के उदाहरण भी उनके काव्य में मिल जाते हैं। कबीर के छन्दों पर विचार करते समय

डॉ. सरनाम सिंह शर्मा लिखते हैं – ''कबीर के पदों में अन्य प्रयोग बहुल छन्दों में सार और सरसी नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, किन्तु शुद्ध सार पर बहुत कम मिलेंगे। ..... इसी प्रकार शुद्ध सरसी पद के उदाहरण भी थोड़े ही मिल सकते हैं।[19] डॉ. शिवनन्दन प्रसाद लिखते हैं – कबीर के पद या 'सबद' रागों के अनुसार गेय पद हैं, जिनमें छंद विश्लेषण की दृष्टि से दो छन्दों का प्रयोग प्रायः सदैव मिलता हैं। टेक या घुकु की पहली पंक्ति प्रायः छोटी होती हैं। उसमें प्रायः षोडश मात्रिक चौपाई या पादा कुलक छंद प्रयुक्त होता हैं। शेष सभी पक्तियों में सार छन्द का प्रयोग होता हैं। जिनमें प्रत्येंक में 16+12=28 मात्राएँ होती हैं।[20]

इसका यह आशय नहीं हैं कि कबीर के सभी पद एक प्रकार से ही निबद्ध हैं। बल्कि कुछ पदों में अन्य छंद भी विद्यमान हैं, यह निर्णय कुछ एक छंदों के परीक्षण पर आधारित हैं। यह सत्य हैं कि कबीर के अधिकाशं पद गेय हैं और उनका आधार संगीत हैं। कबीर के पदों को देखने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता हैं कि उन पर पिंगल शास्त्र का अनुशासन पूर्णतः लागू नहीं होता, बल्कि कबीर की भाषा का शासन दिखाई पड़ता हैं। कबीर ने पदों की रचना संगीत में महारत हासिल करने के लिए नहीं की। उनका उद्देश्य मात्र अपने कथ्य का प्रचार–प्रसार हैं। इसके साथ ही मानसिक और आध्यात्मिक सन्तुष्टि थी। इसलिए पिगंल के शत प्रतिशत नियम उन पर लागू नहीं हो सकते हैं।

पदों के अतिरिक्त कबीर ने रमैणी भी प्रतिपादित की हैं। इनकी रचना दोहा – चोपाईयों में की गई हैं। इसे 'कड़वक शैली' के नाम से जाना जाता हैं। चौपाइयों में कहीं–कहीं छंद दोष भी प्रविष्ट हो गया हैं। निम्न उदाहरण देखिए –

तिण चरि सुरही उदिकजु पीया, द्वारै दुध बंध कूंदीया।।
। । । । । । ऽ । । । । ऽ ऽ (16) ऽऽ । । ऽ। ऽ ऽ ऽ (15)
बछा चुंखत उपजी न दया, बछा बांधि बिछोही मया।
। ऽ ऽ । । । । । ऽ । । ऽ (15) ।ऽ ऽ। । ऽ ऽ । ऽ (14)
ताका दूध आप दुहि पीया ग्यान विचार सधू नहीं काया।[21]
ऽ ऽ ऽ। ऽ। । । ऽ ऽ(16) ऽ। । ऽ । । ऽ । ऽ ऽ ऽ (17)

यदि पहली पंक्ति में प्रयुक्त (दूध) शब्द को दूध कर दिया जाए और तीसरी पंक्ति में (सधू) के स्थान पर 'सधु' कर दिया जाए तो पहली और तीसरी पंक्ति शुद्ध चौपाई छंद की बन जाती हैं, क्योंकि इनमें 16–16 मात्राएँ बन जाती हैं और अन्त में जगण और तगण नहीं आता हैं। दूसरी

पंक्ति में भी 'दया' के स्थान पर 'दाया' तथा 'मया' के स्थान पर 'माया' और बछा को 'बच्छा' कर देने से यह भी चौपाई छंद बन जाता हैं।

हमें लगता हैं कि उच्चारण दोष के कारण या अशुद्ध लेखन के कारण ऐसा हुआ हैं या फिर यह भी कहा जा सकता हैं कि कबीर शब्दों के प्रति लापरवाह थे। उनका ध्यान शब्द की शुद्धि पर न होकर अर्थ पर केन्द्रित रहता था। इसका यह आशय नहीं हैं कि कबीर की सभी रमैणियाँ इसी प्रकार अव्यवस्थित हैं। अधिकांश 'रमैणियों' में प्रयुक्त चौपाइयाँ और दोहैं शुद्ध भी हैं। कहीं–कहीं तो छपने में भूल हुई हैं और कहीं संकलन कत्ताओं ने उन पर विचार नहीं किया। मत परम्परा से एकत्र किए गए साहित्य में ऐसी त्रुटियाँ उपलब्ध होना स्वाभाविक होता हैं या फिर इस प्रकार के छंदो का क्षेपण माना जा सकता हैं। पाठालोचन के विद्वान इस विषय में अधिक प्रामाणित निर्णय दे सकते हैं। हमारा उद्देश्य मात्र इस ओर संकेत करने का हैं।

(3) अलंकार योजना

कबीर मूलतः कवि नहीं थे, वे एक संत और भक्त थे। उनका उद्देश्य कविता रचना न होकर समाज को सत्य के रास्ते पर लाना और समाज का दर्शन करवाना था। उनका कथ्य राम रस की मादकता में मस्ती का कथ्य हैं। यह सत्य हैं कि उन्होंने अपने उपदेशों के लिए कविता को माध्यम बनाया, किन्तु कविता रचने का प्रयत्न नहीं किया। कहने का आशय यही हैं कि उनका कथ्य भावों का वाहक हैं, कोई कलात्मक अभिव्यंजना नहीं। कलात्मक प्रदर्शनी न तो उनका उद्देश्य था और न ही उन्होंने इसका कोई प्रयास किया, उनका उद्देश्य अपने भावों को जनता तक पहुँचाने का था इसके लिए उन्होंने प्रयत्न भी नहीं किया। इसीलिए उनके साहित्य में अलंकारों की सर्जना सायास नहीं, अपितु स्वाभाविक हैं। अन्य रीति कवियों की तरह उनके अलंकार ब्रह्म शोभा की वस्तु, चमक–दमक, तीव्र झंकार पैदा करने वाले न होकर उनके दैनिक जीवन में प्रयुक्त वस्तुओं से निकलकर उनकी वाणी में समाए हैं। सम्भवतः अनुभूति की चोट से उनकी वाणी सजी–सी लगती हैं और अलंकारमयी हो गयी हैं।

समाज की आलोचना और भर्त्सना करते समय या उपदेश देते समय कहीं–कहीं वे अपनी बात इस ढंग से कहते हैं कि तीव्र व्यंग्य और तीक्ष्णता की स्थिति उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे उनकी साधारण बात भी असाधारण लगने लगती हैं। अप्रस्तुत के सहयोग से साधारण बात को व्यक्त करने पर अभिव्यक्ति में आकर्षण और मोहकता का समावेश अपने आप हो गया हैं। कबीर ने अपनी अनुभूति को व्यक्त करने के लिए ही अप्रस्तुतों का सहयोग लिया हैं। ईश्वर की 'अनंत

ज्योति' के अनुभव को सामान्य व्यक्ति तक पहुँचाने के लिए उनके पास केवल एक ही माध्यम था 'सूर्य'। सूर्य की प्रखरता, तीव्रता, ज्योतिमत्ता को सब पहचानते हैं, किन्तु ईश्वर की अनंत ज्योति को नहीं। इसलिए कबीर ने अनन्त सूर्यो का अनुमान करके 'अनंत ज्योति' को समझाया –

''कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि''[22]

इस प्रकार कबीर के उपमान वस्तु लोक से लिए गए हैं। कबीर का तन 'तन को काचा कुंभ'[23] कहना 'छाड़ जरै ज्यों लाकड़ी, केस जैर ज्यों घास'[24] तथा 'पाणि केरा बुद बुदा असमानुष की जात[25] कहना सायास अलंकारों का प्रयोग न होकर स्वाभाविक कथन हैं कि जो उनकी तीव्र सामाजिक अनुभूति का पर्याय हैं। यह सत्य हैं कि अलंकारों के सम्बन्ध में उनका कोई विशेष प्रयत्न नहीं हैं, फिर भी उनकी वाणी में अलंकारों की दृष्टा हैं। उनके साहित्य में निम्न अलंकारों को ढूँढा जा सकता हैं –

(1) अनुप्रास – 'खालिक खलक खलक में खालिख'[26]

यहाँ स्वर की विषमता रहने पर भी पद या पद्यांश की समानता हैं। दूसरे शब्दों में 'ख' वर्ण की आवृत्ति होने से अनुप्रास बन गया हैं।

(2) रूपक – उपमेय पर उपमान का आरोप रूपक कहलाता हैं। या उपमान और उपमेय का अभेद रूपक कहलाता हैं। कबीर साहित्य में रूपकों की झड़ी हैं। ज्ञान की आंधी का रूपक बांधते समय 'सांग रूपक' का प्रयोग निराला बन पड़ा हैं –

संतो भाई आई ज्ञानी की आंधी।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी, माया रहैं ना बांधि।
हित चित की द्वै थूंणी गिरांणी, मोह बलींडा टूटा।।
त्रिस्ना छंनि परी घर ऊपर, कुबुधि का भांडा फूटा।।[27]

इसी प्रकार सुमेरू का रूपक, 'घोड़ा तथा सवार का रूपक', ताला कुंजी चोर का रूपक' उन्हें नाथपंथियों की परम्परा से सहज प्राप्त हुए हैं और उनका प्रयोग कबीर ने भी किया हैं। एक उदाहरण देखिए –

मन रे जागत रहियों भाई।
गाफिल होई बसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई।

षट चक्र की कनक कोठड़ी, बस्त भाव हैं सोई।

ताला कूंची कुलफ के सागै, उघड़त बार ने होई।।[28]

(3) उपमा – एक ही वाक्य में दो पदार्थो के वैधर्म्य रहित वाच्य सादृश्य को उपमा कहा जाता हैं। उपमेय की उपमान से समता करना उपमा हैं। इसे तुलना या बराबरी भी कहा जाता हैं। उपमा कबीर को प्रिय हैं। इसीलिए वे कहते हैं –

(क) ''यह ऐसा संसार हैं जैसा सैंबल फूल''[29]

(ख) ''सतगुरू ऐसा चाहिए जैसा सिकलीगर होई।।[30]

(4) दृष्टान्त – दृष्टान्त देकर अपनी बात की पुष्टि करना संतो का स्वभाव होता हैं। कबीर भी इसके अपवाद नहीं हैं। जब उपमेय और उपमान वाक्य तथा उसके साधारण धर्मकार धर्म – पार्थक्य होते हुए भी। बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव अर्थात–भाव साम्य हो वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता हैं। कबीर ने इस अलंकार का प्रयोग निम्न साखी में किया हैं –

करता था तो क्यूँ रहा, कब करि क्यूँ पछिताइ।

बोवै पेड़ बबूल का, अंब कहाँ तै खाइ।।[31]

(5) विभावना – कारण बिना कार्य जहाँ होता हैं। कारण के बिना कार्य की उत्पति का वर्णन विभावना अलंकार कहलाता हैं। निम्न उदाहरण देखिए –

पंडित होइसु पदहि विचारै, मूरिष नांहिन बूझै।

बिनु हाथनि पाइनि, बिनु काननि, बिन लोचन जग सूझै।।

बिन मुख खाइ, चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।।

बिनहीं तासां ताल बजावै, बिन मदंल यह ताला।

बिनहीं सबद अनाहद बाजै, तहाँ निरतत हैं गोपाला।[32]

(6) विशेषोक्ति – विभावना का उल्टा विशेषोक्ति होता हैं। अर्थात् कारण के विद्यमान होने पर भी जहाँ कार्य का होने का वर्णन हो वहाँ विशेषोक्ति होता हैं। निम्न उदाहरण देखिए –

हिरदा भीतर दौं बलै, धूवां न प्रकट होई।[33]

(7) असंगति – कबीर काव्य मै असंगति अलंकार भी खोजने पर उपलब्ध हो जाता हैं। जहाँ कारण और कार्य का भिन्न–भिन्न स्थानों पर होना दर्शाया जाता हैं, वहां असंगति अलंकार होता हैं, निम्न उदारहण देखिए –

(क) 'आंगणि बेलि अकास फल'[34]

(ख) 'अगनि जु लागी नीर मैं क्यूँ जलिया झारि।''[35]

(8) अतिशयोक्ति – किसी की प्रशंसा या निन्दा में बहुत बढ़ा – चढ़ाकर लोक सीमा का अतिक्रमण करते हुए कथन कहा जाता हैं, वहाँ अतिशयोक्ति होता हैं। कबीर–साहित्य में यह अलंकार न्यून मात्रा में हैं, किन्तु कथन की भंगिमा से निम्न कथन अतिशयोक्ति का उदाहरण हैं –

सपने हूँ बरड़ा कै, जिह मुख निकसे राम।
ताके पा की पनही, मेरे तन को चाम।।[36]

(9) विषम – जहाँ कहीं दो ऐसे पदार्थो का सम्बन्ध दर्शाया जाये तो संगत न हो अर्थात् दो बेमेल पदार्थो का किसी न किसी रूप में सम्बन्ध दर्शाना ही विषय अलंकार होता हैं। निम्न उदाहरण देखिए –

हरि के बारै बड़े पकाये, जिमि जारे तिनि षाये।
म्यानं अचेत फिरै नर लोई ताथै जनमि जनमि डहकाये।
छौल मंदलिया बैल रबाबी, कऊवा ताल बजावै।
पहरि चोलनां गदहा नाचै, भैंसां निरति करावै।
स्पंध बैठा पान कतरै, घूंस गिलौरा लावै।।
ऊढ़री बपूरी मंगल गावै, कछु एक आनंद सुनावै।
कहैं कबीर सुनहु रे संतौ, गडरी परबत खाबा।
चकवा बैसि अंगारै निगलै, समदं अकासां धावा।।[37]

(10) उत्प्रेक्षा – उपमेय में उपमान की संभावना को उत्प्रेक्षा कहते हैं। निम्न उदाहरण देखिए –

'कबीर तेज अनंत का मानौं उगि सूरज सेणि'[38]

(11) व्यतिरेक – उपमान से उपमेय को बढ़ाना या उपमेय से उपमान की न्यूनता का वर्णन करना व्यतिरेक कहलाता हैं। निम्न उदाहरण देखिए –

एक कनक अरू कांमणी, दोउ अगनि की झाल।
पैसे ही तन प्रजलैं, परस्या हैं पैमाल।।[39]

(12) उदाहरण – कभी–कभी उदाहरण देने की प्रणाली देखने में आती हैं। कथन की पुष्टि के लिए यह बड़ा कारगर उपाय हैं। जब साधारण धर्म वाले वाक्यों में वाचक शब्द के द्वारा समता दिखाई जाती हैं। वहाँ उदाहरण अलंकार हो जाता हैं। निम्न उदाहरण देखिए –

सो सांई तन मैं बसै, भ्रम्यो न जाणै तास।
कसूरी के मृग ज्यूँ, फिरि–फिरि सूंघै घास।।[40]

(13) विरोधाभास – जब दो विरोधी पदार्थ एक साथ हों, जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया के द्वारा उनके संयोग से विरोधी काम होता हैं अथवा विरोध दीख पड़ता हैं, वहाँ विरोधाभास होता हैं –

विरह जलाई मैं जली, जलति जलहरि जाऊँ।
मो देख्याँ जलहरि जलै, संतौ कहाँ बुझाऊँ।।[41]

कबीर वाणी मैं खोजने पर अनेकानेक अलंकार उपलब्ध हो सकते हैं। किन्तु हमारा उद्देश्य मात्र कबीर के साहित्य में अलंकार प्रदर्शन का नहीं हैं। हम यही तथ्य निश्चित करना चाहते हैं कि कबीर वाणी अलंकार शून्य नहीं हैं। यह कोरा उपदेश या खंडन–मंडन न होते हुए जीता–जागता साहित्य भी हैं। कलापक्ष की दृष्टि से विवेचन करने पर यह सिद्ध किया जा सकता हैं।

कबीर ने अपने साहित्य में कुछ उपमान और प्रतीक भी ले लिए जो नाथ साहित्य में थे। कुछ सामान्य शब्दों में नए अर्थ श्लेष के माध्यम से भरने का प्रयास उन्होंने किया और सामान्य जन–जीवन के कार्य व्यापारों से उपमान छांटने का प्रयास भी उन्होंने किया। उन्होंने केवल रूढ़ उपमानों को नहीं अपनाया, अपितु सामान्य से सामान्य शब्द या वस्तु को उपमान बना देना उसकी खूबी थी। इस दृष्टि से वे अपने युग के प्रगतिशील कवि माने जा सकते हैं। उन्होंने दोनों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग अपनी अभिव्यक्ति की सार्थकता के लिए किया। अर्थालंकार और शब्दालंकार उनकी अभिव्यक्ति की प्रभविष्णुता हैं, मात्र चमत्कार प्रदर्शन नहीं हैं।

(4) कबीर की काव्य भाषा में लोकोक्तियाँ

कबीर की भाषा में लोकोक्तियों का चमत्कार पूर्ण वर्णन हैं। लोकोक्ति एक अलंकार हैं। लोक प्रसिद्ध उक्तियों का काव्य में प्रयोग लोकोक्ति अलंकार कहलाता हैं। कबीर ने लोकोक्तियों का प्रयोग अलंकार के रूप में भी किया हैं। तथा अपनी बात की पुष्टि तथा कथ्य की सार्थकता के लिए भी। चटपटे वाक्यों में कहीं गई बात जहाँ विस्मयकारी होती हैं, वहाँ लेखक की वाक्पटुता, चातुर्य तथ्य गहन अनुभव भी पाठक को सराबोर कर देती हैं और प्रयोक्ता की अभिव्यक्ति भी चुटुल और उत्कर्ष पूर्ण बनती हैं।

कबीर द्वारा प्रयुक्त लोकोक्तियों में कबीर का गहरा अनुभव. उनका लोक सम्पर्क उनकी नैतिक दृष्टि उनकी जागरूकता और उनके कथन की भंगिमा, उनकी वाणी का चमत्कार, उनका ज्ञान प्राचुर्य, अनुभव, गाम्भीर्य, उनका अभिव्यंजना कौशल छलक–छलक पड़ता हैं। कबीर द्वारा प्रयुक्त लोकोक्तियाँ उनके गहनज्ञान की रत्न राशि हैं। ज्यों ही कबीर की बुद्धि और अनुभव इन्हैं प्राप्त होता हैं तो कबीर की भाषा में सिमटकर ये लोकोक्तियाँ 'गागर मे सागर' भरने का परिचय अनायास ही देने लगती हैं।

लोकोक्ति वस्तुतः लोक की सम्पति होती हैं। जब कोई अनुभव सार्वजनिक बनकर सबकी बुद्धि और मन को प्रभावित करने की साम्थर्य प्राप्त कर लेता हैं तो वही अनुभव लोकोक्ति का स्वत्व प्राप्त कर लेता हैं। कबीर की काव्य – भाषा आज भी लोगों का कण्ठहार बनी हुई हैं, इसका एक कारण उनका लोकोक्ति प्रयोग भी हैं। यह सत्य हैं कि 'लोकोक्ति तत्वज्ञान के खण्डहरों से चुनकर निकाले गए टुकड़े हैं। ये वे लघुकथन हैं जो निरतंर जनता में व्यवहृत होते रहते हैं, किन्तु कथन के दृष्टिकोण से ये पैनी धार की तरह काटती हैं और लुहार के 'घण' की तरह तीव्र चोट करती हैं। इनकी लघुता अर्थ गुरूता प्रयोक्ता की भाषा में कसावट पैदा करती हैं। कबीर की भाषा का तारूण्य और लावण्य उनके द्वारा प्रयुक्त लोकोक्तियों से ही हैं।

कबीर की काव्य भाषा में प्रयुक्त निम्न लोकोक्तियाँ देखिए –

(क) सूने घर का पाहुणा[42]

(ख) ओसौं प्यास न जाई[43]

(ग) अंदेसडा न अजिसी, संदेसौ कहिया[44]

(घ) पाका कलस कुम्हार का बहुरि न चढ़ाई चाकि[45]

(ड़) माड़े बहुत मंडाण[46]

(च) दिवस चारि का पेषणा[47]

(छ) धूवां केरा धोल्हर[48]

(ज) खंभा एक गंइद दोई[49]

(झ) सूत पलेटी आग[50]

(ण) काजल केरी कोठरी[51]

(ट) बग्ज्यूं मांडै ध्यान[52]

इस प्रकार के अवलोकन के बाद यह निष्कर्ष निकलता हैं कि कबीर ग्रन्थावली का एकाध पृष्ठ ही ऐसा मिलता हैं जिस पर किसी न किसी लोकोक्ति का प्रयोग न हो। कबीर की वाणी जिस कदर जनमानस के ह्रदय में पैठी हुई हैं उस कदर किसी अन्य कवि की वाणी ने घर नहीं किया हैं। इसका एक कारण उनका लोकोक्ति प्रेम भी हैं और दूसरा कारण समय और परिस्थिति की वह गूढ पहचान हैं जो कबीर के पास ही थी। अतः उसने समयानुसार सही लोकोक्ति का चयन करके उसे अपनी वाणी में स्थान देकर जीवन की समस्याओं से निकटतम सम्बन्ध को प्रमाणित किया हैं। लोकोक्ति की प्रकृति के अनुसार अवसरानुकूल उसे अपनी वाणी में ग्रन्थित करना ही कबीर की सबसे बड़ी खूबी हैं। इनके प्रयोग से कहीं–कहीं सरसता नष्ट भी हुई हैं, अस्पष्टता भी आई हैं, किन्तु इस सबके बावजूद भी उनकी वाणी में तीव्रता, प्रहार की क्षमता, कचोट लेने वाली शक्ति, मन को हुल लेने वाली प्रभाव क्षमता भी उनकी अभिव्यंजना में आई हैं।

(5) शब्द भण्डार

कबीर की भाषिक क्षमता एवं शक्ति का परिचय उनके शब्द भण्डार से मिलता हैं। उन्होंने शब्दों का चयन जीवन के विस्तृत क्षेत्र से किया था। यही कारण हैं कि उनके काव्य में तत्कालीन प्रचलित ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, राजस्थानी और भोजपुरी के साथ–साथ पंजाबी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं तथा अरबी–फारसी आदि विदेशी भाषाओं के लोक प्रचलित शब्दों का सहज एवं स्वाभाविक समावेश देखा जा सकता हैं। कबीर की भाषा के सन्दर्भ में यह महत्वपूर्ण नहीं हैं कि वह अवधी हैं 'ब्रजी' उसमें 'खड़ी बोली' का प्राधान्य हैं या 'भोजपुरी' का। उसके सन्दर्भ में महत्वपूर्ण यह हैं कि वह तत्कालीन सांस्कृतिक–सामाजिक मंथन की भाषा हैं। वे शब्दों को सम–सामयिक सांस्कृतिक मंथन के अनुरूप नई अर्थवत्ता प्रदान करके अपने कथन को अखण्ड आत्मविश्वास की गरिमा से मण्डित कर देते हैं। 'कहना न होगा कि कबीर द्वारा प्रयुक्त 'राम, अल्लह, दोजक, सुखमनी, अनहद, खटरम, टंटा आदि अनेक शब्द परम्परागत अर्थ से भिन्न युग–सन्दर्भ एवं कबीर की मानसिकता के अनुरूप अपना नया अर्थ रखते हैं।[53]

कबीर में एक विशेषता और पाई जाती हैं। यह हैं कि उन्होंने जब 'अवधू' सम्बोधन किया हैं तब उन्होंने नाथपथियों की शब्दावली का प्रयोग किया हैं, जब हिन्दू विधि विधानों की बात कही हैं तब संस्कृत के तत्सम–तद्भव शब्दों का प्रयोग किया हैं और मुल्ला मौलवी को फटकारा हैं तब अरबी–फारसी के शब्दों का प्रयोग हैं। उससे जहाँ एक ओर कबीर के कथन में स्वाभाविकता का

समावेश हुआ हैं वहाँ दूसरी ओर उनके असीम शब्द ज्ञान एवं सटीक शब्द–प्रयोग का भी प्रमाण मिल जाता हैं।

वस्तुतः शब्द–निर्माण का सबसे बड़ा कारखाना भारतीय गाँव रहैं हैं, जहाँ विभिन्न वर्गो, व्यवसायों एवं जातियों के लोग एक साथ रहते हैं तथा विभिन्न प्रकार के स्थानीय शब्दों का प्रयोग करते हैं। कबीर का शब्द भण्डार उसी विशाल जन–जीवन से लिया गया हैं। यही कारण हैं कि कबीर ने लोहार, कुम्हार, बढ़ई, जुलाहा, किसान आदि के जीवन और व्यवसाय के जिन शब्दों को लिया हैं उनमें से अधिकांश इतने अप्रचलित और अर्थ गाम्भीर्य सम्पन्न हैं कि उनके पर्याय खड़ी बोली में मिलना मुश्किल हैं। उदाहरणार्थ – ककरम (झगड़ा), खाँखीर (खोपड़ी), कजौड़ी (समूह), कालर (लोनी मिट्टी), खाँगि (पशुओं का रोग), गहैं जुआ (छछून्दर), चिंगवा (नली), चुहाड़ा (भंगी), हीडार (बाल्टी), भभूका (लपट), लोकंदे (वधू के साथ जाने वाली स्त्रियाँ), ढीकुली (कुएँ से पानी खींचने वाला यन्त्र), आदि।

अरबी–फारसी के शब्दों का भी बहुलता के साथ कबीर काव्य में प्रयोग देखा जा सकता हैं–

अरबी– हौंस (हवस), हक (सत्य), मौज (आनन्द), मुहकम (दृढ़), मुरीद (शिष्य), कसद (शक्तिशाली), ज्वाब (उत्तर), जुलुम (अत्याचार), गफिलाई (गाफिल–सावधानी), मुल्ला (मौलवी), खता (दोष), नजर (प्रत्यक्ष), तलब (बुलावा), तमासा (अदभुत कार्य), जवह (वध), तष्टा (तसला), तदवीर (उपाय), नफर (नौकर), निसाफ (न्याय), सदके (न्यौछावर), फकीरा (साधु), मुरसिद (मौलवी), मुहरकाँ (नेता गिरि), हजूर (उपस्थिति), हक्क (सत्य)।

फारसी – हुसियारा (होशियार), सौदागर (व्यापारी), लसकरू (लश्कर), रोजा (व्रत), मिहर (दया), जोरा (अत्याचार), मुर्दा (मृत), मुहर (मुद्रा), मुरादी (अभिलाषी), पोच (निकृष्ट), पैकापैका (थोड़ी–थोड़ी रकम), पैमाल (पैर तले रौंदा हुआ)। पुरजा (टुकड़ा), पियालै (प्याला), पांक पाक (पवित्रों मे पवित्र), करद (कहार), करि गह (करघा), कदूंरी (खाना खाने का कपड़ा), असरारा (हठ पूर्वक), कारकुन (प्रबन्धकर्त्ता), चेजारा (कारीगर), दरगाह (दरबार), दीदार (दर्शन), मुहर (मुद्रा), स्याही (कालापन), हजारी (बहुमूल्य), असमान (आकाश)।

अरबी–फारसी के साथ ही संस्कृत के तत्सम शब्दों व देशज शब्दों का भी प्रयोग कबीर काव्य में उपलब्ध हैं –

संस्कृत – हिदा (ह्रदय), सेंबर (शाल्मली), सुलक्षणी (सुलक्षिणी), विमलाख (विमलाक्ष), मूका (मुस्तिका), द्यौहाड़ी (देवग्रह), उत्तंग (उत्तुंग), उपाधि (सीमाएँ), कलत्र (स्त्री), कीर (तोता), जलनिधि

(सागर), तत्त्वमसी (तत्त्वम् असि), नन्दन (पुत्र), नभ (आकाश), पिपीलिका (चींटी), पावक (अग्नि), आकासाँ (आकाश), आकुल (व्यग्र), आगि (आगमन), आस (आशा), कसमलिन (कष्मल–अपवित्रता), कस (कष–मदिरा), ग्रास (कौर), ग्वाड़ा (गोष्ठ), थाना (स्थान), धन्नि (धन्य), निरूवार (निवारण), पंतग (कीड़े मकोड़े), पषांन (पाषाण), पसर (प्रसार), बरिथाई (बलात्) आदि।

देशज – हींडत (खोजते हुए), हवैला (हो जाता हैं), सैली (चैली, लकड़ी का टुकड़ा), लौ (प्रेम की लगन), लदाऊ (लादने वाला), मुराड़ा (जली हुई), पटम (दिखावा), ठोली (सरलतापूर्वक), ठपका (ठेस, थक्का), छुछाँ (खाली, खोखला), छिछिल (फैल गया) आदि।

प्राकृत (सौं–सुंतो – सम्मान), वोढै (ओडूण–पहनना), पंजाबी (डूँधै–गहरा), एवं राजस्थानी (हंदा–द्वारा–से,लार–साथ–साथ), के शब्द भी कबीर के काव्य में प्रयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त कबीर शब्दों को मनमाने अर्थ में गढ़ने में भी माहिर थे – जिनके अर्थ को लेकर काफी भ्रांतियां भी फैली हैं। ऐसा ही एक शब्द हैं – अनल।

'मन उनमन उस अंड ज्यौं अनल अकासां जोई।'

यहाँ 'अनल' का अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने 'अग्नि' किया हैं। किन्तु 'अग्नि' से यहाँ कोई संगति नहीं बैठती। यहाँ 'अनल' से तात्पर्य एक ऐसी चिड़िया से हैं जो सदा आकाश में उड़ा करती हैं और वहीं अण्डे देती हैं। उसका अण्डा पृथ्वी पर गिरने से पहले फटकर फूट जाता हैं और बच्चा अण्डे से निकलकर उड़ता हुआ अपने माँ बाप से जा मिलता हैं।[54]

इसी प्रकार एक अन्य प्रयोग हैं – 'प्रगटे पवन पानी औ छाया'

यहाँ 'छाया' शब्द का अर्थ भ्रामक हैं। 'छाया' का अर्थ प्रायः किया जाता हैं – प्रतिबिम्ब था अन्धकार। किन्तु वस्तुतः यह शब्द संस्कृत का हैं जिसका अर्थ होता हैं– तेज।[55]

इसने अतिरिक्त कबीर शब्द के अर्थ में फेर–बदल करके प्रयुक्त करने की कला में भी माहिर थे। उनके द्वारा प्रयुक्त एक ही शब्द सन्दर्भ – विशेष में भिन्न–भिन्न अर्थ को ध्वनित करते हैं–यथा–

(क) गुन – (1) रहस्य (2) रस्सी (3) परिणाम (4) पदार्थ (5) लाभ (6) परमतत्व (7) प्रभाव (8) कीर्तन भजन (9) त्रिगुणात्मक बन्धन।

(ख) गुरू – (1) भेद या रहस्य (2) मस्तुल (3) सदगुरू (4) महान् पुरूष।

(ग) बारा – (1) जला दिया (2) बालक (3) बारम्बार (4) विलम्ब।

(घ) सबद – (1) दुर्वचन (2) दीक्षा (3) आकाश का गुण (4) उपदेश (5) अनाहद नाद (6) आप्त वचन।

(ड़) पल्लौ – (1) विस्तार (2) पत्ता (3) अगुंली।

कबीर ने कुछ ऐसे भी शब्दों का प्रयोग किया हैं जो संस्कृत और अरबी–फारसी दोनों में मिलते हैं, उदाहरणार्थ –

करम – अरबी, दया – संस्कृत में कर्म

कुल – अरबी, समस्त–संस्कृत में कुटुम्ब परिवार

खसम – फारसी, स्वामी – संस्कृत में ख+सम आकाश के समान या निर्गुण ब्रह्य।

कबीर की इन्हीं शाब्दिक प्रयोग की क्षमता को लक्ष्य करके आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा हैं – 'भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेक्टर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा हैं, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया हैं। बन गया हैं तो सीधे–सीधे नही ंतो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती हैं। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं कि हम लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नहीं कर सके।[56]

कबीर के शब्द भण्डार की क्षमता के सबसे बड़े प्रमाण हैं उनके द्वारा प्रयुक्त प्रतीकात्मक एवं पारिभाषिक शब्द। ये शब्द विभिन्न साधना सम्प्रदायों में भिन्न–भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। कबीर काव्य मे आकर ये पारिभाषिक शब्द और भी नवीन अर्थ की व्यंजना करते हैं। कहीं–कहीं कबीर ने इन शब्दों को सर्वदा नवीन अर्थ में प्रयुक्त किया हैं– ये शब्द हैं – शून्य, निरंजन, सबद, अनहद, सुरति–निरति, सहज, उन्मनि, अजपाजप आदि।

यही स्थिति प्रतीकात्मक शब्दों की हैं। एक ही शब्द अनेक प्रतीकों के लिए प्रयुक्त हुआ हैं – जैसे अलख, माया के लिए भी आया हैं और ब्रह्म के लिए भी। 'कंवल' शब्द पाँच प्रतीकों के लिए प्रयुक्त हुआ हैं – (1) प्राण शक्ति का चक्र (2) हृदस्थ्य आत्मा (3) प्रभु (4) सहस्रार चक्र (5) हृदय। तरवर छः प्रतीकों के लिए आया हैं – (1) शरीर, (2) ब्रह्म (3) सुषुम्ना नाड़ी (4) प्रकृति या माया (5) सहजावस्था (6) संसार। 'जल' सात का प्रतीक हैं – (1) मानसरोवर (2) ब्रह्म (3) शुद्ध हृदय (4) अमृत (5) विषयासक्त मानस (6) आंनद सागर(7) प्राण।

कबीर काव्य में संख्यावाची शब्दों का भी बहुतायत में प्रयोग मिलता हैं। इस प्रकार के प्रयोग में उन्होंने संकेतात्मक पद्धति का सहारा लिया हैं। उदाहरणार्थ–खूँटै दोऊ, दो, खूँटा–ज्ञान और भक्ति, तिरगुन–त्रिगुण–सत्व, रजस्–तमस्।

चारि फल या चारि पदारथ – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। पाँच पनिहारी, पंच पियादे– प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान या पाँचो पवना। षट्चक्र आदि। शब्दों का यह असीम भण्डार कबीर के महान जीवनानुभव और सहजभाव का परिचायक हैं।

(6) रस परिपाक

कबीर के काव्य में रसात्मकता भी विद्यमान हैं। यदि इस प्रयोग की दृष्टि से उनके काव्य का मूल्यांकन करें तो उनकी साखियों, पदों और रमैनियों में श्रृंगार, शान्त भक्ति और वीर रस को खोजा जा सकता हैं। श्रृगांर के अन्तर्गत संयोग और वियोग दोनों को महत्व प्राप्त हुआ हैं। शांत रस पर्याप्त स्थलों पर देखने को मिल जाता हैं और भक्ति रस तो कबीर के काव्य में आद्यन्त व्याप्त हैं। जहाँ तक वीर रस का प्रश्न हैं, कबीर ने कहीं भी युद्धवीर का वर्णन नहीं किया हैं तथापि साधना के क्षेत्र में वीरता–प्रदर्शन के अनेक उदाहरण उनकी वाणियों में विद्यमान हैं। 'सूरातन कौ अंग' शीर्षक के अन्तर्गत कबीर की साखियां साधक की वीरता, उद्देश्य प्राप्ति की ललक और उत्साह भावना से परिपूर्ण हैं। श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्ष कबीर के काव्य में देखे जा सकते हैं।

रूप गोस्वामी ने 'भक्तिरसामृत सिन्धु में भक्ति रस को ही मूल रस माना हैं। भक्ति रस में भी 'मधुरा रति सर्वश्रेष्ठ हैं। इसीलिए वस्तुतः 'मधुर रस' ही मूल रस हैं। गौड़ीय आचार्या के अनुसार भक्ति रस के अन्तर्गत कृष्ण रति ही स्थायी भाव हैं। देव विषयक रति तो भाव मात्र हैं, किन्तु कृष्ण रति भगवाद् विषयारति हैं। क्योंकि 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् (भागवत)। इसलिए यह रस कोटि में आता हैं। कृष्ण विषया रति दो प्रकार की होती हैं – मुख्या और गौणी। मुख्या रति से 'मुख्य भक्ति रस' की निष्पति होती हैं, गौणी–रति से 'गौणी भक्ति रस की निष्पति होती हैं। मुख्या रति 5 प्रकार की होती हैं –

(1) शुद्धा रति (शांति रति) – इससे शान्त रस निष्पन्न होता हैं।

(2) प्रीति रति (दास्य) – इससे प्रीति रस निष्पन्न होता हैं।

(3) सख्य रति – इससे प्रेयान् रस निष्पन्न होता हैं।

(4) वात्सल्य रति – इससे वात्सल्य रस निष्पन्न होता हैं।

(5) प्रियता या मधुरा रति – इससे मधुर इस निष्पन्न होता हैं।

गौणी रति 7 प्रकार की मानी गई हैं – हास रति, विस्मय रति, उत्साह रति, शोक रति, क्रोधरति, भयरति और जुगुप्सा रति। इनमें क्रमशः हास्य–भक्तिरस, अद्‌भुत–भक्ति–रस, वीर भक्ति–रस, करूण भक्ति–रस, रौद्र–भक्ति–रस, भयानक–भक्ति–रस, वीभत्स–भक्ति–रस निष्पन्न होता हैं। इस प्रकार मुख्य और गौण भेदों को मिलाकर भक्ति–रस के 12 प्रकार हो जाते हैं और काव्य शास्त्रीय सभी रसों का समावेश भक्ति रस में हो जाता हैं।

कबीर में मुख्या रति के पाँचो प्रकार मिल जाते हैं किंतु कठिनाई यह हैं कि गौड़ीय भक्ति शास्त्र में कृष्ण के सगुण रूप को आलम्बन मानकर इसके भेदों और उनसे निष्पन्न रसों की चर्चा की गई हैं। कबीर ने आलम्बन रूप में जिस आराध्य को स्वीकार किया हैं, उसका स्वरूप अनिर्दिष्ट एवं अनिर्वचनीय हैं। जहाँ तक उसके नाम का प्रश्न हैं, कबीर ने उन सभी नामों का प्रयोग किया हैं जो मध्यकाल में ईश्वरवा भी थे। 'हरि', 'राम', 'साहब', 'गोकुल', 'गोविन्द', 'नरहरि', 'माधव', 'मधुसूदन', 'बनवारी', 'निंरजन', 'पूरण परमानन्द' आदि। यह अवश्य हैं कि उन्होंने 'राम' नाम का प्रयोग सर्वाधिक किया हैं। इसमें प्रकट हैं कि किसी एक नाम के प्रति कबीर का आग्रह नहीं हैं, नाम कोई हो, तात्पर्य तो परमात्मा तत्व से हैं। यह तत्व सर्वव्यापी होते हुए भी सर्व–निरपेक्ष हैं। इसे 'एक' भी कह सकते हैं, 'सम' भी कह सकते हैं, 'परात्पर' भी कह सकते हैं, निर्गुण–सगुण में परे भी कह सकते हैं और पूर्ण भी कहते हैं। जो सत्ता अनुभूति रूप हैं, उसका अखण्ड आस्था के बल पर ही भावन किया जा सकता हैं, वह निष्ठा और प्रेम की इकाई ही हैं। वह चित्त की सर्वोतम स्थिति ही हैं। वह आदर्श की चरम परिणति हैं।

आचार्य शुक्ल ने मनोवैज्ञानिक स्तर पर रस की व्याख्या की हैं। कबीर के काव्य में इस की व्याख्या के लिए उसके आध्यात्मिक स्तर को स्वीकार करना होगा। इस स्तर पर आलम्बऩ के रूपात्मक अस्तित्व का प्रश्न नहीं उठता। गौड़ीय वैष्णव–परम्परा में भी इसकी ओर संकेत किया गया हैं। यहाँ उद्दीपन, अनुभाव आदि दो प्रकार के माने गये हैं – साधारण और साधारण। असाधारण उद्दीपन और असाधारण अनुभाव भगवान के अरूपात्मक अस्तित्व के प्रति शुद्ध राग की अवस्था में भी फलित हो सकते हैं। साधारण उद्देपन और साधारण अनुभाव उनके चतुर्भुज साकार रूप के प्रति रागनिष्ठा की अभिव्यक्ति में कलिट हो सकते हैं उदाहरण के लिए एकान्त सेवन, ज्ञानी–भक्त सम्पर्क असाधारण उद्दीपन हैं। इसी प्रकार अवधूत की सी चेष्टा, ज्ञान–मुद्रा का प्रदर्शन,

मौनावलम्बन, निरपेक्षता आदि असाधारण अनुभाव हैं। संचारी भावों को लेकर असाधारण और साधारण का भेद नहीं किया गया हैं। इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के सगुण रूप को आलम्बन मानते हुए भी उनके निर्गुण निराकार स्वरूप का निषेध नहीं किया गया हैं। विग्रह और विग्रही में भेद नहीं किया गया हैं।

कबीर में भक्ति रस के पाँचो रूप मिल जाते हैं। शुद्धारति (शांतरस), प्रीतिरति (दास्या), सख्यरति (प्रेयान्रस), वात्सल्यरति (वात्सल्यरस) और मधुरारति (मधुररस) सभी की स्थितियाँ कबीर वाणी में लक्षित की जा सकती हैं।

शांतिरति दो प्रकार की मानी गई हैं – शमा और सान्द्रा। शमावस्था में मन निर्विकार होता हैं। समचित्तता प्राप्त हो जाता हैं। सान्द्रा–रति में संसार से विरक्ति और परमात्मा से अनुरक्ति की व्यंजना होती हैं। कबीर में दोनों स्थितियाँ मिल जाती हैं। वे मन को निर्विकार बनाकर समचित्तता प्राप्त करने की बात भी कहते हैं और संसार के प्रति विरक्ति और ईश्वर के प्रति अनुरक्ति भी प्रकट करते हैं–

वासुरि गमि न रैंणि गम, ना सुपनै तर गम।
कबीर जहाँ विलंविया जहाँ छांहड़ी न घंम।।
कबीर दरसन साध का साई आवै याद।
लेखे में सोई घड़ी बाकी के दिन बाद।। – संत बानी संग्रह[57]

प्रीति रति दास्य भाव की रति हैं। कबीर के काव्य में इसकी व्यंजना कई स्थलो पर हुई हैं –

कबीर चेरा संत का दासनि का परदास।
कबीर ऐसे हवै रह्या ज्यूँ पाऊँ तलि घास।।
कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाऊँ।
गले राम की जेवड़ी जित खैचे तित जाऊँ।।[58]

संख्य–रति की व्यंजना भी कबीर की बानियों में हुई हैं –

देखो कर्म कबीर का कछु पूरब जनम का लेब।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेष।।
पाणी ही तै पालता 'धूवाँ' ही तैं क्षीण।
पवना बेगि उतावला सो दोसत कबीरै कीन।।[59]

इसी प्रकार वत्सल – रति का निम्नलिखित उदाहरण देखा जा सकता हैं –

हरि जननी मैं बालिक तेरा,
काहैं न औगुण बकसुहु मेरा।
सुत अपराध्य करै दिन केते,
जननी कै चित्त रहैं न तेते।।[60]

कबीर का काव्य प्रयत्न साध्य नहीं हैं, तथापि उसमें रस गत रमणीयता एवं भाव सान्दर्य का अनायास विधान हुआ हैं। संयोग एवं वियोग श्रृंगार के सुन्दर चित्र कबीर के काव्य में वहाँ उपलब्ध होते हैं जहाँ आत्मा का परमात्मा के प्रति विरह एवं मिलन की अनुभूति अभिव्यकत हुई हैं।

(1) श्रृंगार रस – कबीर के काव्य का श्रृंगार भौतिक मांसलतापूर्ण श्रृंगार से परे आत्मा और परमात्मा के संयोग–वियोग, मिलन–बिछोह, आह्लाद और विषाद वाला श्रृंगार हैं। उसका प्रेम आत्मा–परमात्मा का प्रेम हैं न किसी सामान्य नायक और नायिका का कबीर के श्रृंगार का आलम्बन निराकार और निर्गुण ब्रह्म हैं और आश्रय हैं कवि की आत्मा। इस भक्तिपूर्ण श्रृंगार के संयोग और विप्रलम्भ दोनों पक्ष कबीर पदावली में देखे जा सकते हैं। कबीर ने संत होने के कारण आत्मा और परमात्मा के संयोग प्रसगों को बड़े कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया हैं। उदाहरणार्थ ये पक्तियाँ देखिए –

दुलहिनी गावहु मगंलाचार।
हम घरि आए हो राजा राम भरतार।।
तन रति करि मैं मन रति करि हुँ पंचतत्त बराती।
रामदेव मोरे पाहुने आये, मैं जोवन मैमाती।।
सरीर सरोवर बेति करि हूँ, ब्रह्मावेद उचार।
रामदेव संग भांवरि लेहूँ, धनि–धनि भाग हमार।।
सुर तैतीसूं कौतिग आए, मुनियर सहस अठयासी।
कहैं कबीर हम ब्याही चले हैं, पुरिष एक अविनासी।।[61]

संयोग श्रृंगार की अपेक्षा कबीर का विप्रलम्भ श्रृंगार अत्यन्त मार्णिक बन पड़ा हैं। इसके उनके उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं, अतः यहाँ पिष्ट प्रेषण अनावश्यक हैं। इतना निश्चित हैं कि कबीर ने विरह वर्णन में प्रेम के शुद्ध–सात्विक रूप की पराकाष्ठा का ही प्रतिपादन किया हैं।

उनकी वे साखियां जो 'विरह को अंग' शीर्षक से संकलित की गई हैं, वियोग श्रृंगार की अभिव्यक्ति करती हैं। यथा –

यह तन जालों मसि करौं ज्यूं धुवां जाइ सरग्गि।

मति वै राम दया करै बरसि बुझावै अग्नि।।[62]

यदि प्रिय उसे एक बार मिल जाए तो वह उन्हैं नेत्रों की कोठरी में पुतली का पलंग बिछाकर और पलकों की चिक डालकर इस तरह कैद कर लेगी कि प्रियतम उस पर रीझकर कहीं और नहीं जाएगा –

नैननि की करि कोठरी पुतली पलंग बिछाय।

पलको की चिक डारि कैं प्रिय कौं लिया रिझाय।।[63]

विरहिणी रात–दिन विरह में तप रही हैं। अब विरह की यह जलन असह्य हो गई हैं, अतः या तो प्रिय उसे अपने दर्शन देकर उसकी आकांक्षा पूरी करे या फिर उसे मृत्यु ही दे दे –

कै विरहिनी कूं मीचु दै के आपा दिखलाय।

रात दिना का दाझणां मोपै सह्या न जाय।।[64]

(2) शांत रस – निर्वेद या राम नामक स्थायी भाव के परिपाक की अवस्था में पहुँचने पर शांत रस की निष्पति होती हैं। कबीर की 'सुमिरण कौ अंग', 'चितावणी कौ अंग', 'उपदेश कौ अंग' की साखियों के अतिरिक्त हरिस्मरण सम्बन्धी पदों में शान्त रस का परिपाक हुआ हैं। लौकिक सुख, शरीर की नश्वरता, संत समागम आदि उद्दीपक तथा सर्वभूत–दया, परमानन्द की अवस्था, तल्लीनता आदि अनुभाव और मति, चिन्ता, स्मृति एंव घृति आदि संचारी भावों का उपयोग इस रस की निष्पत्ति के साथ किया गया हैं।

यहु ऐसा संसार हैं जैसे सेंबल फूल।

दिन दस के व्यौहार कौं झूठे रंगि न भूल।।[65]

जीवन और जगत की क्षण भंगुरता को देखकर कबीर का मन उदास हो उठता हैं। यहाँ भी शान्त रस की व्यंजना हुई हैं –

हाड़ जरै ज्यौं लाकड़ी केस जरै ज्यौं घास।

सब जग जलता देखकर भया कबीर उदास।।[66]

कबीर की उलटबासियों से जो आश्चर्य भाव अभिव्यक्त होता हैं उससे अद्‌भुत रस की सृष्टि हुई हैं यथा –

समन्दर लागी आग, नदियां जलि कोयला भई।
देखि कबीरा जाग, मंछी रूखा चढ़ि गई।।[67]

(3) भक्ति रस – यद्यपि भक्ति रस रस राज श्रृंगार के अन्तर्गत ही माना गया हैं तथापि कतिपय साहित्य मनीषियों ने इसकी गणना नवरसेतर रसों में की हैं। वैष्णव धर्म के आचार्यो ने भक्ति रस को ही प्रधान रस माना हैं और अन्य को गौण। हरि–स्मरण सम्बन्धी उन साखी और पदों में भक्ति रस देखा जा सकता हैं जिसमें आलम्बन हैं निर्गुण राम, गोपाल, रहीम और आश्रय हैं भक्त कवि कबीर। ऐसा ही एक उदाहरण देखिए जिसमें भक्त कवि माया के भय से भयभीत होकर अपने इष्टदेव गोपाल से शरण में ले लेने की प्रार्थना कर रहा हैं –

बहु विधि चित्र बनाय कै, हरि रच्यौ क्रीड़ा रास।
जेहि न इच्छा झुलिबे की, ऐसी बुधि कोई पास।।
झुलत–झुलत बहु कलप बीते, मन न छोड़े आस।
रचि हिडोला अहो–निसि हो, चारि जुग चौमास।।
कबहुँ ऊँचे से नीचे कबहूँ, सरग भूमि ले जाय।
अति भ्रमत हिंडोलब हो, नेकु नहिं ठहराय।
डरत हौं यह झूलबे को, राखु जादवराय।
कहैं कबीर गोपाल बिनती, सरन हरि तुअ पास।।[68]

(7) प्रतीक विधान

प्रायः साधारण मनुष्य अपने भावों की व्यंजना अपने जाने – पहचाने शब्दों द्वारा ही किया करता हैं, किन्तु कभी–कभी कथन की भंगिमा के कारण उसके जाने–पहचाने शब्द अपने रूढ़ अर्थ को छोड़कर कोई नया अर्थ ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु समग्र समाज इन पुराने शब्दों का यह नया अर्थ समझने में असमर्थ होता हैं। यह कथन इस प्रकार से होता हैं कि उन शब्दों की 'प्रत्यक्ष गति बाधित' हो जाती हैं। अर्थात (अप्रत्यक्ष गति उनके प्रयोग मे आ जाती हैं। इस प्रकार ये शब्द विलक्षण हो जाते हैं। कभी–कभी लाक्षणिकता के कारण भी प्रतीक बनते हैं।

किन्तु कबीर की भाषा में हर स्थान पर लाक्षणिकता से प्रतीक बने हैं, ऐसा प्रतीत नहीं होता हैं। कबीर की अभिव्यंजना में औपनिषदिक प्रतीक, पौराणिक प्रतीक, सिद्धों नाथों के प्रतीक,

विद्यापति के प्रतीक और खुसरो के प्रतीकों में आध्यात्मिक एवं साधनात्मक अनुभवों की एक करारी चोट हैं, जो अन्य कवियों के प्रतीकों मे मात्र लोक स्तरीय चमत्कार तक सिमटकर रह जाती हैं।

हाँ यह कहना काफी सच हैं कि विद्यापति के प्रतीक कूट काव्य के विकास में और खुसरो के प्रतीक पहैंलियों के लिए हैं, किन्तु कबीर अपने प्रतीकों से 'रहस्यवादी' शैली की निर्मिति करते हैं जो दोनों कवियों से भिन्न हैं। सिद्धों नाथों के प्रतीकों से उलटबाँसी शैली को आगे बढ़ाते हैं। इसके साथ ही वे दैनिक जीवन के अनुभवों को भी प्रतीको के माध्यम से व्यक्त करने में सशक्त हैं। निम्न उदाहरण देखिए –

जो ऊग्या सौ,आंचवै फूल्या सो कुमिलाई।

जो चिणियाँ सौढ़हि पड़ै, जो आया सौ जाई।।[69]

यहाँ जन्म–मरण के अनिवार्य सम्बन्ध को लाक्षणिक ढंग से प्रस्तुत किया गया हैं इस क्रम में –

'माली आवत देखि कै कलियाँ करैं पुकार।
फूलि फूलि चुनि लई, काल्ह हमारी बार।।[70]

यहाँ माली और कलियों के माध्यम से काम–लीला का निरूपण किया गया हैं। प्रायः प्रतीकों के बारे में यह कहा जाता हैं कि 'प्रतीकों से केवल वे ही बातें अभिव्यक्त हो सकती हैं जिनकी अभिव्यक्ति व्यवहार की भाषा में सम्भव नहीं हैं।[71]

दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ''आत्मा एवं परमात्मा के अतिरिक्त बहुत से ऐसे अन्य साधना–सम्बन्धी विषय भी हैं जिसका समुचित वर्णन हमारी भाषा द्वारा नहीं किया जा सकता और जिन्हैं समझते समय, हमें कवियों द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले साहित्यिक अलंकारों से ही पूरी सहायता मिल पाती हैं।[72]

अलंकारों की शक्ति लौकिक होती हैं, अलौकिक नहीं, परन्तु जहाँ किसी वस्तु के अगोचर होने के कारण हमारी भाषा उसका साधारण चित्रण तक करने में जिससे अलौलिक अनुभूति सरलता से हो जाती हैं। प्रतीकार्य अपने स्रष्टा के आशय का अनुवर्तन करता हैं।

प्रतीकों की सहायता ऐसे अवसरों पर ही ली जाती हैं जब हमारी भाषा पंगु और अशक्त–सी बन जाती हैं तब उनकी यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए अपने जीवन के विभिन्न अनुभवों में उनके साम्य की खोज करने लगते हैं और जिस किसी को उपयुक्त पाते हैं उसी का प्रयोग करके अपनी भाव धारा को प्रभावित कर देते हैं।[73] सादृश्य मूलकता के कारण कुछ विद्वान इन्हैं उपमानों

के अन्तर्गत संनिविष्ट करते हैं, किन्तु यह उचित नहीं हैं। प्रतीकों की जाति, गुणावली उपमानों से भिन्न और पृथक हैं। अलौलिक व्यक्तिगत अनुभवों को व्यक्त करने की क्षमता उपमानों में नहीं प्रतीकों में हैं।

यहाँ हम कबीर द्वारा प्रयुक्त कुछ शब्दों का संकेत देकर अपनी बात को कहना चाहूँगा क्योंकि प्रतीक में प्रयुक्त शब्द अपने प्रचलित अर्थ का त्याग करके नए अर्थ का घोतन करता हैं। शब्द का प्रचलित अर्थ बाधित हो जाता हैं और शब्द नए अर्थ की सृष्टि कर लेता हैं। जबकि लौकिक शब्दावली अपने प्रचलित अर्थ उसे उससे आगे कुछ नही कहने देता, किन्तु प्रयोग की भंगिमा के कारण लौकिक शब्द का प्रचलित अर्थ बाधित हो जाता हैं और वही शब्द कुछ और कहने लगता हैं जो प्रयोगकर्त्ता का अभिष्ट अर्थ होता हैं। कबीर ने निम्न शब्दों को प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया हैं –

शब्द	–	नया अर्थ (प्रतीकार्थ)
अजपा	–	सहज रूप से परमात्मा का स्मरण (जिसमें ओष्ठ जिव्हा गति न करे और कोई ध्वनि उत्पन्न न हो)
आकाश	–	अन्तकरण, आत्मा की ऊंची अवस्था
उनमन	–	ऊर्ध्वस्थित मन। उल्टी गंगा – संसार मुखी,राग मुखी गंगा का ब्रह्मामुखी होना या ब्रह्माण्ड में चढ़ाई साँस। इड़ा
कुँआ	–	अन्तः करण (औंधा कुआं)
कुंई	–	हृदय कमल
खसम	–	परमात्मा
खूँटा	–	स्धैर्य (स्थिर मन)
गगन	–	दशम द्वार
गडरी	–	ज्ञान
गिलौरा	–	आत्मानुभूति
चरखा	–	चित्र (मन)
चींटी	–	मनसा (इच्छा)
चेला	–	उज्जवल चित्त (विशुद्ध मन)

चोर	–	काल
जोगी	–	जीव, जल–राग ब्रह्माण्ड
निरति	–	लयावस्था (आसम्प्रज्ञात समाधि)
पनिहारी	–	कुंडलिनी शक्ति
पिंगला	–	यमुना
पारधी	–	काल
बलींडा	–	उच्च ज्ञान दशा
बहूरिया	–	बुद्धि, जीवात्मा
बांझ	–	ज्ञानहीन
बांस का पूत	–	आत्मज्ञान
बिलाई	–	दुर्गति
मकड़ी	–	माया
मिनकी	–	दुर्मति
मुरणा	–	ज्ञानीमत (प्रबुद्ध चित्त)
सखी	–	सुरति (पंचसखी – इन्द्रियाँ)
सापणि	–	माया
स्वान	–	संशय
हंस	–	शुद्ध जीव (मुक्तात्मा)
हीरा	–	परमात्मा
हार	–	संसार
रोगिया	–	ग्रहग्रस्त संसारी योगी
राश	–	अब्रह्म विचार, मन
ओंधा घड़ा	–	साहब की ओर पीठ, बहिंरग वृत्ति, जीवात्मा
सूधा घड़ा	–	साहब की ओर मुख, अतंरंग वृत्ति
गुफा	–	सुरति, गगन गुफा
पारधी	–	पार्थिव परम पुरूष

धरती	–	जड़ माया, पिण्डाण्ड
आकाश	–	ब्रह्म
नव ग्रह	–	वैशेषिक के नौ पदार्थ, नवनदार
अमृत	–	साहब के प्रति प्रेम
नदी	–	जगत, आत्माकार वृति
राग सुधारस	–	राग प्रेम, आनन्दामृत
नीर	–	राग
प्याला	–	स्थूल, सूक्ष्मादि पंच शरीर, अन्यान्य साधना
राशि	–	जीवात्मा, इड़ा
समुन्द्र	–	संसार, संताप
सूर्य	–	निरंजनादि का ज्ञान पिंगला

इस प्रकार कबीर ने अनेकानेक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया हैं, जो अपने मूल अर्थ को त्यागकर नया अर्थ देने लगे हैं। यहाँ हमारा अभिप्रायः कबीर के ऐसे शब्दों को उनके साहित्य से छांटना नहीं हैं। यह हमारी सीमा और शक्ति के बाहर की वस्तु हैं। हमने तो मात्र उन मुख्य शब्दों को लिया हैं जो आसानी से हमारी पकड़ में आ सके हैं। इसे प्रतीकात्मक बानगी के रूप में प्रस्तुत कर देना ही हमारा अभिष्ट हैं।

कबीर साहित्य में प्रतीकों का प्रयोग कई धाराओं में बंटा हुआ हैं। इसमें सर्वप्रथम उनके साधनापरक प्रतीक हैं। देखिए –

(क) उलट गंग मेरू कूं चली
धरती उलटी अकासहि मिलि।[74]

(ख) मगन मंडल रवि ससि दोई तारा,
उलटी कूंची लागि किवारा।[75]

इन प्रतीकों के माध्यम से कबीर ने अपने साधना सम्बन्धी अनुभव को व्यक्त करने का प्रयास किया हैं। इसी प्रकार कबीर ने अपने आध्यात्मिक अनुभवों की अभिव्यंजना भी प्रतीकों के माध्यम से की हैं। इस सम्बन्ध में निम्न उदाहरण अवलोकनीय हैं –

(क) पाणीं ही तैं हिम भया, हिम हैं गया बिलाई।

जो कछु था सोई भया, अब कछु कह्ना न जाई।।[76]

(ख) हदे छाड़ि बेहदि गया, हुवा निरन्तर बास।

कंवल ज फूल्या फूल बिन, को निरषै निज दास।।[77]

कबीर ने इस असीम सत्ता की अनुभूति की हैं। उसमें कबीर का असीम प्रेम हैं। प्रतीकों के माध्यम से एक मोहक वातावरण उपस्थित करते हुए अपनी भावात्मक और साधनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति रहस्यवादी शैली मे की हैं। उदाहरण देखिए –

इला प्युंगला भाठी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि पर जारी।

ससिहर सूद द्वार दस मूँदै, लागी जोग जुग तारी।

मन मतिवाला पीवै राम रस, दूजा कछु न सुहाई।

उलटि गंग नीर बहि आया, अमृत धार चुवाई।

पंच जने सो संग करि, लीन्हैं, चलत खुमारी लागी।

प्रेम पियाले पीवन लागे, सोवत नागिनी जागी।

सहज सुनि मैं जिनि रस चाख्या, सतगुर थै सुधि पाई।

दास कबीर दहि रसि माता, कबहूँ उछकि न जाई।।[78]

इस प्रेम रस को पीते–पीते कबीर उन्मुक्त हो जाते हैं, खुमार चढ़ जाता हैं। यह रस अवर्णनीय रस हैं। इस रस की अनुभूति को कबीर निम्न पद में अभिव्यक्त करते हैं–

छाकि परमो आतम मतिवारा,

पीवत राम रस करत विचारा।

बहुत मोलि मंहगे गुड़ पावा, लै कसाब रस राम चुनाबा।

तन पाटन में कीन्ह पसारा, मांगि मांगि रस पावै विचारा।

कहैं कबीर फाबी मतिवारी, पीवत राम रस लगी खुमारी।[79]

कबीर का उस आसीम सत्ता से विशेष लगाव हैं। उससे सीधा सम्पर्क हैं। कबीर मे और उस असीम सत्ता में कोई भेद नहीं हैं। उसका और कबीर का ऐक्य हैं। इसी ऐक्य ने कबीर को अटूट और व्यापक प्रेम दिया हैं। कबीर इस ऐक्य और अभेद की अनुभूति की व्यंजना रूपकों के माध्यम से और प्रतीको के माध्यम से करते हैं –

सोंहं हंसा एक समान, काया के गुण आनहिं आन।
भाठी एक सकल संसारा, बहुविधि भांडे घडै कुम्हारा।।
पंच बरन दस, दुहिये गाई, एक दूध देखौ पतियाइ।
कहैं कबीर संसकरि दुरि, त्रिभूवन नाथ रह्या भरपूर।।[80]

कबीर का राम से अटूट सम्बन्ध हैं। वह प्रेम केलि में मस्त हैं। अतः जहाँ भावातिरेक होता हैं, वहाँ अपनी सम्बन्ध भावना को कभी पिता, कभी माता, कभी स्वामी, कभी काजा, कभी पति के रूप में देखते हैं। यह प्रेम कभी तो इतना प्रगाढ़ हो जाता हैं कि कबीर राम के 'मुतिया' तक बन जाते हैं। उन्होंने सामाजिक जीवन के शब्दों को अपनाकर उन्हैं नया रूप दिया। इसीलिए असवार, करक, गढ़ जोगी, डाइन, वाणिज, पहरिया, नगरी, महता, दीवान पंच, किसान, रहटा, सूत धागा, कंचुक, सिला, खारिसा, नायक, बणिजारा, जगाती, पाणतिहारा, छारो, गाँव का ठाकुर, गुंसाई, पिय, सहैंली, नणद, सास, ससुर, पिता, राजा[81] आदि। सामान्य सामाजिक शब्दों तक को प्रतीकात्मक बना दिया।

इसी क्रम में प्राकृतिक प्रतीक भी दर्शनीय हैं। जो सृष्टि में मनुष्य और उसकी रचनाएँ नहीं हैं। उन प्राकृतिक पदार्थो को भी प्रतीकात्मक अर्थ कबीर ने दे डाले हैं। गगन, मधुकर, रवि, ससि, ऊँचा टीवा, मँछ, ससा, बैसंदर, मृग, स्यावढ़, बैल, परबत, डूंगर, नीझर, नदी, मेह, बादल, तारा, तरवर, सुआ, स्पंध, सुनहा, काग, कंवल, कुंज, सांपिनी, गदहा, कामधेनु, बागड़ देस, मालवा[81] आदि शब्दों को भी कबीर ने नया अर्थ प्रतीक बना दिया हैं। इसी क्रम में चोदह चंदा, [82] चोंसठ दीवा[83] पंचकुंटु[84] सातो विरही[85] पंच पहरावा[86] नव दरवाजे[87] सहस इकीस घसै धागा[88] आदि शब्द भी प्रतीकात्मक हैं।

कबीर ने ये सारे प्रतीक बाह्य जगत से संकलित किए हैं। इनमें से कुछ एक शब्दों के प्रतीकात्मक अर्थ हमने ऊपर स्पष्ट करने का प्रयास किया हैं। कबीर की प्रतीकात्मकता को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता हैं कि कबीर ने साधु – संतों की परम्परा में प्रचलित प्रतीकों का आश्रय तो लिया ही हैं, किन्तु उन्हैं कहीं संशोधित किया तो कहीं सामान्य शब्दों को लेकर उनमें नए अर्थ भरकर अपनी मौलिकता का भी परिचय दिया हैं। यौगिक प्रतीक एक ढर्रे पर चले आ रहैं थे, उनमें कोई विशेष हैंर–फेर उन्होंने नहीं किया क्योंकि व नाथ वाणी से बंधे – बंधाये ढांचे के रूप में उन्हैं मिले, किन्तु ईश्वर प्रेम और अध्यात्म के क्षेत्र में अपनी अनुभूति को उन्होंने जिस प्रकार अभिव्यक्ति किया उससे निश्चित रूप से वे एक क्रान्तिकारी पथ–प्रदर्शक हैं। उनका मार्ग संत परम्परा में आज

तक अपनाया जाता हैं। दाम्पत्य जीवन की जो रंगीली झांकी कबीर ने दर्शायी हैं। उसमें जो पवित्रता और सात्विकता हैं, उसके कायल सभी परवर्ती संत रहैं हैं।

(8) गेयता

साहित्य में संगीत की संस्थिति विवाद रहित हैं। काव्य की छन्दोबद्धता को सत्ता से पृथक करना काव्य के साथ अन्याय होगा। वर्तमान युग में हम मुक्त छंद की चर्चा करते हैं, लेकिन लय को स्वीकारते हैं। इस 'लय' तत्व में ही संगीत छिपा हैं। कविता में संगीत तत्व से हमारा अभिप्राय रमणीय अर्थ के साथ स्वर की मधुरता समरता लयात्मकता के संधात से ही हैं। संगीत के तत्व नाद, छंद और लय ये तीन उपजीव्य तत्व हैं। काव्य कला का आधार भाषा हैं और यह 'नाद' का ही विकसित रूप हैं।[89]

'नाद' तत्व को 'शब्दाकारित' करने में शब्दालंकारो का विशेष योगदान हैं। वास्तव में शब्द विधान कौशल 'लय' माधुर्य करने आदि से ही 'गीत' सुदृढ़ स्निग्ध, चमकीले, रेशमी तारों से निर्मित, 'सिल्क' सा उतरता हैं।[90] अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हो सकता हैं, किन्तु छन्द (नादलय) के प्रभाव को अस्वीकार करना सबके लिए कठीन हैं।[91] अतः छन्द काव्य में समरसता, एकता, सौन्दर्य आदि के प्रभाव को प्रादुर्भत करने वाला हैं। छन्द का लय से गहरा सम्बन्ध होता हैं। आचार्य शुक्ल कहते हैं ''छन्द वास्तव में बंधी हुई लय के भिन्न – भिन्न ढाँचों का योग हैं जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता हैं।[92] वास्तव में छन्द सुविन्यस्त लयों का संसार हैं। छंद जहाँ देखा और परखा जा सकता हैं वहाँ लय केवल अनुभूति की वस्तु हैं। लय चेतना सम्पन्न काव्य शरीर हैं, छन्द उसका निर्जीव ढाँचा, छन्द का प्राण लय ही हैं। लय केवल बाह्य वस्तु नहीं हैं, वह हमारी आत्मा की संगीतात्मक अभिव्यक्ति हैं।[93]

इस प्रकार संगीत में तीन तत्व हैं नाद, छंद और लय, इनमें लय का विशेष महत्व होता हैं। लय ही वह तत्व हैं, जिसमें कविता कविता हैं,काव्य काव्य हैं। लय राग तत्व हैं। कबीर साहित्य को परखने पर यह तथ्य सामने आता हैं कि उन्होंने काव्य शास्त्र का अंधानुकरण न करके पिंगलशास्त्र का भी यथोचित प्रयोग ही किया हैं। ''उन्होंने अधिकांशतः उन्हीं छन्दों का प्रयोग किया हैं जो उन्हैं सरल तथा प्रभावोत्पादक प्रतीत होते थे, जो उन्हैं लोक–परम्परा से प्राप्त हुए थे।''[94] इनके साहित्य में साखी, सबद और रमैणी तथा दोहा और चौपाई की मिश्रित शैली हैं। जिसे कड़वक शैली कहा जाता हैं। जायसी, तुलसी ने भी इस शैली का प्रयोग अपने प्रबन्ध काव्यों (महाकाव्यों) में किया हैं।

कबीर की चेतना सम्प्रेषणोन्मूखी थी, वे अपनी बात को आसानी से लोक तक पहुँचाना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने सारी परम्पराओं की अवमानना करते हुए लय तत्व को बड़ी गहराई के साथ स्वीकार किया। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर के 'सबद' गेय ही नहीं, अनेक रागों पर भी खरे उतरे हैं। गुरू ग्रन्थ साहिब में सकंलित कबीर के अनेक पद रागों (सिरी, गउड़ी, आसा, गूजरी, सोरठि, घनासरी, तिलंग, सूही, विल्यवलुरागु में विभक्त हैं। यद्यपि यह वर्गीकरण कबीर के द्वारा सम्पादित नहीं हुआ हैं, फिर भी संगीतात्मकता के अभाव में वर्गीकरण की यह संभावना नहीं की जा सकती थी।''[95]

कबीर राग और रागनियों के प्रति संचेत न भी रहैं हों, किन्तु यह तथ्य निर्विवाद हैं कि उनके अनेकानेक पद उनके समय में ही उनके शिष्यों द्वारा समय बे समय गाए जाते थे, आश्चर्य नहीं कि कबीर ने भी उपदेश के समय उन्हैं अपने श्रीमुख से गाया हो। उनका रागों में विभक्त होना उनकी गेयता सिद्ध करता हैं। 'गुरूग्रन्थ साहिब' में कबीर मे 226 सबद हैं, जिनमें 17 रागों का प्रयोग किया गया हैं। कबीर ग्रन्थावली में 403 पद या शब्द हैं जिन्हैं 16 रागों में बाँधा गया हैं।''[96]

कबीर बीजक में कबीर के पदों को राग–रागनियों में हैं। इससे यह प्रमाणित होता हैं कि यह विभाजन प्रसिद्ध संगीतकारों द्वारा किया गया हैं। पद, वाणी, सबद तीनों परस्पर पर्याय हैं, इन्हैं गुरूग्रन्थसाहिब में राग–रागनियों में विभक्त करके संगीत ज्ञान को रेखांकित किया गया हैं। कबीर का उद्देश्य समाज को संगीत का ज्ञान देना नहीं था, लेकिन यह भी सत्य हैं कि उनके पद केवल उपदेशात्मकता के लिए ही सहनीय या सराहनीय नहीं हैं अपितु उनमे कला की आनंदमयी खूबियाँ, बारीकियाँ भी हैं और वे कमनीय भी हैं, गेय भी। उनमें संगीत तत्व विद्यमान हैं। इससे एक तरफ उन्होंने सहज सांगीतिक संस्कार का परिचय दिया हैं तो दूसरी तरफ लोक चित्र को सहज–सरल बनाकर अपने कथ्य को अपनाने सहृदय–हृदय में प्रतिष्ठित कर दिया हैं। तथा उन्हैं अपना वशवर्ती भी बना लिया हैं। भजन पद्धति का जैसा लोक प्रसारी उन्मेष कबीर में संलक्षित होता हैं, वैसा अन्यत्र दुर्लभ हैं। वास्तव में कबीर का कला प्रेम भी मानव मंगल मूलक हैं। उनके मुख से निसृत कलित कलामयी निर्झरणी से मानव ताप आज भी शाभित होता हैं। उनके अध्ययन, मनन, चिंतन से आज भी लोक–मानस को शांति, संतोष आनदं की, तृप्ति की अनुभूति होती हैं।

(9) काव्य सौन्दर्य और शैली

विद्यापति की पदावली, तुलसी का रामचरित मानस, प्रसाद की कामायनी से जैसे इनके रचनाकारों का परिचय मिलता हैं, ठीक इसी प्रकार कबीर की साखियों और कबीर के पदों से कबीर का भान होता हैं। इससे एक तथ्य सामने आता हैं कि शैली किसी की अनुकृति नहीं होती। जैसे शैली कला का एक अंग हैं ठीक वैसे ही वह साहित्यकार के व्यक्तित्व का अंग भी हैं। कबीर की शैली सहज अभिव्यंजना से पुष्ट हैं, उसमें बनावट नहीं हैं, न ही कृत्रिमता, किन्तु सौन्दर्यभिरूचि उसमें सम्मिलित हैं।

कबीर ने अपने समय में प्रचलित सभी मुक्तक शैलियों का प्रयोग अपनी भावाभिव्यंजना के लिए किया हैं। उनकी भावाभिव्यक्ति में सौन्दर्य की अगड़ाइयाँ हैं। उनमें वाणी की प्रभविष्णुता विद्यमान हैं। वाणी में प्रभविष्णुता की प्रस्थापना में कलाभिरूचि निहित होती हैं। यह कलाभिरूचि जब किसी विशेष ढ़ंग से अभिव्यक्त होने लगती हैं तब शैली का जन्म होता हैं। कबीर के समय में 'दोहा' शैली पद शैली दोहा चौपाई की कडवक शैली प्रचलित थी। कबीर ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए इन तीनों को अपनाया हैं। कबीर की काव्य शैली पर विचार करते हुए डॉ. शर्मा लिखते हैं – ''काव्य या साहित्य के बह्यपक्ष से सम्बन्धित होते हुए भी शैली को भाव से एकदम अलग करके नहीं देखा जा सकता। कौन सा भाव अभिव्यक्ति की किस पद्धति में निरूपित हुआ हैं। और उस पद्धति विशेष को स्वीकृति देने की पृष्ठभूमि में कौन सा कारण विद्यमान रहा हैं, शैली के सम्बन्ध में इन बातों की विवेचना भी आवश्यक होती हैं। इन बातों को ध्यान में रखते हुए कबीर की अभिव्यंजना शैली को हम अनेक रूपों में देखते हैं।[97]

बहुत बारीकी से देखने पर यह तथ्य सामने आता हैं कि कोई भी रचनाकार अपना समग्र कृतित्व एक प्रकार से ही व्यक्त नहीं करता। भाव के अनुरूप उसके कथ्य का ढंग बदल जाता हैं। यह कथ्य का ढग या 'स्टाइल' उसकी शैली कहलाती हैं। कबीर भी इसका अपवाद नहीं, जीवन के विविध भावों को उन्होंने विविध ढंगो से कहने का प्रयास किया हैं। कबीर ने इन ढंगो को विविध संज्ञाओं से विभूषित किया जा सकता हैं। इस ढंग का विस्तृत विवेचन करते हुए डॉ. शर्मा ने उसे निम्न प्रकार से दर्शाया हैं – ''सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कबीर वाणी में हमें ये शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं – (1) सामान्य निरूपण शैली (2) प्रस्थापन (3) स्वानुभव–प्रकाशन (4) साक्ष्य प्रस्तुतीकरण शैली (5) विरोध–व्यंजन (6) पत्याह्यन (7) अनुताप प्रकाशन (8) शब्दावृति (9) प्रबोधन (10) प्रतिबोधक (11) संबोधन (12) प्रश्नोत्तर (13) प्रश्न (14) संवाद (15) खंडन (16) प्रसंग शैली (17) कथा शैली (18) वर्णन शैली (19) नैतिवादी शैली (20) निषेध (21) निर्णय घोषण (22)

उत्साहाभिव्यक्ति (23) विवशता–प्रकाशन (24) दैन्य एवं विनय (25) उपालम्भ (26) प्रशंसात्मक (27) संस्कृत निष्ठ (28) फारसी निष्ठा (29) प्रतीक शैली (30) रहस्यवाद (31) कूट शैली (32) उलट बांसी (33) पहैंली (34) अलंकार शैली (35) छन्द शैली।[98]

कबीर की 35 शैलियों का वर्णन यहाँ हैं। इनमें प्रत्येक का विस्तृत वर्णन करने से भय उत्पन्न होता हैं कि कही यह' शैली वैज्ञानिक' अध्ययन न बन जाए। इसलिए कबीर की प्रमुख शैलियों में से मुख्य मुख का वर्णन करना ही अपेक्षित जान पड़ता हैं –

(1) कूट शैली

यहाँ 'कूट' का अर्थ 'गूढ़ काव्य' के रूप में लिया गया हैं। यह शैली सिद्धों ने भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपनाई हैं और नाथों ने भी इसका प्रयोग किया हैं इस शैली से श्रोता के मन में कुतूहल पैदा होता हैं और प्रभाव की मात्रा में बढ़ोतरी होती हैं। जहाँ गूढ़ार्थता, क्लिष्टिता, अर्थ की दुर्बलता पैदा करती हैं और काव्य के आवश्यक गुण सुबोधता को दूर हटाती हैं, वहाँ शब्द वैचि़त्र्य उत्पन्न करके श्रोता को अर्थ जानने को बाध्य भी कर देती हैं तथा काव्य के प्रति आकर्षण भी पैदा करती हैं।

अर्थ गोपन के लिए रचनाकार विशिष्ट 'शब्द–छल' अथवा शब्द कौशल का आश्रय लेता हैं। यह शब्द वैचित्र्य कबीर वाणी में गूढ़ार्थ व्यंजना के रूप में प्रस्फुटित होता हैं। कबीर की यह 'कूट शैली' जैसी हैं और न ही सूर जैसी, अपितु इनसे भिन्न हैं। निम्न उदाहरण देजिए –

गज नव गज दस गज इक्कीस पूरी आये कतनाई।
साठ सूत व खंड बहत्तर पाहु लागे अधिकाई।।[99]

यहाँ कबीर ने पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करके अपनी शैली को कूट बना लिया हैं, किन्तु विद्यापति और सूर की तरह इनका उद्देश्य श्रोता को मानसिक व्यायाम करवाना नहीं हैं, अपितु अपनी गूढ़ अनुभूति की अभिव्यक्ति मात्र हैं। शुद्ध कूट शैली का निम्न उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

अब न बसूं इहिं गांव गुंसाइ, तेरे नेवगी सारे सयाने हो राम।
नगर एक हता तहाँ जीवधर महता, वैसे जु पंच किसानां।
नैनूं निकट श्रवनूं रसनूं, इन्द्री कहया न मानै हो राम।
गांइ कु ठाकुर खेत कु नैपै, काइथ खरचै न पारै।
जेरी जेवरी खेति पसारे, सब मिलि मोकों मारै हो राम।

खोटो महतौ निकट बलाही, सिर कसदम का पारै।

धरमराई जब मांग्या, बाकी निकसी भारी।

पाँच किसानों भाजि गए हैं जीवधर बांधों पारी हो राम।

कहैं कबीर सुनहु रे संतों, हरि भजि बाध्यों मेरा।

अब बेर बकसि बंदै कौ, सब खत करौ न बेरा।[100]

कबीर से पूर्ववर्ती जितने भी कूट पदो के रचनाकार हुए, उन सबने दुरूहतता को अपना रखा था, लेकिन कबीर ने 'धरती बरसै, अम्बर भीजै' तथा 'बीज बिन अकुंर पेड़ बिन तरवर' जैसी परम्परा मुक्त प्रतीकों के प्रयोग से कूट शैली का निर्माण किया हैं। इनकी कूट शैली में कोई न कोई शब्द ऐसा रहता हैं कि दुर्बोधना कम हो जाती हैं और अर्थ का रास्ता उपलब्ध हो जाता हैं।

(2) उलटबाँसी शैली

यह शैली कबीर की भाषा में 'उलट वेद' के नाम से जानी जाती हैं। इनमें लौकिक अनुभूतियों की उलटी अनुभूतियाँ, प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होती हैं। उलटबाँसी शब्द को तोड़ने पर 'उलटवाँ' सी अर्थात् विपरीत–सी, उलटी–सी चर्चा के रूप में लिया जाए तो इसका उद्देश्य स्पष्ट हो जाता हैं, यहाँ मन के उलटने की चर्चा होती हैं, कबीर भी ''ताकू केरे सूत ज्यूं उलटि अपूठा आणि।''[101] कहकर लौकिक के स्थान पर मन का अलौकिक या आध्यात्मिक वास ही 'उलटवास' हैं और इस उलटवास को प्रतीकों के माध्यम से कहने वाली शैली उलटबाँसी कही जाती हैं। कबीर की उलटबाँसी देखिए –

जल जाइ, थल उपजी, आई नगर में आप।

एक अचंभा देखिया, बिटिया जायौ बाप।

बावल मेरा ब्याह ब्याह करि, बर उत्तम लै चाहि।

जब लग बर पावै नांहि, तब लग तूं ही ब्याहि।[102]

इस प्रकार के अनेक पद कबीर साहित्य में मिलेंगे, जहाँ पारिवारिक मर्यादा का उल्लघंन होता हैं। कबीर अपने ज्ञान पर गर्व नहीं करते, अपितु अपने गोपन को भी 'उलटबाँसी' के माध्यम से कह डालते हैं। देखिए –

एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई।।

पहले पूत पीछ भई माई, चेला के गुरू लागै पाई।

जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।

बैलहि डारि गूंनि धरि आई, कुता कूं लै गई बिलाई।

तलि करि साखा ऊपरि कारि मूल, बहुत व भांति जड़ लागै कूल।

कहैं कबीर या पद कौं बूझै, ताकूं तीन्यू त्रिभुवन सूझे।[103]

यहाँ गाई, सिंघ, बिलाई, मुर्गा, कुत्ता, बैल जैसे साधारण शब्दों में नए अर्थ भरकर कबीर ने उलटबाँसी के माध्यम से अपने गूढ़ज्ञान की अभिव्यक्ति की हैं। 'अद्‌भुत' स्वरूप या चमत्कार प्रवृति के लिए भी कहीं–कहीं उलटबाँसी का प्रयोग कबीर ने किया हैं। जहाँ साधनात्मकता न हो, आध्यात्मिक अनुभूति न हो, वहाँ उलटबाँसी नहीं होती हैं, 'किंतु जहाँ मूसा हस्ती सों लड़ैं'।[104] जैसे प्रयोग हैं, वहाँ ऐसी उक्तियों में उटलबाँसी होती हैं। उनकी रहस्यमयी उलटबाँसी का उदाहरण देखिए –

हैं कोई जगत गुर ग्यानी, उलटि वेद बूझैं।।

पांणी में आगनि जरै, अंधरे को सूंझै।।

एकनि दादुर खाये पंच भवंगा।।

गाइ नाहर खाइ काटि काटि अंग्वा।

बकरी बिधार खायौ, हरनि खायों चीता।

कागलि गर फांरिया, बटैरै बाज जीता।।

मूसै मंजार खायौ, स्यालि खायो स्वानां।

आदि कौ आदेश करत, कहैं कबीर ग्यानां।।[105]

गहरी अनुभूति को, उद्‌गारों की गहनता को व्यक्त करने के लिए भी कबीर ने उलटबाँसी शैली का प्रयोग किया हैं –

कैसे नगरि करौ फुटवारी। चंचल पुरिष विचषन नारी।

बैल बियाइ गाइ भइ बांझ। बछरा दूहैं तीन्यूं सांझ।।

मकड़ी धरि माषी छछिहारी। मांस पसारि चील्ह रखवारी।।

मूसा खेवट नाव बिलाइया। मीडंक सौवे साँप पहरइया।।

नित उठि स्याल स्पंध सूं झूझै, कहैं कबीर कोई बिरला बूझै।।[106]

जीवन और जगत के गहन पारखी कबीर के बुद्धि और भाव क्षेत्र का गहन अवगाहन किया हैं, किन्तु उलटबाँसियों में बुद्धि और भाव का सामंजस्य हैं। हिन्दी साहित्य को यह कबीर की अपूर्व देन हैं। इन्होंने आने वाले संतो के लिए एक नए मार्ग का सूत्रपात किया।

(3) पहैंली शैली – कबीर ने खुसरो की तरह अपने काव्य में कहीं–कहीं पहैंली शैली का भी प्रयोग किया हैं निम्न उदाहरण देखिए –

'एक सुहागन जगत पियारी। सगले जीव जंत की नारी।'[107]

(4) मुकरी शैली – पहैंली शैली की तरह ही मुकरी भी होती हैं। पहैंली और मुकरी का प्रयोग लोक साहित्य में अधिक होता हैं। मुकरी में मूक प्रश्न निहित रहता हैं और प्रश्न के अन्त में उत्तर निहित रहता हैं। यह उत्तर भ्रामक होता हैं, उदाहरण देखिए –

कुअरा एक पंच पनिहारी, दूरी लाजु मनै पनिहारी।
कहु कबीर एक बुद्धि विचारि, ना ऊ कुअरा ना पनिहारी।[108]

(5) फारसी शैली – अपने श्रोताओं को प्रभावित करने के लिए कबीर ने फारसी के शब्दों की बहुतायत वाली शैली को अपनाया हैं। पद देखिए –

खालिक हरि कहीं पर हाल।
पंजर जलसि करद हुसमन, मुरद करि पैमाल।
भिस्त हुयको दोजगां, दुंदर दराज दिवाल।
पहनांगा परदा ईं तआतस, जहर जंगग जाल।
हम रफत रहबर हुं, रभां मैं खुर्दा सुयां बिसिहार।
हम जिमि असंकान खालिक, गंद मुसिकलकार।
असमान म्यानै लहंग दरिया, वहाँ गुसल करदा बूद।
करि फिकर रह सालब जसम, जहाँ स तहाँ मौजूद।
हंस चु बूदनि बूदं खालिक, गरक हम तुम पेस।
कबीर पनह खुदाई की, रह दीगर दबा केस।।[109]

(6) संस्कृत निष्ठ शैली – संस्कृत के कवियों की स्तोत्र शैली का उदाहरण देखिए –

भजि नारदादि सुकादि बंदित चरन पंकज भामिनी।
भजि भजिसि भूषन पिया मनोहर, देव देव सिरोवंनी।
बुधि नाभि चंदन चरचिता, तन रिहा मंदिर भीतरा।
रांग राजसि नैंण बानि, सूजान सुन्दर सुन्दरा।

बहु पाप परबत छे दनां, मो पाप दुरति निवारणां।

कहैं कबीर गोब्यदं भजि, परमानंद बंदित कारणां।[110]

भाषा के डिक्टेटर कहैं जाने वाले कबीर की फारसी और संस्कृत निष्ठ शैली में शब्द भाषा के व्याकरण के अनुरूप नहीं हैं। इसमें कुछ तो उच्चरण दोष हैं और कुछ शब्दों से पूर्ण परिचय न होना भी इसका कारण हैं क्योंकि उनका ज्ञानश्रुत परम्परा से प्राप्त हैं। इस प्रकार शैली की दृष्टि से कबीर समर्थ साहित्यकार माने जाते हैं। अपने युग में प्रचलित सभी शैलियों का प्रयोग उन्होंने निस्संकोच किया हैं।

निष्कर्ष – कबीर का भाव पक्ष जितना समर्थ हैं कलापक्ष उससे भी अधिक समर्थ हैं। छन्द की दृष्टि से अलंकार की दृष्टि से कबीर अपने युग में तो श्रेष्ठतम थे ही, आज भी उनका साहित्य बेजोड़ हैं। उनके प्रतीक और रूपकों का आज भी कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार हैं। निश्चिय रूप में कलापक्ष की दृष्टि से भी उनका काव्य बेमिसाल हैं।

♦♦♦♦

सन्दर्भ सूची

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी – कबीर – उपसंहार पृ. 221
2. हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपुल, ग्रंथ – 6, लंग्वेज – पृ. 421
3. हिन्दी काव्य धारा, पृ. 6–7
4. कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्वान्त – डॉ. सरनाम सिंह शर्मा – पृ. 700
5. वही, पृ. 704–705
6. वही, पृ. 705
7. वही, पृ. 705
8. वही, पृ. 715
9. उत्तरी भारत की संत परम्परा, कबीर साहित्य की परख – पं. परशुराम चतुर्वेदी – 225
10. कबीर बीजक (हरक संस्करण) – पृ. 109
11. कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्वान्त – डॉ. सरनाम सिंह शर्मा – पृ. 718
12. हिन्दी साहित्य का आदिकाल – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी – 112
13. कबीर साहित्य की परख – परशुराम चतुर्वेदी – पृ. 193
14. कबीर वाड़मय खण्ड – 1, डॉ. जयदेव सिंह : डॉ. वासुदेव सिंह – 122
15. कबीर के काव्य रूप – डॉ. नजीर मुहम्मद, पृ. 103
16. कबीर ग्रंथावली – श्यामसुन्दर दास – पृ. 49.2
17. कबीर बीजक (कबीर ग्रन्थ प्रकाशन समिति, बाराबकी) पृ. 92
18. कबीर ग्रन्थावली – श्यामसुन्दरदास – 16.48
19. कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त – डॉ. सरनाम सिंह – पृ. 598
20. संत कवियों का छन्द प्रयोग, सं. परम्परा – डॉ. शिवनन्दन प्रसाद – 264
21. कबीर ग्रन्थावली – श्यामसुन्दर दास – 244
22. कबीर ग्रन्थावली – श्यामसुन्दर दास – 12.1
23. वही, पृ. 24.39
24. वही, पृ. 22.16
25. वही, पृ. 73.14
26. वही, पृ. 56.2
27. वही, पृ. 161
28. वही, पृ. 23
29. वही, पृ. 21.13
30. वही, पृ. 63.3

31. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दर दास – 27, – 30
32. वही, पृ. 159
33. वही, पृ. 11.3
34. वही, पृ. 11.5
35. वही, पृ. 86.4
36. वही, पृ. 261, 159
37. वही, पृ. 12
38. वही, पृ. 12.1
39. वही, पृ. 40.12
40. वही, पृ. 81.3
41. वही, पृ. 10.39
42. वही, पृ. 6.18
43. वही, पृ. 6.29
44. वही, पृ. 8.9
45. वही, पृ. 16.1
46. वही, पृ. 21.5
47. वही, पृ. 22.19
48. वही, पृ. 23.27
49. वही, पृ. 25.42
50. वही, पृ. 27.60
51. वही, पृ. 49.8
52. वही, पृ. 49.2
53. शब्द और अर्थ : सन्त साहित्य के सन्दर्भ में – डॉ. राजदेव सिंह – 27
54. कबीर काव्य कोश – डॉ. वासुदेव सिंह – पृ. 139
55. अमर कोश, पृ. 424 सूर्य प्रिया कान्ति : प्रतिबिम्ब मनातयः
56. कबीर – हजारी प्रसाद द्विवेदी – 216
57. कबीर ग्रन्थावली – श्यामसुन्दर दास – 120
58. वही, पृ. 22
59. वही, पृ. 73
60. वही, पृ. 165
61. वही, पृ. 174

62. वही, पृ. 56
63. वही, पृ. 78
64. वही, पृ. 94
65. वही, पृ. 37
66. वही, पृ. 152
67. वही, पृ. 48
68. वही, पृ. 112
69. कबीर ग्रन्थावली – श्यामसुन्दर दास – पृ. 73.11
70. वही, पृ. 72
71. हिन्दी संत साहित्य – डॉ. टी.एन. दीक्षित – 191
72. कबीर साहित्य की परख – 140 – 141
73. वही, पृ. 142
74. कबीर ग्रन्थावली, पद 329
75. वही, पद. 171
76. वही पद – 13.17
77. वही, पृ. 12.5
78. वही, पृ. 74
79. वही, पद – 73
80. वही, पद 53
81. वही, पद – 193, 211, 216, 228, 229, 230, 231, 214, 235, 319, 383, 263, 20, 19, 21
82. वही, पद – 67, 152,151, 155, 169,163, 165, 168, 153, 12, 68
83. वही, पृ. 2.16
84. वही पद 217
85. वही, पद 9
86. वही पद 13
87. वही, पद 23
88. वही, पद 42
89. वही, पद 99
90. साहित्य का मर्म – हजारी प्रसाद द्विवेदी – पृ. 11
91. प्रसाद का जीवन दर्शन कला और साहित्य – डॉ. रामेश्वर लाल खण्डेलवाल पृ. 394
92. हिन्दी साहित्य कोश – वीरेन्द्र वर्मा – 202 (भाग एक)

93. काव्य में रहस्यवाद – 'रामचन्द्र शुक्ल' – पृ. 125

94. संत नामदेव का काव्य और संगती तत्व – डॉ. पुष्पा जौहरी – 18

95. हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि – डॉ. गोविन्द त्रिगुणयत – पृ. 875

96. निर्गुण काव्य प्रेरणा और प्रवृति – डॉ. रामसजन पाण्डेय – पृ. 128

97. कबीर चितंन – डॉ. गुरनाम कौर बेदी – पृ. 161

98. कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त – डॉ. सरनाम सिंह वर्मा पृ. 605–606

99. वही, पृ. 606

100. कबीर ग्रन्थावली – श्यामसुन्दरदास – पृ. 281–56

101. वही, पृ. 222

102. वही, पृ. 28.1

103. कबीर व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त – डॉ. सरनाम सिंह शर्मा – पृ. 667

104. कबीर ग्रन्थावली – श्याम सुन्दरदास, पृ. 11

105. वही, पृ. 161

106. वही, पृ. 160

107. वही, पृ. 80

108. वही, पृ. 84

109. वही, पृ. 11

110. वही, पृ. 258

उपसंहार

उपसंहार

मनुष्य एक मूर्त इकाई है जबकि मानवता एक अमूर्त प्रत्यय है। मानवता को शाश्वत धर्म के रूप में ग्रहण किया जा सकता है जबकि धर्म भी एक अमूर्त प्रत्यय है। अपनी विशदता और शुचिता के कारण धर्म एक गतिशील विश्वास भी है। भारत ही नहीं, विश्व–सन्दर्भ के ऐतिहासिक सांस्कृतिक परिपार्श्व का अध्ययन किया जाय तो प्रत्यक्ष होगा कि असंख्य धर्मों में मानवधर्म ही श्रेष्ठ है। यह बात मान लेने में किसी के लिए फर्क नहीं होगा कि दुनिया की श्रेष्ठतम् वस्तु मनुष्य है। सुना जाता है कि मनुष्य होने के लिए देवता और पैगम्बर भी तरसते हैं और कदाचित् मनुष्य के रूप में अवतरित होने का सौभाग्य उन्हें मिल गया तो उनकी महिमा और बढ़ जाती है। मनुष्य न होता तो देव, दानव, ईश्वर, अल्लाह और वाहे–गुरू जैसी गरिमाओं को आकार कहाँ से मिलता ? अतः जाहिर है कि 'मनुष्य' सृष्टि की श्रेष्ठतम अवधारणा का एक पर्याय है। मानवीय गुणों या कि मानवधर्म के सम्यक् विकास से सम्बद्ध होने के कारण ही मनुष्य की कोई पहिचान है।

कबीर मानवता के पर्याय हैं। मानवता की रचना जिन अमूर्त तन्तुओं से होती है उनमें करूणा, त्याग, प्रेम, क्षमा, ममता, सहिष्णुता, सेवा, विश्वास और समर्पण जैसे कारक सहायक बनते हैं। इन शाश्वत मूल्यों का संवर्द्धन जिसने कर लिया है, वह मनुष्य है और इनके आलोक में किये जाने वाले उसके कार्य मानवता–सूचक हैं। मनुष्य की जातीय श्रेष्ठता एक स्वीकृत सच्चाई है। 'नहिं मानुषात् श्रेष्ठतरं किंचित' जैसा प्रमाण एक ओर महाभारत देता है तो 'शुन हे मानुष भाइ। सबार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार ऊपर नाइ' कहकर मानव–सत्य को सबसे ऊपर स्थान देने की चेष्टा वैष्णव सहजिया चण्डीदास द्वारा भी की गई है। 'बड़े भाग मानुस तनु पावा' की बात कहकर मनुष्य जाति के भाग्य की सराहना एक ओर तुलसीदास करते हैं तो मानुस जनम दुर्लभ कहकर मनुष्य जाति के भाग्य की सराहना एक ओर तुलसीदास करते हैं तो 'मानुस जनम दुरलभ अहै होइ न दूजो बार' कहकर मनुष्य–जीवन को सार्थक बनाने की सीख कबीर भी देते हैं। समग्र रूप में, भारतीय साहित्य में मनुष्य जाति और उसके मानवीय सद्धर्म की स्वीकृति सर्वत्र मिलती है।

'स्व' के त्याग और 'पर' की स्वीकृति ही मानवता है। भारतीय–सन्दर्भ में देखा जाय तो इस संस्कृति का आदर्श वाक्य है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्'। वेदयुगीन ऋषि–कामना का चरम् उत्कर्ष इसी में मिलता है। अपने यहाँ का चाहे अद्वैत–दर्शन हो अथवा अन्य शास्त्र–बोध। सभी सर्वत्र ईश्वरीय–व्यप्ति की परिकल्पना करते हैं। प्राणी चाहे जिस जाति या मजहब का हो, सभी का

परमपिता एक है। हमारी धार्मिक संकल्पनाएँ इतनी जीवन्त हैं कि उनमें सर्वत्र मानवता के अर्जन का सन्देश है।

कबीर–साहित्य का अनुशीलन यदि इन दृष्टि से किया जाय तो उभरने वाली प्रमुख और गहरी रेखा मानवतावाद की मिलेगी। कबीर के विचारक तो यहाँ तक मानते हैं कि उन्होंने मनुष्य मात्र में एक ही दिव्य ईश्वरीय ज्योति के र्दशन किये थे और इसी आधार पर मानव–मात्र की एकता का प्रतिपादन किया था। वे सच्चे अर्थों में मानवतावादी या मानवधर्मी कहे जा सकते हैं।

कबीर की मानवीय–संवदेना के निर्माण में उनके समकालीन सन्दर्भ विशेष अर्थ रखते हैं। कबीरयुगीन समाज का ढ़ाँचा बड़ा अस्त–व्यस्त था। उस समय की राजनीतिक उथल–पुथल, सामाजिक विश्रृंखलता और सांस्कृतिक सामाजिकता आदि इतनी जटिल समस्या के आकार ले चुकी थीं कि उन्हें सम्यक् रीति से राह दे पाना न तो आसान था और न ही सम्भव। एक ओर मुसलमान शासक अपनी शक्ति स्थापित कर रहे थे तो दूसरी ओर कबीर साहब धार्मिक और सामाजिक विद्रुपताओं को निर्मूल करने की साधना में तल्लीन थे। इतिहास साक्षी है कि कबीर का समय मुसलमानों का शासनकाल था। दिल्ली की बादशाहत सिकन्दर लोदी के हाथों में थी। सन् 1489 से 1517 ई. तक उसने उत्तर भारत में अनेक युद्ध करके विजय हासिल किया और अपनी शक्ति का दबदबा बनाया। कहा जाता है कि कबीर के समय में सिकन्दर लोदी काशी आया था और मुसलमानों द्वारा परिवाद करने पर उसने हिन्दुओं को दण्डित किया था। दोनों धर्मों को समान बताने पर उसने बोधन नामक ब्राह्मण को प्राणदण्ड तक दे दिया था। अन्तःसाक्ष्य से तो यहाँ तक प्रमाण मिलता है कि सन्त–स्वभाव कबीर को लोदी ने हाथी से कुचलवाया और जंजीर में बाँधकर उन्हें गंगा में फेंकवा दिया था।

कबीरयुगीन सामाजिक परिस्थितियाँ जिस तरह से विघटित होकर टूट रहीं थीं, उनमें एक बड़ी भूमिका पूर्ववर्ती सामाजिक संरचना की देखी जा सकती है। कबीर से पहले भारत में शकों, हूणों, आभीरों, कुषाणों, हिन्दुओं, जैनों, बौद्धों और मुसलमानों के धार्मिक प्रचार जोरों पर फैल चुके थे। शक, हूण, आभीर एवं कुषाण आदि तो शनै–शनैः हिन्दुत्व की सीमा में स्वीकृत हो गये किन्तु जैन, बौद्ध और मुसलमान अपने–अपने धर्म–प्रचार और जातीय आधार को मजबूत करने में तन्मय थे। यहीं पर नाथपन्थी योगी अपनी चमत्कार विधायनी शक्ति का परिचय दे रहे थे।

कहना न होगा कि अनेक तरह की विकृतियाँ सामाजिक संस्कारों को जकड़ चुकि थीं। हिंसा, स्वार्थपरता, शक्ति–परिचय और आपसी विभेद संयुक्त होकर मानवता का गला घोंट रहे थे। वैचारिक धरातल पर तो अहिंसावादी थे, परन्तु देवी–देवताओं की प्रसन्नता और पूजा के बहाने

हिंसा के प्रच्छन्न पक्षधर भी बने हुए थे, अन्वेषकों का ध्यान इस दिशा में गया भी है। एक अन्वेषक–मनीषी की दृष्टि में भूत–प्रेत, जादू–मन्तर और देवी–देवताओं में जैन भी किसी से पीछे नहीं थे। रहा सवाल वाममार्ग का, शायद उसका उतना जोर नहीं हुआ। लेकिन वह बिलकुल नहीं था, यह भी नहीं कहा जा सकता। आखिर चक्रेश्वरी देवी वहाँ भी विराजमान हुईं और हमारे मुनि कवि भी निर्वाणी–कामिनी के आलिंगन का खूब गीत गाने लगे जिससे उस दिशा का सूक्ष्म संकेत मिलता है। कबीरयुगीन सामाजिक संस्कृति पर विचार करते हुए बौद्ध तथा अन्य मतों की विकृति पर आलोचकों का ध्यान गया है। आलोचक मानता है कि बौद्ध–सिद्धों में अनेक प्रकार के अनाचार प्रविष्ट हो गये थे। सरहपा का सहजयान गुह्य–साधना का केन्द्र बन गया था और वहाँ मद्य–मैथुन की पूरी स्वतन्त्रता थी। पंडित सन्ध्या–तर्पण और षट्कर्म में लीन रहते थे और जीवन के सहज मार्ग को भूल गये थे। शैवों में अनेक सम्प्रदाय हो गये और वे योगियों के अभ्युदय के पूर्व ही अपनी गतिमयता खो चुके थे। सूफी सन्त भी यहाँ आकर झाड़–फूँक करने लगते थे। वैष्णवों में भी छापा–तिलक लगाकर जनता को मात्र वेश–वैशिष्ट्य से प्रभावित करने की प्रवृति बढ़ रही थी। तात्पर्य यह कि सभी धार्मिक मतों में व्यावहारिक स्तर पर विकृतियाँ आ गई थीं। इन विकृतियों को दूर करके एक सहज मानवधर्म की प्रतिष्ठा करने की आवश्यकता थी। कबीर के आविर्भाव से इस आवश्यकता की बहूत कुछ पूर्ति हुई।

कबीर का ज्ञान उन्हैं सतसंग से प्राप्त हुआ था। उनके गुरू रामानंद हिन्दू धर्म के आचार्य थे। शेख, तकी इस्लाम के जानकार थे। उक्त महानुभावों के अतिरिक्त कबीर का सतसंग सिद्धौ और नाथसंतों से भी होता था। कबीर साहब ने जैन आचार्यो का भी सत्संग किया था। संत कबीर यायावर थे और पूरे भारत वर्ष का भ्रमण किये थे। उन्होंने 120 वर्ष की लंबी आयु पाई थी। इस कारण उनका ज्ञान, ध्यान और सत्संग प्रदीप रहा। सूफी संतो का भी उन्होंने सत्संग किया। इस प्रकार कबीर निरक्षर होते हुए भी विद्या सम्पन्न थे और उनकी विद्या ऐसी थी, जो स्वयं कबीर और उनके भक्तों को भवसागर से पार होने में सहायिका सिद्ध हुई।

कबीर के समाकालीन प्रचलित विभिन्न धर्मों और मतों में टकराहट की ध्वनि हिन्दु और इस्लाम धर्म में थी। बहुदेववादी हिन्दु और ऐकेश्वरवादी इस्लामयुगीन सामाजिकता को चुनौती दे रहे थे। इनमें संघर्ष न केवल मजहबी थे, अपितु वर्गीय भी थे। ऐतिहासिक साक्ष्य मिलते हैं कि हिन्दु–समाज में सवर्ण और अन्त्यज तथा मुस्लिम समाज में शिया और सुन्नी दो वर्ग हो गये थे। इस प्रकार समाज में स्पृश्य–अस्पृश्य, शिक्षित–अशिक्षित, अमीर–गरीब, ऊँच–नीच आदि की विषमताएँ व्याप्त हो गई थीं। समाज में दासप्रथा,वेश्यावृति,शराबखोरी,जुआ एवं जालसाजी की भरमार थी।

साहित्य–भूमि में कबीर के मानव–संवेदनात्मक दृष्टिकोण का दो रूपों में साक्षात्कार होता है। एक है, उनका सुधारक या कि उपदेष्टारूप तथा दूसरा है ईवरोन्मुख भक्त–रूप। पहिचान के धरातल पर कबीर का मानववादी दृष्टिकोण उनके सुधारक या कि उपदेष्टारूप से पल्लवित हुआ है। कबीर हर तरह के सामाजिक कोढ़ से मनुष्यता की मुक्ति चाहते थे। सभी जानते हैं कि उनके कथन अनुभूत–सत्य हैं, स्थिति–सापेक्ष हैं, साक्षात् के प्रत्यावर्तन हैं। फलतः उनकी वाणी मे शक्ति का आवेग है। उनका क्रान्तधर्मी कवि उपाधिधारी पंडितों और मौलवियों को चुनौती देता है। वह छिपकर नहीं, प्रकट होकर बोलता है– 'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आँखिन की देखी'।

कबीर का सारा चिन्तन मानव–सापेक्ष है। वे मनुष्यता की रचना के लिए अपने स्वरों में लापरवाह नहीं हैं। ठीक से देखा जाय तो सम्पूर्ण मध्युगीन साहित्य–चिन्तन में उनका मानव–चिन्तन एक विशिष्ट कोटि का साबित होता है। उनका पूरा विश्वास है कि मानव का मानव से विवाद उसके अज्ञान का परिचायक है। ईश्वरीय रचना में तो सभी एक हैं, परन्तु आपसी विग्रह मनुष्य की देन है। जाति–पाँति, छूत–अछूत, छोटा–बड़ा, बाह्मण–शुद्र, मन्दिर–मस्जिद जैसे विभाजन मानवीय विकृति के परिणाम हैं। मानव–समाज की सौमनस्य–संरचना में इनकी बाधकता को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। कबीर ने बड़े करीब से अपने युग के विकृत मानव–समाज को देखा था। वे सतत सचेष्ट रहे हैं कि हर सम्प्रदाय, जाति, धर्म–समाज और राजनीति में समन्वय स्थापित हो ताकि उसके माध्यम से समग्र मानवता का सांस्कृतिक विकास सुनिश्चित किया जा सके।

कबीर मानवीय संवेदना के प्रत्येक स्पन्दन से परिचित थे। पंडितों, मुल्लाओं और अछूतों के कर्मकाण्ड और पाखंड उनके लिए 'आँखों देखी' प्रमाण थे। पहले से चले आ रहे पुरोहितवाद, प्रामाण्यवाद, अन्धविश्वास, मूर्तिपूजा और बाह्याचार कबीर–चिन्तन के विरूद्ध पड़े। कबीर का मानना था कि इन बाह्मचारों से सामाजिक जड़ता का विकास होगा न कि मानवतावादी उत्कर्ष। मनुष्य को मनुष्य समझने और उसे संवेद्य बनाने की सार्थक चेष्टा कबीर–साहित्य में सर्वत्र मिलती है।

कबीर का विश्वास, मात्र परमतत्व में है। उनका चिन्तन है कि परमात्मा ने एक ही बूँद से सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की है। अतः ब्राह्मण और शुद्र जैसा भेद उनकी समझ से परे की बात है। कबीर निर्भीक और बेलाग दृष्टि के पोषक थे। वे मानवमात्र के पक्षधर थे न कि हिन्दू के और मुसलमान के। हिन्दू और मुसलमान की कौमी–एकता पर निरन्तर उनका चिन्तन हुआ है। वे पढ़े–लिखे नहीं थे, परन्तु अनुभूति के खजाने थे। अनपढ़ता के कारण ' भाषिक अनगढ़ता' उनमें भले लक्षित की जा सकती हैं किन्तु उनकी अनुभूति–सच्चाई को मान लेने में किसी को कत्तई हर्ज नहीं होना चाहिए। कबीर ने ठीक से अनुभव किया था कि हिन्दू और तुर्क में अभेद है। क्योंकि भेद

होता तो इनकी जन्म–विधि में अन्तर होता। जिस मार्ग से हिन्दू आया है उसी मार्ग से मुसलमान भी। जन्म के समय न तो कोई (शिखा और यज्ञोपवित के साथ) ब्राह्मण बनकर आता है और न ही कोई (खतना–सहित) मुसलमान बनकर। व्रत, उपवास, तीर्थ, पूजा, नमाज, चमत्कार, झोली, बटुआ, धधारी, सिर–मुंडन, जटा–धारण, भस्म–लेप, पत्थर–पूजा, मूर्तिपूजा, अजान, माला, छापा, तिलक एवं गंगा–स्नान आदि समस्त लोक रूढ़ियों के विरूद्ध कबीर की वाणी बुलन्द हुई है। गंगा–यमुना जैसे तीर्थ–स्नानों के प्रति उनका अपना चिन्तन है। कबीर का विश्वास है कि जब तक चित की शुद्धि नहीं होगी, हृदय निर्मल नहीं होगा, तब तक मनुष्य के समस्त कार्य–व्यापार निरर्थक साबित होंगे। योग के आडम्बरों से कबीर को परहेज है। नोचकर केशोच्छेदन करना, बाल मुड़ाना, मौनव्रत लेना, जटा धारण करना अथवा पांडित्य, गुणज्ञ, दानशील और वीरदर्प के प्रदर्शन करना, अहंकार वादिता के परिचायक हैं। इन अहंकारधर्मी सूत्रों से अपनी श्रेष्ठता साबित करने वाला प्राणी मानवता की कोटि का हकदार नहीं बन सकता। ऐसे अहंकारशील लोग सत्य–पथ से डिगते रहते हैं। हरि–स्मरण (अहंकार–शून्यता) से रहित ये समस्त जन जिस प्रकार प्रकट होते है उसी प्रकार नष्ट भी हो जाते है। कबीर समदर्शी थे। उन्हें न तो किसी से दोस्ती थी और न ही किसी से बैर। उनके लिए न तो मुल्ला प्यारे थे और न पंडित शत्रु थे। भ्रान्त–पथिक इन दोनों ही को सन्मार्ग पर ले जाने का प्रयास कबीर द्वारा किया जा रहा था।

सचमुच, कबीर महामानव थे। मानवता–पोषक किसी भी जाति–धर्म से उनकी दोस्ती बन सकती थी। मानवता–ध्वंसक सभी से उनका बिगाड़ था। एक ओर पंडित और योगी को फटकार पिलाने में उनसे चूक नहीं होती तो दूसरी ओर मौलवी और फकीर की खबर ले लेने में उन्हें फक्र का अनुभव होता था। एक साथ पीर, मुरीद, काजी, मुल्ला और दरवेश आदि की भ्रान्ति को दूर करते हुए कबीर ने कहा है कि 'कुरान' और 'कतेब' पढ़ने से 'फिक्र' दूर नहीं किया जा सकता। मन को स्थिर बनाकर ही खुदा के करीब होने का मजा हासिल किया जा सकता है।

कबीर का अनुभव बहुआयामी था। वे मनुष्य की स्वार्थ–लिप्सा के विपरीत थे। कर्म–प्रधानता पर उनका जोर अधिक था। अच्छे कर्म के सद्परिणाम और बुरे कर्म के दुष्परिणाम से वे परिचित थे। उनका यह भी मानना था कि ऊँच–नीच जैसा भेद ईश्वर–कुत नहीं है, यह वैभव–सम्पन्न व्यक्ति ऊँचा है और वैभव–विपन्न व्यक्ति नीचा है, इस तरह के सामाजिक–बोध से उन्हें बड़ी पीड़ा हुई थी। कदाचित् इसीलिए सांसारिक वैभव के प्रति वे उदासीन रहे। उनकी विचार–दृष्टि में वैभव–सूचक हाथी–घोड़े और शक्ति–सूचक छत्र–ध्वजा आदि सभी व्यर्थ हैं। इस तरह के सुख से तो भिक्षा–वृति ही अच्छी है क्योंकि भिक्षा के माध्यम से सामान्य जीवन जीने वाला संत हरि–स्मरण में समय व्यतीत करता है।

गौर रखने की बात है कि कबीर की निजी परिस्थिति जातीय संकीर्णता से मुक्त थी। सम्पूर्ण हिन्दी वाङ्मय में अद्‌भुत जाति का एक ही कवि है 'कबीर'। पितृपक्ष से वह जुलाहा है तो मातृपक्ष से ब्राह्मण। उसका एक गुरू (रामानंद) ब्राह्मण है तो दूसरा (शेख तकी) मुसलमान। अतः कबीर में समन्वयी दृष्टि का विकास स्वाभाविक था। भुक्तभोगी अथवा कि पारिस्थितिक विषमता और सामाजिक क्रुरता के मूलोच्छेदन की निर्भीक ताजगी ने उनमें प्रखरता का सृजन किया। रूढ़ि–सम्मत सामन्ती दुराचारों और युगधर्मी मानवीय–विसंगतियों से लड़ना उनकी आदत बन चुकी थी। आदर्श मानव–समाज की स्थापना के लिए वे विकल थे। मानव त्रासदी से अशान्त उनका कवि–मानस आन्दोलित था। अतः समस्त विरूपताओं के विरूद्ध सब कुछ कहने के लिए उनकी वाणी को मुखर होना था। यहीं एक बात का उल्लेख कर देना संगत होगा कि जातीय स्तर पर कबीर अन्त्यज थे। कबीर ही नहीं अधिकांश सन्त–उपदेष्टा अन्त्यज थे। अतः तद्युगीन परिस्थितियों के मुताबिक वे शास्त्र–ज्ञान और मन्दिर–पूजा के हकदार नहीं हो सकते थे। अस्तु, वे करते क्या ? उनके पास चिन्तन की स्वतन्त्रता थी और ज्ञान की अनुभूत्यात्मक आँधी। यह सच है, कि जो प्राणी सम्प्रदाय, जाति और वर्ग से मुक्त रहकर चिन्तन को आकार देता है, वही सन्त होता है, कवि होता है, महापुरूष होता है। कदाचित् अतीत के लम्बा हो जाने पर वही महामानव कहलाता है, यंगपुरूष और अवतारी की संज्ञा अर्जित करता है। सन्तों की दृष्टि सारग्राही थी। अपने युग तक के प्रचलित सभी मतों से सारतत्त्व ग्रहण करते हुए उसे अपने अनुभव के धरातल पर प्रभावशाली ढ़ंग से उतारने की उन्होंने कोशिश की है। समाज में व्याप्त अन्धविश्वास और भेद–बुद्धि के प्रति सन्तों की चिन्ता ने शुद्ध मानववाद का प्रचार किया। सभी को ईश्वर की सन्तति समझना, मनुष्य मात्र को समान जानना, जाति और लोकधर्म के विभेद से मुक्त रहना तथा कुल मिलाकर उदार मानवताधर्मी दुष्टि को वाणी देना सन्तों के अभ्यास में शामिल था। इस तरह की समत्व दृष्टि और भ्रातृत्व–भावना का प्रथम रूप कबीर में लक्षित होता है। लोकोन्मुखता, मानवीयता और सामाजिक एकीकरण जैसी आदर्श भावनाओं के पवित्र ध्वज का कबीर ने उन्नयन किया है और इसीलिए हिन्दी साहित्य में मानवता के प्रथम कवि के रूप में उनकी प्रतिष्ठा की जानी चाहिए।

कबीर का क्रान्तधर्मी व्यक्तित्व, युगद्रष्टा स्वरूप, पन्थ–निरपेक्ष दृष्टि आदि उनकी महामानवतावादी वैचारिक ऊष्णता की चिन्गारियाँ है।वे हिन्दू–मुस्लिम–ऐक्य के लिए निरन्तर चिन्तनशील बने रहे। भारत की आधुनिक आजादी के जनक महात्मा गाँधी कदाचित् कबीर की इन्हीं समष्टियों से प्रभावित थे। महामानव की कार्यविधि महामानव का सृजन करती है। जब कहा जा रहा हो कि आधुनिक युगद्रष्टा और चिन्तक महात्मा गाँधी मानवतावादी थे तो यह स्मरणीय रहे कि गाँधी जी कबीर की बानियों और चिन्ताधाराओं से प्रभावित थे। पारिवारिक पृष्ठभूमि मनुष्य का

अधिक पोषण करती है। गांधी जी की माँ कबीर–पन्थ से प्रभावित थीं। माँ की इस दृष्टि का प्रभाव गाँधी पर पड़ा था। कबीर के अध्येताओं ने इस चिन्तन को रेखांकित भी किया है एक अध्येता की दृष्टि में गाँधी जी की सबसे बड़ी विशेषता–जो उन्हें कबीर के साथ ले जाकर रखती है, वह उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा है। वे हमेशा उस परमतत्व तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं जिसे उन्होंने कबीर के शब्दों में, अनिर्वचनीय ज्योति अथवा परम प्रकाश कहा है। उस दुर्बल से शरीर को लोककल्याण में प्रवृत्त होने की अनन्त शक्ति उसी ज्योति से प्राप्त हुई (गाँधी और कबीर : डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल)। गाँधी और कबीर दोनों ही कथनी और करनी में एक हैं। दोनों ही सत्योपासक हैं। दोनों ही रामभक्त हैं अतएव दोनों ही मानवतावादी हैं। कबीर का तो पूरा विश्वास है कि 'कहते हैं करते नहीं, सो तो बड़े लबार। आखिर धक्का खाइहैं साहिब के दरबार।' मन, वाणी और कर्म के सामंजस्य पर दोनों ही का जोर है। धर्म, समाज और नीति जैसे मानवीय चिन्तन के प्रति दोनों के दृष्टिकोण एक जैसे हैं।

कबीर की दृष्टि में आदर्श मानव वह है जो ईश्वर में विश्वासी हो, संसार के आकर्षण से विरक्त हो, भेदभाव से परे हो, सत्यनिष्ठ हो, मन–वाणी और कर्म से एक हो। मन यदि विषयी है तो वह उसके आदर्श मानव बनने में बाधक बनेगा। अतः आदर्श मानव की संरचना मन के नियन्त्रण पर सम्भव है। मानव की आदर्श स्थिति तो इसमें है कि वह अहंकार–रहित होकर, तत्त्वदर्शी बनकर, हंस की तरह नीर–क्षीर–विवेकी होकर, चंदन–सदृश शीतल बनकर, दुर्जनता को सज्जनता में परिवर्तित करने की क्षमता रखता हो। कबीर की सर्जना का मानव यही आदर्श मानव है। मानव–व्यक्तित्व के प्रखर आयामों के प्रति कबीर की चिन्ता है न कि उसके रूढ़िबद्ध और अन्धविश्वासी रूप के प्रति। कबीर में ईश्वरी चिन्ता है। ईश्वरीय चिन्ता के माध्यम से मानवीय चिन्ता है। मानव का ईश्वर बन जाना ही मानवधर्म है। कबीर मानते हैं कि हे ईश्वर! तुम्हारा सतत स्मरण करता हुआ मैं भी ईश्वरमय हो गया। मेरा अहं समाप्त हो गया है। मैं तुम्हारा नाम–शक्ति पर लट्टू हूँ क्योंकि उसके ही रट लगाने से मुझे यह शोभन स्थिति मिली है। अब जहाँ भी देखता हूँ, तुम्हीं दिखलाई पड़ते हो।

कबीर ने द्वन्द्व और छल–रहित कथनी को करनी में बदलने का सुझाव दिया है। वे मानव–समाज की मौलिक एकता के पक्षधर थे। वे पूर्ण मानवता की स्थापना के लिए संकल्पित थे। नैतिक नियमों के आचरण पर उनका जोर था। संत–साहित्य के पंडित मानते भी हैं कि वे कपट, पाखंड, वाग्जाल तथा अत्याचार के घोर विरोधी थे। उसी प्रकार शुद्ध हृदय, सादगी, स्पष्टोक्ति तथा प्रेम के प्रबल समर्थक भी थे। इनकी क्रान्ति बाहरी विप्लव न होकर अन्तर्मुखी थी और मानवीय

हृदय से ही सीधा सम्बद्ध थी। ये जीवन के किसी विशेष पहलू के सुधार पर ही अधिक जोर न देकर उसका पूर्णतः कायापलट कर देना चाहते थे।

भारतीय परिधि में मानवता–विषयक चिन्तन बड़े विशद धरातल पर हुआ है। टैगोर के एक चिन्तन का अंश लिया जा सकता है। उनका मानना है कि मानव आत्मा जब विश्वात्मा से अपना तादात्म्य कर लेती है तब मनुष्य सच्चे अर्थो में मानवधर्मी हो जाता है। विज्ञान अपने ज्ञान का विस्तार ग्रह–मंडल या उससे भी परे स्थित लोकों तक कर सकता है। दर्शन किसी ऐसे सार्वभौम सिद्धान्त का अन्वेषण कर सकता है जो सभी पदार्थो के मूल में स्थित हो। किन्तु धर्म अनिवार्यतः मानवता को ही केन्द्र में रखकर चलता है। वह मनुष्य को ही उदात्त बनाता है। यह धर्म–प्रेरित मानवता हमारी तार्किक चेतना को प्रदीप्त करती है। हमारे विवेक को प्ररित करती है, हमारी प्रेम–भावना को स्फूर्ति देती है और हमारे जीवन को बौद्धिक मर्यादा प्रदान करती है।

स्मग्र आकलन में कबीर की चिन्ताधारा का सारांश लिया जाय तो कहना पड़ेगा कि वे मानवधर्म की ऊँचाई के प्रतीक है। अन्त्यज होकर उच्चतम वर्ग को अपनी प्रतिभा से प्रभावित करनेवाले तथा 'कागद' और 'मसि' से अनस्पर्शित रहकर भी कबीर एक महाकवि हैं, महामानव हैं, समाज–सुधारक हैं और बहुत सही अर्थ में तो युग–नियामक है। कर्म का उत्कर्ष ही कबीर की वाणी है। 'ऊँचे कुल क्या जनमिया, जो करनी ऊँच न होइ' जैसी अनुभव दृष्टि उनकी इसी चिन्ताधारा की दो टूक अभिव्यक्ति है। मानव–संवेदना–विषयक चाणक्य–नीति का सारांश भी तो यही है कि मनुष्य गुणों से महान् हो सकता है, ऊँचे आसन पर बैठने से नही। महल के उच्च शिखर पर बैठा कौआ गरूड़ नहीं हो सकता। कहने की आवश्यकता नहीं, कबीर भी अपने मानवताधर्मी वैचारिक गुणों के कारण ही महान् कहलाए। प्रसिद्ध चिन्तक सुकरात ने कहा कि 'जब परमेश्वर को धरती के जीवों से बातचीत की इच्छा होती है तब वह कवियों की वाणी के माध्यम से बोलता है। अपना दिव्य संदेश वह कवि के शब्दों में देता है।' कदाचित् हिन्दी वाङ्मय के संत–साहित्य में यह गौरव कबीर की वाणी को मिला है और आधुनिक साहित्य में प्रसाद की काव्य–भूमि को। प्रसाद का कवि मानवता के धरातल पर विश्वदृष्टि का परिचय देता है तो कबीर का कवि अपनी संवेदनात्मक ऊर्जा से सम्पूर्ण मानवता की एक अभिनव आकृति गढ़ता है।

सामयिक सन्दर्भ में, जबकि युग–मानवता दिग्भ्रमित होकर किसी बेहतर राह की तलाश में है, कबीर प्रांसगिक हो उठते है। वैसे भी, कबीर जैसा निर्भीक और प्रखर कवि कभी अप्रासंगिक नहीं होता। उसका मानवता–विषयक संदेश कभी अतीत नहीं बनता।

हिन्दी साहित्य का संत काव्य रचना धर्मिता, सामाजिक–साँस्कृतिक चेतना, मूल्य–चेतना और भावात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की दृष्टि से बेजोड़ है। इस काव्य का अपना एक अलग सामाजिक–सांस्कृतिक इतिहास है जिसे राजनीतिज्ञों अथवा इतिहासज्ञों ने नहीं लिखा है। इस इतिहास को लिखा है इन सन्तों ने, जिन्होंने एक सामाजिक व्यक्ति की हैसियत से समकालीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की विसंगतियों, अलगावों, असमानताओं, विरोधाभासों एवं द्वन्द्वों को नजदीक से देखा ही नहीं, भोगा भी है। इस भोगे हुए यथार्थ को एहसास करने और करानेवाले रचनाकारों में कबीर अग्रगण्य हैं। वे एक सामाजिक और मानवीय रचनाकार हैं जिनकी मूल्य चेतना की अहमियत इसलिए है कि उन्होंने हिन्दू–मुस्लिम संस्कृतियों की असंगतियों और अन्तर्विरोधों को समझ कर एक मिली–जुली संस्कृति का निर्माण किया है। उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य–चेतना मध्यकालीन सामन्ती मूल्यों को अवश्य प्रक्षेपित करती है, पर यह सामन्ती मूल्य उनके काव्य का वास्तविक मूल्य नहीं है, यह केवल यथार्थ मूल्यों के उपजाने में सहायता प्रदान करती है। उनकी वास्तविक मूल्यचेतना लोक–चेतना है जो सामन्ती मूल्य–चेतना के समान्तर ही पल्लवित और विकसित होती है। उनके काव्य में मूल्य–चेतना का जो स्वरूप हमें साफ तौर पर दिखलाई पड़ता है, वह कई दिशाओं में जुड़ा हुआ है। इन विभिन्न दिशाओं के परिप्रेक्ष्य में कबीर के काव्य में मानव–मूल्यों की तलाश करना ही मेरा मुख्य सरोकार है।

कबीर का काव्य मानव–समाज और मानव–जीवन से जुड़ा हुआ काव्य है। मानव उसके काव्य का केन्द्र बिन्दु है। मानव को छोड़कर न तो वे समाज की मीमांसा करते हैं और न ही जीवन की। समाज और जीवन सापेक्ष रूप से काव्य की वस्तु से जुड़े रहते है। समाज मानव जीवन को व्यवस्थित करने की नियोजना करता है। जीवन को व्यवस्थित और गतिशील बनाने की पूरी प्रक्रिया समाज के सामाजिक–आर्थिक ढाँचे पर निर्भर होती है। संस्कृति का अस्तित्व समाज में भौतिक और बौद्धिक तत्वों के एक निश्चित योग के रूप में होता है जिनसे वह भौतिक तथा बौद्धिक वातावरण तैयार होता है, जिनसे मनुष्य जीवन बिताते और काम करते है। मानव–मूल्य कहीं से अचानक टपक नहीं पड़ते, बल्कि वह अपने सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक परिवेश और समय से उपजते है। वे बाह्यारोपित वस्तु न होकर, जीवन के सन्दर्भ में विकसित होते है। लुकाच मानता है कि मानव प्राणी का एक दूसरे के साथ वास्तविक रिश्ता एक सामाजिक जरूरत है, जिसको मनुष्य अपने आप में भी नहीं जानता, जिसको उसके कार्य, विचार और गतिविधियाँ संचालित करते है। पाश्चात्य विद्वान मार्क्स, मैकेंजी और अरबन आदि ने मानवी मूल्य को आर्थिक अवधारणा के रूप में स्वीकार किया है। यह एक सीमा तक न्यायसंगत हो सकता है पर यह सामाजिक और सांस्कृतिक अवधारणा से भी सम्बन्द्ध है। आर्थिक अवधारणा से सम्बन्द्ध मूल्यों को भौतिक और सामाजिक

अवधारणा से सम्बद्ध मूल्य को सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवधारणा से जुड़े मूल्यों को सांस्कृतिक (धार्मिक और आध्यात्मिक) मान लिया गया है। भौतिक और सामाजिक मूल्य वस्तुगत होते हैं और सांस्कृतिक मूल्य आत्मगत। प्रथम दो विषयगत है और तीसरा विषयीगत। वस्तुगत मूल्य यानी भौतिक और सामाजिक मूल्य सभी चेतना प्राणियों द्वारा सर्वस्वीकृत होते है, पर विषयीगत यानी सांस्कृतिक मूल्य सभी के लिए सर्वस्वीकृति नहीं हो सकते, बल्कि उस विराट् मूल्य का एक हिस्सा अवश्य हो सकते हैं जो सामान्य मनुष्य की अच्छी जिन्दगी के लिए आवश्यक होते हैं। हाब्स, स्पिनोजा, बेंथम और मिल आदि मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया कि मनोवैज्ञानिक हेतुओं से मूल्यों की निर्मिति होती है। जिनके पीछे मानव–स्वार्थ होता है। किन्तु प्रयोगों के आधार पर देखा जाय तो इन मनोवैज्ञानिक हेतुओं ने प्रसार के माध्यम से अपने स्वरूप को रूपान्तरित कर समाजपरक रूप धारण कर लिया। इसीलिए इन मनोवैज्ञानिका मूल्यों को अन्ततः सामाजिक मूल्यों के भीतर प्रवेश मिल गया।

भारतीय वाड्.मय में मानवी–मूल्यों की जो परम्परा दिखलाई पड़ती है वह ईश्वरवादी, अध्यात्मवादी, धर्म प्रधान और भाववादी ही है। ईश्वर सगुण हो या निर्गुण, उसकी उपासना के लिए कुछ विशिष्ट मूल्यों की सर्जना की गयी थी। ये विशिष्ट मूल्य थे, ज्ञान, भक्ति, और कर्म। भारतीय प्राचीन और मध्यकालीन मनीषियों ने ही नहीं, आधुनिक विद्वानों ने भी इन मूल्यों को एक सामाजिक आधार प्रदान किया है। धीरे–धीरे इन प्रमुख मूल्यों के कारक तत्वों, प्रेम, श्रद्धा और विश्वास, को मूल्य के रूप में स्वीकार कर लिया। उपनिषद्काल के पहले इन मूल्यों के साथ मनुष्य जुड़ा हुआ था, पर इस काल में मनुष्य अनुपस्थित हो गया। आत्मा–परमात्मा का चिन्तन ही इसमें प्रमुख था। किन्तु रामायण और महाभारतकालीन समाज में परिवेश और समय के प्रभावश धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को मूल्यों की श्रेणी मे रखा जाने लगा। इन मूल्यों के केन्द्र में मनुष्य फिर उपस्थित हो गया। इसके बाद के आचार्यो ने मूल्य–संबंधी अवधारणा को एक सांस्कृतिक क्रान्ति के रूप में देखा और उसके तहत सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। वेदान्ती लोग इसके केन्द्र में ईश्वर को रखकर इन मूल्यों को महत्व देते हैं, पर मध्यकालीन आचार्यो ने इसका विरोध कर इसे सामाजिक स्वरूप प्रदान किया और उसे मनुष्य–केन्द्रित माना क्योंकि इन मध्यकालीन आचार्यो का दर्शन समाज से उपजा था। कालान्तर में इस दर्शन में कर्मकाण्ड ने प्रवेश किया जिसका विरोध बौद्धों और जैनाचार्यो ने किया। चार्वाक या लोकायत दर्शन ने इन आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति वैचारिक विद्रोह किया जिसका सामान्य जनता ने समादर किया। उन्होंने आध्यात्मिक मूल्यों के स्थान पर भौतिकवादी मूल्यों की प्रतिष्ठापना की। मनुष्य इस दर्शन का मूलाधार था। आर्थिक सम्पन्नता से ही मनुष्य को मनमानी वस्तु सुलभ हो सकती है, ऐसा उनका मानना था। धन ही सभी

इच्छाओं की पूर्ति करने का साधन बन गया। सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों के निर्धारण में इनकी भूमिका महत्वपूर्ण है। इस तरह ये मूल्य एक ओर भावगत या आत्मगत रूप से विकसित हुए दूसरी ओर भौतिकवादी या वस्तुगत रूप में। इसे ही क्रमशः व्यक्गित और समष्टिगत मूल्य के रूप में देखा जाता है।

कबीर एक मानववादी कलाकार है। मानव उनके काव्य का केन्द्रीय इकाई है। वे विश्व–मानव को विकसित अवस्था में देखने को लालायित हैं। उनकी दृष्टि में मानव मात्र को विकासशील स्थिति तक पहुँचाने वाले तत्वों को ही 'मानव–मूल्य' कहते हैं। इन मूल्यों की सृजन–प्रक्रिया के लिए जितना जिम्मेदार व्यक्ति है उतना ही समाज। मूल्यों के निर्माण में आर्थिक–सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश और उस परिवेश से उत्पन्न द्वन्द्वात्मक स्थिति का विशेष हाथ होता है। समाज के हर एक वर्ग की अलग–अलग अवधारणाएँ होती हैं। इन विभिन्न वर्गों की अवधारणाएँ, जो उत्पादन और श्रम पर निर्भर होती हैं, में द्वन्द्व चला करता है। ये सभी वर्ग प्रयत्नशील रहते हैं कि हम एक दूसरे से अधिक सशक्त मूल्यों को निर्मित करें जिसे जन–समुदाय मान ले। गोर्की ने एक स्थान पर लिखा है : 'जनसाधारण वह शक्ति है जिनसे तमाम भौतिक मूल्यों का निर्माण हुआ है। यही नहीं : यह आध्यात्मिक मूल्यों का भी अक्षय स्रोत है। कवि और दार्शनिक इसे काल सौन्दर्य और प्रतिभा के मानदण्ड से निर्मित करते हैं। महान काव्यों, दुःखान्तनाटकों और संस्कृति के इतिहास की रचना भी जनसाधारण की शक्ति पर निर्भर होती है। कबीर ने इसी जनसामान्य की शक्ति को आधार बनाकर मानवी–मूल्यों की सर्जना की है। कबीर के समय में भारतीय समाज सामन्ती व्यवस्था को अपनाकर विकसित हो रहा था। सामन्तों ने राजाओं और राजाओं ने भू–स्वामियों के माध्यम से समाज के आर्थिक रूप से पिछड़े लोगों का शोषण करना प्रारम्भ किया। धर्म के क्षेत्र में राजाओं ने पुरोहितों को शोषण का माध्यम बनाया। बाद में नवाबों (शासकों) ने देशी सामन्तों को और उनके स्थान को यथावत् बनाये रखा पर उन्हें अधिकार से वंचित कर दिया। इससे वे भी उनके शोषण के माध्यम बन गए। किसान भूमि का मालिक नहीं था। उसकी स्थिति मजदूरों जैसी थी। किसान–मजदूर की सामाजिक स्थिति को देखकर ही कबीर विद्रोही बन बैठे। मुल्ला और पुरोहितों के कर्मकाण्ड ने उनकी विद्रोही चेतना को और भड़काया। उन्होंने समाज के वर्गात्मक ढ़ाँचे का विरोध किया। उन्होंने देखा कि इस ढांचे के भीतर मनुष्य मनुष्य में भेद करता जाता है। उच्चवर्ग के लोग निम्नवर्ग में आने वाले जनसाधारण को आदमी की श्रेणी में कौन कहे, जानवरों की श्रेणी में भी नहीं रखते। एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य के प्रति किए गए अपमान को वे सह नहीं पाये। उन्होंने धर्मो के अनेक प्रचलित स्वरूपों की कमियों, विंसगतियों, अन्तर्विरोधों और द्वन्द्वों को खुली आँखो से देखा। वे हिन्दु–मुसलमान, सिख और ईसाई जैसे

जाति–पाँति के पचड़े में नहीं पड़ते। वर्ग, वर्ण, धर्म, और दर्शन के भेद–भाव और आचार–विचार से उनका कोई लेना–देना नहीं। वे तो सच्चे रूप में एक मनुष्य हैं, ईश्वर–भक्त हैं। ईश्वर ही उनकी जाति, वर्ग, धर्म, दर्शन और आचार–विचार है। इसलिए उन्होंने जाति, वर्ग, वर्ण, धर्म और दर्शन की विकृतियों को काव्य के माध्यम से जनसामान्य के सामने उजाकर किया जिससे मनुष्यों के बीच से भेद–भाव की चेतना समाप्त हो जाय। वे अपने को 'ना हिन्दू ना मुसलमान' कहकर जाति–पाँति के भेद–भाव से ऊपर उठा लेते हैं। इस भेद–भाव को नष्ट करने के लिए ही उन्होंने अपने काव्य की वस्तु के रूप में समकालीन सामाजिक और संस्कृतिक–कर्म की सारी प्रक्रिया को आत्मसात् किया है।

मध्यकालीन भक्ति–आन्दोलन एक जन–आन्दोलन ही नहीं, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आन्दोलन भी था जिसकी अगुआई कबीर ने की थी। इस आन्दोलन में निम्नवर्गीय लोगों की भूमिका सबसे अधिक थी। इस आन्दोलन को प्रगतिशील बनाने में अछूत–शूद्र, जुलाहों, बनुकरो, कारीगरों, हरिजनों, किसानों और छोटे उद्योग–धन्धों में लगे लोगों ने जो भूमिका निभायी है उसमें कबीर प्रमुख थे। यह आन्दोलन सामाजिक अन्तर्विरोधों के कारण उत्पन्न हुआ था। इस अन्तर्विरोध को उपजाने वाले उच्चवर्गीय लोगों में सबसे अधिक भूमिका निभायी थी सामन्तों और नवाबों ने। निम्नवर्गीय जातियों का विरोध दोहरा था। एक ओर सामन्ती शोषण तंत्र और दूसरी ओर कर्मकाण्डी पुरोहितवादी व्यवस्था का उन्होंने घोर विरोध किया। कबीर ने वर्णगत धर्म की जर्जर रूढ़ियों और सामन्ती मूल्यों का विरोध कर सहिष्णुता और भाईचारे का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रस्तुत अध्ययन को सात अध्यायों में विभक्त करके हमने कबीर को परखने का प्रयास प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में किया हैं –

प्रथम अध्याय में कबीर के जीवन चरित के सम्बन्ध में व्यापक विविध विसगंतियों को दूर करके प्रामाणित मत प्रस्तुत करते हुए उनके जीवन चरित को प्रस्तुत किया गया हैं। इस अध्याय में कबीर के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया हैं। जाति पाँति और रूढ़ियों के विरोध का शंखनाद कबीर काशी में करते हैं तो उसकी अनुगूँज सम्पूर्ण भारत में सुनाई पड़ती हैं। सामाजिक संघर्ष कबीर को विरासत में मिलता हैं। वे घर बारी योगी हैं तथा वे अपने परिवार से जुड़कर साधना में लीन रहते हैं। इस सन्दर्भ में कबीर अपना पर्याय स्वयं हैं।

कबीर जहाँ कही–कही धर्म भीरू हैं, वहाँ रूढ़ियों के विरोधी भी हैं, उनमें अंध विश्वासों के प्रति कोरी घृणा हैं तो सद्वृति और सदाचरण के प्रति पूर्ण आस्था, श्रद्धा और दृढ़ विश्वास भी हैं। वे श्रद्धावान शिष्य भी हैं और सत्य के अन्वेषक गुरू भी। वे प्रेम के प्रचारक, नीति के संस्थापक

तथा मन की पवित्रता को मानने वाले सच्चे साधक हैं उन्होंने कभी सम्प्रदाय को खड़ा करने की बात नहीं सोची। कबीर अवतारवाद के विरोधी हैं इनका समाज–सुधारक रूप अधिक प्रश्वर हैं और ये मूर्ति पूजा के विरोधी हैं।

द्वितीय अध्याय में उनके सामाजिक और धार्मिक विषयक चिंतन को जानने का प्रयास हैं। इनके सामाजिक पक्ष को सामने रखने से यह तथ्य निष्पन्न होता हैं कि कबीर के समय में वि.स. 1455 से वि.स. 1575 तक की सम्पूर्ण देश की सामाजिक स्थिति लगभग समान ही थी। उस समय में पाखण्डो, ढोंगो, मिथ्याचारों की जो स्थिति काशी में नजर आती हैं, वही स्थिति देश के सम्पूर्ण समाज में भी दृष्टि पथ में आती हैं। कबीर को इन सबसे लोहा लेना पड़ा। ये संत मूलत साधक हैं, किन्तु जिस समाज में रहते हैं उसे अनदेखा भी नहीं कर सकते। इसलिए इन्होंने अपने समय और स्थान के धूर्तो को खूब फटकारा हैं। विसंगतियों से भरपूर समाज में उन्हैं पग–पग पर बाधाओं का सामना करना पड़ा। फलतः कबीर ने पहले इन सामाजिक बाधाओं को दूर करने की ठान ली।

द्वितीय अध्याय को चार भागों में विभाजित कर अध्ययन किया गया हैं जिसमें कबीर के युग की सामाजिक स्थिति, कबीर के युग की धार्मिक स्थिति, सामाजिक और धार्मिक यथार्थ, आन्तरिक व बाह्य रूढ़िवादिता नाम दिया गया हैं।

इस में कबीर ने कुसंस्कारों, बाह्यचारों, मिथ्याचारों और पाखण्डो का खण्डन जोरदार शब्दों में किया हैं। कबीर ने जाति–पाँति, ऊँच–नीच, अमीर, गरीब, छूआछूत के भेदभाव को समाप्त करके समता प्रधान समाज की स्थापना का प्रयास किया। ये समाज में फैले अंधविश्वासों पर कुठाराघात करने मे हिचकिचाए नहीं। पण्डों, मुल्लाओं,, मांस खाने वालों, जन्म से ऊँचा कहने वालों, गद्दीधारी महन्तों, मूर्तिपूजा को सभी की पोल खोलने में इन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी। करनी–कथनी एकता पर बल देकर कबीर ने स्वस्थ समाज के निर्माण का अनथक प्रयास किया।

इनका उद्देश्य समाज को गढ घोलकर साफ और सुन्दर दिखाने का नहीं, अपितु उनका यथार्थ वर्णन करके उसके दोषों को दूर करने का हैं। इनका भक्त रूप प्रायः सभी आलोचको द्वारा स्तुत्य रहा हैं किन्तु उनका समाज के विगलन कर्त्ताओं के प्रति क्षोभ, समाज की ध्वंसक कुरूपता के दृश्यों को संजाने में उन्होंने जो भगीरथ प्रयत्न किया हैं, वह प्रायः उन आलोचकों की आँखों से ओझल हो गया। ये सामाजिक चेतना के कवि थे। प्रत्येक सामाजिक चेतना सम्पन्न व्यक्ति ऐसा ही करता हैं जैसा कि कबीर ने किया। कबीर एक चेतना हैं छद्मी और पाखण्डी लोगों के प्रति इनका आग बबूला होना इसलिए असंगत नहीं हैं।

तृतीय अध्याय में कबीर का हिन्दू–मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप का अध्ययन किया गया हैं। इसमें हिन्दू मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप, कबीर की दार्शनिक पृष्ठभूमि, कबीर और मानवता, कबीर के काव्य में मानव मूल्यों की तलाश, कबीर की ब्रह्म सम्बन्धि अवधारणा को प्रस्तुत किया गया हैं। इसका साहित्य मात्र बौद्धिक विश्लेषण या जिज्ञासा निवृति नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व की व्याख्या प्रस्तुत करता हैं उन्होंने मनुष्यों के जीवन यापन के लिए विधि–निषेध के रूप में जीवन की एक शाश्वत नैतिक व्यवस्था का प्रतिपादन किया हैं। तथा मूल्यों की व्यावहारिकता पर बल दिया। कबीर ने तो उन्हीं बातों को कहा जो मानव की मूल प्रवृतियों से जुड़ी हुई थी। इनके द्वारा प्रस्तुत तथ्य शाश्वत सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं। इसलिए इनका साहित्य कभी बासी नही हुआ।

वैसे तो सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य ही मूल्य परक हैं, किन्तु कबीर का साहित्य उसमें बेजोड़ हैं आज के आपाधापी से भरपूर समाज में इन मानव–मूल्यों की गहरी आवश्यकता हैं। यह सत्य हैं कि ये मूल्य 'मूध्ययुग' के हैं। किन्तु आज भी दया, ममता, करूणा, आस्था, श्रद्धा, विश्वास, आपसी भाईचारे की उतनी ही आवश्यकता हैं जितनी उनके अपने युग में थी।

चतुर्थ अध्याय में कबीर के काव्य संकलन की समीक्षा और सृजन की विविधता को प्रस्तुत किया गया हैं। इस अध्याय में कबीर द्वारा रचित गुरूदेव कौ अंग, सुमिरण को अंग, चितावणी कौ अंग, कथनी बिना करणी कौ अंग, काल कौ अगं, कुसगंति कौ अंग, उलटबाँसियां तथा भारतीय धर्मसाधना में कबीर का स्थान का अध्ययन किया गया हैं। इसमें कबीर के दार्शनिक विचारों को जानने का प्रयास हैं। कबीर का राम सगुण और निर्गुण की समन्वयात्मक सत्ता हैं। कबीर के दार्शनिक विचार किसी एक दर्शन की परम्परा का अनुसरण नहीं करते हैं। वे सारसंग्रही की तरह आवश्यक को ग्रहण करते हैं और अनावश्यक को छोड़ देते हैं। कबीर ने राम, कृष्ण, हरि, शिव के नाम भेद को अस्वीकार किया हैं। और वे राम,रहीम, अल्लाह, शिव, हरि, निंरजन को एक ही दृष्टि से देखते हैं। कबीर पारमार्थिक दृष्टि से जगत की सत्ता नहीं मानते, बल्कि समस्त जगत में उस आत्माराम को व्याप्ति मानते हैं। वे इसे बाजीगर की बाजी मानते हैं। उनकी पुर्नजन्म में आस्था नहीं हैं।

कबीर माया को भक्ति मार्ग में बाधक मानते हैं। कबीर दार्शनिक नहीं, अपितु संत हैं। उनका उद्देश्य दर्शन की बारीकियों को समझना या समझाना नहीं, किन्तु यदि कोई तथ्य उन्हैं अपने शिष्यों को समझाने का अवसर उपलब्ध हुआ तो उन्होंने उसे अपने शब्दों के माध्यम से समझा

दिया। इस प्रयास में वे कहीं–कहीं। दर्शन की बारीकियों से बहुत ऊपर उठ गए हैं और कहीं मात्र संकेत से ही उन्होंने अपना कार्य साध लिया हैं।

पंचम अध्याय में कबीर का स्थान व निर्गुण भक्ति को दर्शाया गया हैं इसमें हिन्दी साहित्य में कबीर का योगदान, समाज सुधारक कबीर, कबीर की निर्गुण भक्ति, वर्तमान में कबीर की साखियों का महत्व, साखियों के आधार पर कबीर का मूल्यांकन की चर्चा की गई हैं। इसमें कबीर की साधना पर नाथपथियों का प्रभाव हैं, किन्तु उसकी साधना नाथपंथियों से भिन्न भी हैं। नाथपंथियों का आराध्य शिव हैं और कबीर का आराध्य 'राम' हैं। हठयोग के आधार पर शरीर को कष्ट देकर कुण्डलिनी जागृत करना या अन्य साधनाओं की चर्चा कबीर नहीं करते हैं। ये संत अपने समय में प्रचलित सभी योग साधनाओं के सारतत्व को ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। आचरण शुद्धि पर इनका बल हैं। कबीर ने सदगुरू के महत्व को सर्वोपरि माना हैं। कबीर अपने आराध्य की सेवा में अभिरत होकर मोक्ष को भी तुच्छ मानते हैं यहाँ तक कि कबीर तो अपने 'राम' के लिए स्वर्ग को तिलाजंलि देकर नरक भोगने के लिए भी तैयार हैं। कबीर की भक्ति नारदीय प्रेमाभक्ति हैं। इसके लिए बाह्य विधान की आवश्यकता नहीं। कबीर साध्य और साधक में अभेद स्थापित करके इसे ही चरम आनन्द या मोक्ष मानते हैं। कबीर वैधानिक प्रपंचो से कोसो दूर अपने आराध्य के प्रति उत्कृष्ट प्रेम पर बल देकर आराध्य को प्राप्य मानते हैं। वे बाह्यचारों का विरोध करते हैं, इनकी साधना अपनी ही तरह की सहज साधना हैं। षष्ठम अध्याय में कबीर के काव्य का शिल्प विधान तथा काव्य भाषा को लेकर चिंतन किया गया हैं। कबीर की भाषा तत्कालीन समय की बोलचाल की हिन्दी भाषा हैं। कबीर का साहित्य गेय हैं और विविध राग–रागनियों में निबद्ध भी हैं। इनके पद आज भी गए जाते हैं। अलंकारों का प्रयोग इनका उद्देश्य नही रहा हैं,किन्तु कथन की भंगिमा के साथ अलंकार स्वतः उपस्थित हो गए हैं।

इस अध्याय में कबीर की काव्य भाषा, छंद योजना, अलंकार योजना, लोकोक्तियाँ, शब्द भण्डार, रस परिपाक, प्रतीक विधान, गेयता तथा काव्य सौन्दर्य और शैली को दर्शाया गया हैं। कबीर नाथों की उलटबाँसी शैली का प्रयोग खुलकर करते हैं। कबीर ने अपनी प्रतीक योजना में सामान्य शब्दों का प्रयोग करते हुए उसे विशिष्टता प्रदान की हैं। काव्य विषय और काव्य कला की दृष्टि से कबीर अन्य संतो से दो हाथ आगे नजर आते हैं। कबीर का साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध हैं, इनकी काव्य भाषा में उर्दू और संस्कृत के तत्सम और तद्भव रूप देखे जा सकते हैं। सामान्य लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग भी इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की सार्थकता के लिए किया हैं। छंद की पकड़ कबीर की मजबूत हैं। यही इनके साहित्य की अपनी विशेषता हैं। कबीर का साहित्यकार सहजता का पर्याय हैं। इनकी भाव सम्पदा और उदात्तता का आज भी कोई सानी नहीं

हैं। कबीर मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख कड़ी हैं। अतः जहाँ इनका, भक्त रूप, समाज सुधारक रूप स्तुत्य हैं, वहाँ इनका साहित्यकार वाला रूप भी कम महत्व का नहीं हैं।

सहिष्णुता और भाईचारा ही वह मानव–मूल्य है जो सभी प्रकार के भेद–भाव को समाप्त कर मानव को मानव बनाता है। समाज की रूढ़ियों ने धर्म को खोखला और विकृत कर दिया था जिसके कारण वह साम्प्रदायिक खेमों उपखेमों में बंट गया। पुरोहित कर्म ने इस धर्म के स्परूप को ही बदल डाला। उन्होंने कर्मकाण्ड को वास्तविक धर्म बताकर सामान्यजनों को फाँस लिया। इस्लाम धर्म के आगमन से धार्मिक विद्वेष बढ़ा। शासक जाति के लोगों ने हिन्दू–शूद्रों को रूपान्तरित कर अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया। यही हिन्दू–मुस्लिम संघर्ष का मूल कारण था। सुल्तान सिकन्दर लोदी ने मथुरा और अन्य स्थानों में मंदिरों को नष्ट कर दिया था। तैमूर ने एक दिन में एक लाख हिन्दुओं को मौत के घाट पहुँचाया था। कबीर ने हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म की विसंगतियों, न्यूनताओं, द्वन्द्वों को समाप्त करने के लिए ही 'मानव धर्म' को नये सिरे से विस्तार दिया था। उन्होंने जनता को समझाया कि ईश्वर न तो काबे में है और न कैलाश में, न मस्जिद में है और न मंदिर में। वह तो तुम्हारे भीतर वाले मंदिर (घट–शरीर) में स्थित है। बाहर उसे खोजना व्यर्थ है। यदि वास्तविक मथुरा, द्वारिका, काशी को खोजना चाहते हो तो तुम अपने शरीर में ढूँढों।

मंदिर, मस्जिद और तीर्थस्थान आदि मनुष्यता को खण्डित करने वाली वस्तुएँ हैं। इनसे नाता तोड़कर ही एकता स्थापित की जा सकती है। वे निर्धन उसे नहीं मानते जिसके यहाँ धन का अभाव हो। उनकी दृष्टि में निर्धन वह है जो मानवी मूल्यों से वंचित रहता है। जिसके हृदय में राम का निवास नहीं होता, उन्हें भी वे निर्धन कहते हैं। वे निर्धन और धनी में अन्तर नहीं मानते : 'निरधर सरधन दानों भाई। प्रभु की कला न मेटी जाई।' लोकवेद, वेद–पुराण, मुल्ला–पाण्डे, मंदिर–मस्जिद, कर्मकाण्ड, तीर्थयात्रा, जप–तप, व्रत–पूजा आदि का जितना विरोध कबीर ने किया है वह सब एकता स्थापित करने के लिए ही। यह एकता उनके सामाजिक–सांस्कृतिक पुनरूत्थान का एक अंग था। उन्होंने प्राचीन जर्जर परम्पराओं, पौराणिक हिन्दू–मतों, आडम्बरों–पाखण्डो, अंधविश्वासों का ही विरोध नही किया, बल्कि मुसलमानों की आडम्बरपूर्ण परम्पराओं का भी खण्डन किया था। इस्लाम, धर्म, समाज और संस्कृति में जो विकृतियाँ आयी थीं उसका उत्तरदायित्व मुस्लिम शासकों, काजी और मुल्लाओं को है। कबीर ने मानवमात्र की समता की उद्घोषणा करते हुए समझाया कि इन पंडितो, काजियों और मुल्लाओं को अपनी मुक्ति के रास्ते का ज्ञान नहीं है फिर क्यों कर दूसरों को रास्ता सुझाएँगे। उन्होंने विकल्प के रूप में भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया, वह भी निर्गुण ब्रह्म की भक्ति का। इस मार्ग को न तो सिद्ध–नाथों और न तो पण्डितों–मुल्लाओं ने इसके पूर्व जाना था। भक्ति को उन्होंने मानव–मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया है। इस भक्ति से

धीरे–धीरे कई मूल्य विकसित हुए। क्षमा, शील, दान, धैर्य, परहित, संतोष, अहिंसा, काम–क्रोध–मद–लोभ–मोह से विरक्ति, कपट–त्याग तथा माया आदि से विरक्ति इनमें प्रमुख हैं। ये ही नैतिक मूल्य हैं जिनके अभाव में समाज का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संतुलन बिगड़ जाता है।

कबीर के समय में धर्म, दर्शन कला–साहित्य, संस्कृति, राजनीति और समाजनीति सभी का सामन्तीकरण हो गया था। वे इस सारी सामन्ती व्यवस्था से मुक्ति चाहते थे, व्यक्तिगत रूप से नहीं, सामाजिक रूप से। उनकी सामाजिक नीति तुलसी के राम राज्य की नीति से मेल नहीं रखती। वे एक वर्णहीन, जातिहीन और शोषणहीन समाज की संरचना करना चाहते थे। उनकी यह नीति लोकनीति से जुड़ी हुई थी, इसीलिए सन्तों का इतना बड़ा आन्दोलन जन्म ले सका। उन्होंने धार्मिक, आध्यात्मिक पाखण्ड, ढोंग, बाह्याचार, सामाजिक असमानता, आर्थिक पराधीनता और साम्प्रदायिक भेद–भाव की दीवार को चकनाचूर कर एक ऐसे समाज की निर्मिति की जो सभी विकारों से मुक्त था। उनकी आलोचना का आधार अनुभव था : 'में कहता आँखिन की देखी, तु कहता कागद् की लेखी।' अनुभव प्रमाण को सत्य मानकर वे जीवन और जगत् की खुली आलोचना करते हैं। उनके अनुसार मूर्तिपूजा, पौराणिक मान्यता, सामन्ती, विलासिता मानवीय जीवन के मूल्य न होकर प्रेम, विश्वास, सत्यशील, क्षमा, मनुष्य–सेवा और सद्भावना ही वह मानव–मूल्य है जो जगत् और मानव–समाज की स्वरूप संरचना के लिए महत्वपूर्ण है। इस तरह कबीर केवल राजाश्रय का ही विरोध नहीं करते, बल्कि इस राजाश्रय में उपजी कला, साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन का भी विरोध करते है। क्योंकि इन सभी का जुड़ाव लोक से नहीं था। लोक से जुड़कर ही काव्य मानव मात्र को पराधीनता से मुक्ति दिला सकता है। वे इसी अर्थ में एक लोक कवि थे जिन्होंने अपने काव्य के माध्यम से जनसामान्य को जागृत किया था। वे लोक में सामाजिक और आध्यात्मिक चेतना को विकसित कर मनुष्य मनुष्य के भेद–भाव और मत–मतान्तरों को नष्ट करना चाहते थे। उन्होंने प्रत्येक को समझाया कि तुम्हारी जाति मनुष्य है और धर्म भी मानव धर्म हैं। शेष सभी धर्म मानव जाति के विकास में बाधक हैं। वे सभी जन को राम जन ही मानते थे। उनके अनुसार नामों में क्या रखा है वे तो मात्र व्यक्ति व्यक्ति को अलग करने के एक विशेषण है। विशेष्य तो वह राम है जिसको प्राप्त करना या जानना ही हरेक व्यक्ति का मुख्य कर्म है। वह राम सगुण भी है और निर्गुण भी। वे सगुण ब्रह्य के विरोधी नहीं हैं। वे विरोधी हैं पाखण्ड और आडम्बर से युक्त कर्मो के जो उन्हें अंधविश्वासी बनाता है। उनका ब्रह्म राम मनुष्य के ह्रदय में स्थित है। समाज में रहने वाले प्रत्येक वर्ग के भीतर उसका निवास है। वह साधक के दुःख–सुख का साथी है। वह अनुभवगम्य है जिसे प्रेमाभक्ति के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। प्रेम ही वह मानव–मूल्य है

जिससे समाज में समानता आती है और भेद–भाव नष्ट होते है। इसी से भक्ति और ईश्वर दोनों की प्राप्ति होती है। इसीलिए उन्होंने सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य के रूप में प्रेम को महत्व दिया है। यह प्रेम व्यक्ति और समाज को परिष्करण करने का औजार है। यह प्रेम समानता और एकता का आधार है। वे कहते है कि यह पवन एक है, जल एक है, एक ही ज्योति से सभी उत्पन्न हुए है। सारे जीव एक ही मिट्टी और एक ही हाड़–मांस से बने है फिर द्वैत भावना कैसी? उन्होंने सामन्ती नारी, जो भोग्या थी, उसकी प्रतिष्ठा नहीं के बराबर थी, उसे पति–पत्नी के मधुर संबंधो के माधम से सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान की है। उनकी कविता में प्रेम का सामाजिक और आध्यात्मिक स्वरूप ही विकसित मिलता है। जो वासनात्मक प्रेम विलासिता का माध्यम बना हुआ था वह सामाजिक और आध्यात्मिक आधार को प्राप्त कर भक्ति और एकता का अवलम्ब बन गया। उनका यह प्रेम न तो बाजार में बिकने वाली वस्तु के रूप में मिल सकता है और न उसे अन्य फसलों की तरह खेत में उपजाया ही जा सकता हैं। वह तो एक सात्विक भाव है जिसे राजा–प्रजा, उच्च–नीच, ब्राह्मण–शूद्र, हिन्दू–मुस्लिम बिना भेद–भाव के प्राप्त कर सकता है। अहं भाव का विसर्जन इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है। यहीं प्रेम का सामाजिक और आध्यात्मिक रूपान्तरण है। मानव धर्म और समानता के रिश्ते इसी से सुदृढ़ होते हैं। जिस प्रेम में संवेदना न हो और जिसे अनुभव न किया जा सके कबीर ऐसे प्रेम को अस्वीकृत कर देते है।

कबीर का निर्गुण ब्रह्म ही परब्रह्म है। यह केवल जिज्ञासा की वस्तु नहीं है, वह साधक के सुख–दुख का भागी है। वे सगुण ब्रह्म के नाम जैसे राम, हरि, गोविन्द, माधव, केशव, माधव–मुरारी शब्दों का प्रयोग अपने काव्यों में करते हैं। इसका आशय यह नहीं कि कबीर सगुणोपासक हैं। वे एक निर्गुणोपासक भक्त है। उनके राम न तो अवतारी हैं और न दशरथ के पुत्र। वे अगम्य और अगोचार हैं। उनकी कोई जाति नहीं है। उनके कुल–परिवार का भी अता–पता नहीं है। उसे किसी विचारधारा के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। वह स्वतंत्र और सबमें स्थित हैं। आत्मा ही उसका घर (मंदिर) है। वे आत्मा–परमात्मा के अन्तर्सबंधों को उद्घाटित करते हुए विश्व–मानवों को एकता के सूत्र में बाँधने की चेष्टा करते हैं। इसी सन्दर्भ में वे भेदवादी और अलगाववादी अवधारणाओं की आलोचना करते हैं। उनका यह आलोचनात्मक कर्म सर्जनात्मक है। वे आध्यात्मिक विचारों को सामाजिक और सांस्कृतिक आधार प्रदान करते हैं। विलासिता में पड़े जीव इस 'राम' और उसके 'नाम' तक को नहीं जानते।

कबीर माया के समर्थक नहीं, विरोधी हैं। माया ही तत्कालीन सामन्तों के राजनैतिक संघर्षों का मूल कारण थी। उच्चवर्गीय स्वार्थ और विलासिता के कारण ही राष्ट्र–देश की हानि और समाज का शोषण होता है। सम्पति और सत्ता के प्रति कबीर ने विद्रोह करने का आह्वान किया है क्योंकि

इन दानों पर प्रजा का अधिकार होना चाहिए। सम्पति ही सांसारिक प्रलोभन और माया हैं। यही दुख और विषाद का कारण भी है। मनुष्य इस अज्ञानरूपी अंधकार के पर्दे को फाड़ने में असमर्थ है। ज्ञान ही वह प्रकाश है जिसके प्रभाववश नेत्र अपने को तथा बाद में परमात्मा को पहचान सकता है। यह ज्ञान पोथी से नहीं, अनुभव से प्राप्त होता है। काम, क्रोध, मद, लोभ, गर्व इन पंचशत्रुओं से बचकर ही ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है। ये ज्ञान, भक्ति और प्रेम तीनों के शत्रु हैं। ज्ञान को जानने से सामाजिक पतन को रोका जा सकता है और सामाजिक एकता को स्थापित किया जा सकता हैं। यह माया सामाजिक प्रगति में बाधक है। यह मानवीय रिश्ते को नष्ट करती हैं। इसीलिए कबीर इसका विरोध करते है।

कबीर ने मोक्ष को जीवन–त्याग के अर्थ में स्वीकार नहीं किया है। वे सृष्टिचक्र, पुनर्जन्म और मोक्ष को लोक से जोड़कर मीमांसा करते है। उनका मोक्ष न तो काल्पनिक है और न निरपेक्ष और अमूर्त। वह सापेक्ष मूर्त और सामाजिक मुक्ति से जुड़ा हुआ है। उस काल का धार्मिक आन्दोलन और भक्ति आन्दोलन दोनों सामाजिक व्यवस्था के प्रति क्रान्तिदर्शी विप्लव था।

उन्होंने सामान्य जनता को समझाया कि भगवान् की दृष्टि में सभी बराबर है। ब्राह्मण यदि सुगति का अधिकारी है तो शूद्र भी। उनकी वर्णाश्रम के प्रति जो चुनौतियाँ हैं, वह इसी का परिणाम है। यह मोक्ष इसी आर्थिक–सामाजिक मुक्ति का प्रतिरूप है। उन्होंने प्रेम के जितने मिथकों का प्रयोग किया है वे सभी इसी जीवन में प्रतिफलित हो सकते है। उन्होंने मुक्ति, सृष्टिचक्र, पुनर्जन्म जैसे मानवी मूल्यों को सामाजिक मूल्यों के रूप में प्रस्तुत किया है। पहले ये आध्यात्मिक मूल्यों के रूप में वर्णित किए गए थे।

कबीर ने भक्ति और प्रेम को मानवी–मूल्यों में सर्वोपरि बतलाया है। उन्होंने इन दोनों मूल्यों को सामाजिक आधार प्रदान किया है। उनकी भक्ति केवल भाव नहीं है। वह कर्म भी है। उन्होंने आकाशचारी भक्ति को जमीन पर उतारा। इस उतारने के कर्म में प्रेम की भूमिका महत्वपूर्ण रहीं। प्रेम ही भक्ति का मूल है। इस प्रेम की एक सामाजिक भूमिका है जिससे ही पति–पत्नी, पिता–पुत्र, भाई–बहन का आपसी रिश्ता मजबूत होता है। यह मनुष्य की सामान्य भावना है विशेष नहीं, विशेष प्रेम, जिसे वासनात्मक और स्वार्थ–प्रेम कहते हैं, सामन्ती व्यवस्था की देन है। इसी व्यवस्था के तहत पिता पुत्र की और पुत्र पिता की हत्या करता है। विलासिता और वासना की पूर्ति के लिए स्त्री को सामन्तों ने भोग्या बना दिया था। यही स्त्री युद्ध की कारण भी बनी। कबीर ने स्त्री के इस कामिनी रूप की जो भर्त्सना की है, वह इसी सोच का परिणाम है। वे सामन्ती प्रेम का विरोध करते हैं किन्तु लोकजीवन में प्राप्त होने वाले प्रेम को महत्वपूर्ण दर्शाते हैं। उन्होंने जिस मानवीय प्रेम को चित्रित किया है वह सामन्ती तरीके से नहीं, समानता के रिश्ते से ही प्राप्त किया जा सकता है। यह प्रेम इतना सहज नहीं, इसको प्राप्त करने के लिए भक्त और जन को सिर कटाना पड़ता है।

कबीर इस प्रेममूलक भक्ति के माध्यम से अहंकार, घृणा, हिंसा, दैन्य, विषय–वासना एवं चिन्ता–दुख के विष को दूर करके सबके बीच प्रेम–स्नेह के मधुर–स्निग्ध संबंध की स्थापना करना चाहते हैं। वे अहंकार को नहीं पालते है। इसी के कारण मनुष्य अपने व्यक्तित्व और संस्कार से गिर जाता है। वे कहते हैं कि मैंने प्रेमतत्व को प्राप्त कर लिया है। प्रेम ही मनुष्य को जीवित रखता है। इसलिए हरेक मनुष्य को जीवित रहने के लिए इसे अपनाना आवश्यक है। यही ईश्वर–साधक, ब्राह्मण–शूद्र, उच्च–निम्नवर्ग के भेदभाव को नष्ट कर मनुष्य को मनुष्य बनाता है। इस तरह प्रेम ही कबीर के जीवन–दर्शन का मूलतत्व है।

कबीर एक क्रान्तिकारी रचनाकार है। उनकी यह क्रान्ति चेतना आर्थिक–सामाजिक दबावों का परिणाम है। आर्थिक साधनों के अधिकार के वंचित और सामाजिक असमानता के शिकार निम्नवर्गीय लागों की स्थिति को देखकर उनका मन द्रवित हो उठा। धार्मिक कर्मकाण्डों और पाखण्डों के विस्तार और रूढ़ियों ने उन्हें मंदिर–प्रवेश की अनुमति प्रदान नहीं की। इन सभी कारणों ने उन्हें विद्रोही बना दिया। उन्होंने जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, समाजगत और सम्प्रदायगत विषमताओं को नष्ट करने के लिए जातीय चेतना को विकसित किया। इसी जातीय चेतना के बलपर उन्होंने मानव–धर्म का विस्तार किया। वे सही रूप में मानव–धर्म के संस्थापक थे। प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, विश्वास, एकता, समता, ज्ञान, सत्यता, स्वतंत्रता आदि सभी मानवी मूल्य इस धर्म में समाहित थे। मानव–मूल्यों के बल पर ही वे व्यक्ति और समाज के परिष्करण की बात करते हैं। वे विश्व के सभी मानवों को केवल मानव मानते हैं। और जाति, वर्ण सम्प्रदाय आदि के खाँचे को बेकार सिद्ध करते है। मानव ही उनके काव्य का केन्द्रबिन्दु है। उनकी यही सोच उन्हें एक मानववादी रचनाकार बना देता है।

विभिन्न विद्वानों के तर्को से यह तथ्य प्रमाणित किया गया हैं कि कबीर का साहित्य out deted नहीं हैं। बल्कि उसकी आवश्यकता आज भी उतनी ही हैं जितनी उनके अपने युग में थी। कबीर अपने क्षेत्र में बेजोड़ हैं। इनका साहित्य जितना कारगर उनके युग में था उतना ही कारगर आज भी हैं इसीलिए इनका साहित्य कालजयी हैं। ये जितने बड़े सन्त और भक्त हैं उतने ही बड़े समाज सुधारक और साहित्यकार भी हैं। मध्ययुग में जो चेतना इस ंसत ने जगाई हैं, उसने एक अनूठा रूप धारण कर लिया हैं। इसीलिए कबीर एक व्यक्ति न रहकर एक चेतना का प्रतीक बन गया हैं।

♦♦♦♦

शोध सारांश

शोध सारांश

धर्म निरपेक्षता की वर्तमान अवधारणा

कबीर मानवता के पर्याय हैं। मानवता की रचना जिन अमूर्त तन्तुओं से होती है उनमें करूणा, त्याग, प्रेम, क्षमा, ममता, सहिष्णुता, सेवा, विश्वास और समर्पण जैसे कारक सहायक बनते हैं। इन शाश्वत मूल्यों का संवर्द्धन जिसने कर लिया है, वह मनुष्य है और इनके आलोक में किये जाने वाले उसके कार्य मानवता–सूचक हैं। मनुष्य की जातीय श्रेष्ठता एक स्वीकृत सच्चाई है। 'नहिं मानुषात् श्रेष्ठतरं किंचित' जैसा प्रमाण एक ओर महाभारत देता है तो 'शुन हे मानुष भाइ। सबार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार ऊपर नाइ' कहकर मानव–सत्य को सबसे ऊपर स्थान देने की चेष्टा वैष्णव सहजिया चण्डीदास द्वारा भी की गई है। 'बड़े भाग मानुस तनु पावा' की बात कहकर मनुष्य जाति के भाग्य की सराहना एक ओर तुलसीदास करते हैं तो 'मानुस जनम दुरलभ कहकर मनुष्य जाति के भाग्य की सराहना एक ओर तुलसीदास करते हैं तो 'मानुस जनम दुरलभ अहै होइ न दूजो बार' कहकर मनुष्य–जीवन को सार्थक बनाने की सीख कबीर भी देते हैं। समग्र रूप में, भारतीय साहित्य में मनुष्य जाति और उसके मानवीय सद्धर्भ की स्वीकृति सर्वत्र मिलती है।

'स्व' के त्याग और 'पर' की स्वीकृति ही मानवता है। भारतीय–सन्दर्भ में देखा जाय तो इस संस्कृति का आदर्श वाक्य है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्'। वेदयुगीन ऋषि–कामना का चरम् उत्कर्ष इसी में मिलता है। अपने यहाँ का चाहे अद्वैत–दर्शन हो अथवा अन्य शास्त्र–बोध। सभी सर्वत्र ईश्वरीय–व्यप्ति की परिकल्पना करते हैं। प्राणी चाहे जिस जाति या मजहब का हो, सभी का परमपिता एक है। हमारी धार्मिक संकल्पनाएँ इतनी जीवन्त हैं कि उनमें सर्वत्र मानवता के अर्जन का सन्देश है।

कबीर–साहित्य का अनुशीलन यदि इन दृष्टि से किया जाय तो उभरने वाली प्रमुख और गहरी रेखा मानवतावाद की मिलेगी। कबीर के विचारक तो यहाँ तक मानते हैं कि उन्होंने मनुष्य मात्र में एक ही दिव्य ईश्वरीय ज्योति के र्दशन किये थे और इसी आधार पर मानव–मात्र की एकता का प्रतिपादन किया था। वे सच्चे अर्थों में मानवतावादी या मानवधर्मी कहे जा सकते हैं।

कबीर युगीन सामाजिक परिस्थितियाँ जिस तरह से विघटित होकर टूट रहीं थीं, उनमें एक बड़ी भूमिका पूर्ववर्ती सामाजिक संरचना की देखी जा सकती है। कबीर से पहले भारत में शकों, हूणों, आभीरों, कुषाणों, हिन्दुओं, जैनों, बौद्धों और मुसलमानों के धार्मिक प्रचार जोरों पर फैल चुके

थे। शक, हूण, आभीर एवं कुषाण आदि तो शनै–शनैः हिन्दुत्व की सीमा में स्वीकृत हो गये, किन्तु जैन, बौद्ध और मुसलमान अपने–अपने धर्म–प्रचार और जातीय आधार को मजबूत करने में तन्मय थे। यहीं पर नाथपन्थी योगी अपनी चमत्कार विधायनी शक्ति का परिचय दे रहे थे।

कबीर का ज्ञान उन्हैं सतसंग से प्राप्त हुआ था। उनके गुरू रामानंद हिन्दू धर्म के आचार्य थे। शेख, तकी इस्लाम के जानकार थे। उक्त महानुभावों के अतिरिक्त कबीर का सतसंग सिद्धौ और नाथसंतों से भी होता था। कबीर साहब ने जैन आचार्यो का भी सत्संग किया था। संत कबीर यायावर थे और पूरे भारत वर्ष का भ्रमण किये थे। उन्होंने 120 वर्ष की लंबी आयु पाई थी। इस कारण उनका ज्ञान, ध्यान और सत्संग प्रदीप रहा। सूफी संतो का भी उन्होंने सत्संग किया। इस प्रकार कबीर निरक्षर होते हुए भी विद्या सम्पन्न थे और उनकी विद्या ऐसी थी, जो स्वयं कबीर और उनके भक्तों को भवसागर से पार होने में सहायिका सिद्ध हुई।

कबीर के समाकालीन प्रचलित विभिन्न धर्मों और मतों में टकराहट की ध्वनि हिन्दु और इस्लाम धर्म में थी। बहुदेववादी हिन्दु और ऐकेश्वरवादी इस्लामयुगीन सामाजिकता को चुनौती दे रहे थे। इनमें संघर्ष न केवल मजहबी थे, अपितु वर्गीय भी थे। ऐतिहासिक साक्ष्य मिलते हैं कि हिन्दु–समाज में सवर्ण और अन्त्यज तथा मुस्लिम समाज में शिया और सुन्नी दो वर्ग हो गये थे। इस प्रकार समाज में स्पृश्य–अस्पृश्य, शिक्षित–अशिक्षित, अमीर–गरीब, ऊँच–नीच आदि की विषमताएँ व्याप्त हो गई थीं। समाज में दासप्रथा, वेश्यावृति, शराबखोरी, जुआ एवं जालसाजी की भरमार थी।

सचमुच, कबीर महामानव थे। मानवता–पोषक किसी भी जाति–धर्म से उनकी दोस्ती बन सकती थी। मानवता–ध्वंसक सभी से उनका बिगाड़ था। एक ओर पंडित और योगी को फटकार पिलाने में उनसे चूक नहीं होती तो दूसरी ओर मौलवी और फकीर की खबर ले लेने में उन्हें फक्र का अनुभव होता था। एक साथ पीर, मुरीद, काजी, मुल्ला और दरवेश आदि की भ्रान्ति को दूर करते हुए कबीर ने कहा है कि 'कुरान' और 'कतेब' पढ़ने से 'फिक्र' दूर नहीं किया जा सकता। मन को स्थिर बनाकर ही खुदा के करीब होने का मजा हासिल किया जा सकता है।

कबीर का अनुभव बहुआयामी था। वे मनुष्य की स्वार्थ–लिप्सा के विपरीत थे। कर्म–प्रधानता पर उनका जोर अधिक था। अच्छे कर्म के सद्परिणाम और बुरे कर्म के दुष्परिणाम से वे परिचित थे। उनका यह भी मानना था कि ऊँच–नीच जैसा भेद ईश्वर–कुत नहीं है, यह वैभव–सम्पन्न व्यक्ति ऊँचा है और वैभव–विपन्न व्यक्ति नीचा है, इस तरह के सामाजिक–बोध से उन्हें बड़ी पीड़ा हुई थी। कदाचित् इसीलिए सांसारिक वैभव के प्रति वे उदासीन रहे। उनकी विचार–दृष्टि में

वैभव–सूचक हाथी–घोड़े और शक्ति–सूचक छत्र–ध्वजा आदि सभी व्यर्थ हैं। इस तरह के सुख से तो भिक्षा–वृति ही अच्छी है क्योंकि भिक्षा के माध्यम से सामान्य जीवन जीने वाला संत हरि–स्मरण में समय व्यतीत करता है।

गौर रखने की बात है कि कबीर की निजी परिस्थिति जातीय संकीर्णता से मुक्त थी। सम्पूर्ण हिन्दी वाङ्मय में अद्‌भुत जाति का एक ही कवि है 'कबीर'। पितृपक्ष से वह जुलाहा है तो मातृपक्ष से ब्राह्मण। उसका एक गुरू (रामानंद) ब्राह्मण है तो दूसरा (शेख तकी) मुसलमान। अतः कबीर में समन्वयी दृष्टि का विकास स्वाभाविक था। भुक्तभोगी अथवा कि पारिस्थितिक विषमता और सामाजिक क्रुरता के मूलोच्छेदन की निर्भीक ताजगी ने उनमें प्रखरता का सृजन किया। रूढ़ि–सम्मत सामन्ती दुराचारों और युगधर्मी मानवीय–विसंगतियों से लड़ना उनकी आदत बन चुकी थी। आदर्श मानव–समाज की स्थापना के लिए वे विकल थे। मानव त्रासदी से अशान्त उनका कवि–मानस आन्दोलित था। अतः समस्त विरूपताओं के विरूद्ध सब कुछ कहने के लिए उनकी वाणी को मुखर होना था। यहीं एक बात का उल्लेख कर देना संगत होगा कि जातीय स्तर पर कबीर अन्त्यज थे। कबीर ही नहीं अधिकांश सन्त–उपदेष्टा अन्त्यज थे। अतः तद्युगीन परिस्थितियों के मुताबिक वे शास्त्र–ज्ञान और मन्दिर–पूजा के हकदार नहीं हो सकते थे। अस्तु, वे करते क्या ? उनके पास चिन्तन की स्वतन्त्रता थी और ज्ञान की अनुभूत्यात्मक आँधी। यह सच है, कि जो प्राणी सम्प्रदाय, जाति और वर्ग से मुक्त रहकर चिन्तन को आकार देता है, वही सन्त होता है, कवि होता है, महापुरूष होता है। कदाचित् अतीत के लम्बा हो जाने पर वही महामानव कहलाता है, यंगपुरूष और अवतारी की संज्ञा अर्जित करता है। सन्तों की दृष्टि सारग्राही थी। अपने युग तक के प्रचलित सभी मतों से सारतत्त्व ग्रहण करते हुए उसे अपने अनुभव के धरातल पर प्रभावशाली ढ़ंग से उतारने की उन्होंने कोशिश की है। समाज में व्याप्त अन्धविश्वास और भेद–बुद्धि के प्रति सन्तों की चिन्ता ने शुद्ध मानववाद का प्रचार किया। सभी को ईश्वर की सन्तति समझना, मनुष्य मात्र को समान जानना, जाति और लोकधर्म के विभेद से मुक्त रहना तथा कुल मिलाकर उदार मानवताधर्मी दुष्टि को वाणी देना सन्तों के अभ्यास में शामिल था। इस तरह की समत्व दृष्टि और भ्रातृत्व–भावना का प्रथम रूप कबीर में लक्षित होता है। लोकोन्मुखता, मानवीयता और सामाजिक एकीकरण जैसी आदर्श भावनाओं के पवित्र ध्वज का कबीर ने उन्नयन किया है और इसीलिए हिन्दी साहित्य में मानवता के प्रथम कवि के रूप में उनकी प्रतिष्ठा की जानी चाहिए।

कबीर का क्रान्तधर्मी व्यक्तित्व, युगद्रष्टा स्वरूप, पन्थ–निरपेक्ष दृष्टि आदि उनकी महामानवतावादी वैचारिक ऊष्णता की चिन्गारियाँ है।वे हिन्दू–मुस्लिम–ऐक्य के लिए निरन्तर चिन्तनशील बने रहे। भारत की आधुनिक आजादी के जनक महात्मा गाँधी कदाचित् कबीर की इन्हीं

समष्टियों से प्रभावित थे। महामानव की कार्यविधि महामानव का सृजन करती है। जब कहा जा रहा हो कि आधुनिक युगद्रष्टा और चिन्तक महात्मा गाँधी मानवतावादी थे तो यह स्मरणीय रहे कि गाँधी जी कबीर की बानियों और चिन्ताधाराओं से प्रभावित थे। पारिवारिक पृष्ठभूमि मनुष्य का अधिक पोषण करती है। गांधी जी की माँ कबीर–पन्थ से प्रभावित थीं। माँ की इस दृष्टि का प्रभाव गाँधी पर पड़ा था। कबीर के अध्येताओं ने इस चिन्तन को रेखांकित भी किया है एक अध्येता की दृष्टि में गाँधी जी की सबसे बड़ी विशेषता–जो उन्हें कबीर के साथ ले जाकर रखती है, वह उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा है। वे हमेशा उस परमतत्व तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं जिसे उन्होंने कबीर के शब्दों में, अनिर्वचनीय ज्योति अथवा परम प्रकाश कहा है। उस दुर्बल से शरीर को लोककल्याण में प्रवृत्त होने की अनन्त शक्ति उसी ज्योति से प्राप्त हुई (गाँधी और कबीर : डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल)। गाँधी और कबीर दोनों ही कथनी और करनी में एक हैं। दोनों ही सत्योपासक हैं। दोनों ही रामभक्त हैं अतएव दोनों ही मानवतावादी हैं। कबीर का तो पूरा विश्वास है कि 'कहते हैं करते नहीं, सो तो बड़े लबार। आखिर धक्का खाइहैं साहिब के दरबार।' मन, वाणी और कर्म के सामंजस्य पर दोनों ही का जोर है। धर्म, समाज और नीति जैसे मानवीय चिन्तन के प्रति दोनों के दृष्टिकोण एक जैसे हैं।

कबीर ने द्वन्द्व और छल–रहित कथनी को करनी में बदलने का सुझाव दिया है। वे मानव–समाज की मौलिक एकता के पक्षधर थे। वे पूर्ण मानवता की स्थापना के लिए संकल्पित थे। नैतिक नियमों के आचरण पर उनका जोर था। संत–साहित्य के पंडित मानते भी हैं कि वे कपट, पाखंड, वाग्जाल तथा अत्याचार के घोर विरोधी थे। उसी प्रकार शुद्ध हृदय, सादगी, स्पष्टोक्ति तथा प्रेम के प्रबल समर्थक भी थे। इनकी क्रान्ति बाहरी विप्लव न होकर अन्तर्मुखी थी और मानवीय हृदय से ही सीधा सम्बद्ध थी। ये जीवन के किसी विशेष पहलू के सुधार पर ही अधिक जोर न देकर उसका पूर्णतः कायापलट कर देना चाहते थे।

भारतीय परिधि में मानवता–विषयक चिन्तन बड़े विशद धरातल पर हुआ है। टैगोर के एक चिन्तन का अंश लिया जा सकता है। उनका मानना है कि मानव आत्मा जब विश्वात्मा से अपना तादात्म्य कर लेती है तब मनुष्य सच्चे अर्थो में मानवधर्मी हो जाता है। विज्ञान अपने ज्ञान का विस्तार ग्रह–मंडल या उससे भी परे स्थित लोकों तक कर सकता है। दर्शन किसी ऐसे सार्वभौम सिद्धान्त का अन्वेषण कर सकता है जो सभी पदार्थो के मूल में स्थित हो। किन्तु धर्म अनिवार्यतः मानवता को ही केन्द्र में रखकर चलता है। वह मनुष्य को ही उदात्त बनाता है। यह धर्म–प्रेरित मानवता हमारी तार्किक चेतना को प्रदीप्त करती है। हमारे विवेक को प्ररित करती है, हमारी प्रेम–भावना को स्फूर्ति देती है और हमारे जीवन को बौद्धिक मर्यादा प्रदान करती है।

सामयिक सन्दर्भ में, जबकि युग–मानवता दिग्भ्रमित होकर किसी बेहतर राह की तलाश में है, कबीर प्रांसगिक हो उठते है। वैसे भी, कबीर जैसा निर्भीक और प्रखर कवि कभी अप्रासंगिक नहीं होता। उसका मानवता–विषयक संदेश कभी अतीत नहीं बनता।

हिन्दी साहित्य का संत काव्य रचना धर्मिता, सामाजिक–साँस्कृतिक चेतना, मूल्य–चेतना और भावात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की दृष्टि से बेजोड़ है। इस काव्य का अपना एक अलग सामाजिक–सांस्कृतिक इतिहास है जिसे राजनीतिज्ञों अथवा इतिहासज्ञों ने नहीं लिखा है। इस इतिहास को लिखा है इन सन्तों ने, जिन्होंने एक सामाजिक व्यक्ति की हैसियत से समकालीन सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की विसंगतियों, अलगावों, असमानताओं, विरोधाभासों एवं द्वन्द्वों को नजदीक से देखा ही नहीं, भोगा भी है। इस भोगे हुए यथार्थ को एहसास करने और करानेवाले रचनाकारों में कबीर अग्रगण्य हैं। वे एक सामाजिक और मानवीय रचनाकार हैं जिनकी मूल्य चेतना की अहमियत इसलिए है कि उन्होंने हिन्दू–मुस्लिम संस्कृतियों की असंगतियों और अन्तर्विरोधों को समझ कर एक मिली–जुली संस्कृति का निर्माण किया है। उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य–चेतना मध्यकालीन सामन्ती मूल्यों को अवश्य प्रक्षेपित करती है, पर यह सामन्ती मूल्य उनके काव्य का वास्तविक मूल्य नहीं है, यह केवल यथार्थ मूल्यों के उपजाने में सहायता प्रदान करती है। उनकी वास्तविक मूल्यचेतना लोक–चेतना है जो सामन्ती मूल्य–चेतना के समान्तर ही पल्लवित और विकसित होती है। उनके काव्य में मूल्य–चेतना का जो स्वरूप हमें साफ तौर पर दिखलाई पड़ता है, वह कई दिशाओं में जुड़ा हुआ है। इन विभिन्न दिशाओं के परिप्रेक्ष्य में कबीर के काव्य में मानव–मूल्यों की तलाश करना ही मेरा मुख्य सरोकार है।

कबीर का काव्य मानव–समाज और मानव–जीवन से जुड़ा हुआ काव्य है। मानव उसके काव्य का केन्द्र बिन्दु है। मानव को छोड़कर न तो वे समाज की मीमांसा करते हैं और न ही जीवन की। समाज और जीवन सापेक्ष रूप से काव्य की वस्तु से जुड़े रहते है। समाज मानव जीवन को व्यवस्थित करने की नियोजना करता है। जीवन को व्यवस्थित और गतिशील बनाने की पूरी प्रक्रिया समाज के सामाजिक–आर्थिक ढाँचे पर निर्भर होती है। संस्कृति का अस्तित्व समाज में भौतिक और बौद्धिक तत्वों के एक निश्चित योग के रूप में होता है जिनसे वह भौतिक तथा बौद्धिक वातावरण तैयार होता है, जिनसे मनुष्य जीवन बिताते और काम करते है। मानव–मूल्य कहीं से अचानक टपक नहीं पड़ते, बल्कि वह अपने सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक परिवेश और समय से उपजते है। वे बाह्यारोपित वस्तु न होकर, जीवन के सन्दर्भ में विकसित होते है। लुकाच मानता है कि मानव प्राणी का एक दूसरे के साथ वास्तविक रिश्ता एक सामाजिक जरूरत है, जिसको मनुष्य अपने आप में भी नहीं जानता, जिसको उसके कार्य, विचार और गतिविधियाँ संचालित करते है। पाश्चात्य

विद्वान मार्क्स, मैकेंजी और अरबन आदि ने मानवी मूल्य को आर्थिक अवधारणा के रूप में स्वीकार किया है। यह एक सीमा तक न्यायसंगत हो सकता है पर यह सामाजिक और सांस्कृतिक अवधारणा से भी सम्बन्द्ध है। आर्थिक अवधारणा से सम्बन्द्ध मूल्यों को भौतिक और सामाजिक अवधारणा से सम्बद्ध मूल्य को सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवधारणा से जुड़े मूल्यों को सांस्कृतिक (धार्मिक और आध्यात्मिक) मान लिया गया है। भौतिक और सामाजिक मूल्य वस्तुगत होते हैं और सांस्कृतिक मूल्य आत्मगत। प्रथम दो विषयगत है और तीसरा विषयीगत। वस्तुगत मूल्य यानी भौतिक और सामाजिक मूल्य सभी चेतना प्राणियों द्वारा सर्वस्वीकृत होते है, पर विषयीगत यानी सांस्कृतिक मूल्य सभी के लिए सर्वस्वीकृति नहीं हो सकते, बल्कि उस विराट् मूल्य का एक हिस्सा अवश्य हो सकते हैं जो सामान्य मनुष्य की अच्छी जिन्दगी के लिए आवश्यक होते हैं। हाब्स, स्पिनोजा, बेंथम और मिल आदि मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया कि मनोवैज्ञानिक हेतुओं से मूल्यों की निर्मिति होती है। जिनके पीछे मानव–स्वार्थ होता है। किन्तु प्रयोगों के आधार पर देखा जाय तो इन मनोवैज्ञानिक हेतुओं ने प्रसार के माध्यम से अपने स्वरूप को रूपान्तरित कर समाजपरक रूप धारण कर लिया। इसीलिए इन मनोवैज्ञानिका मूल्यों को अन्ततः सामाजिक मूल्यों के भीतर प्रवेश मिल गया।

भारतीय वाङ्मय में मानवी–मूल्यों की जो परम्परा दिखलाई पड़ती है वह ईश्वरवादी, अध्यात्मवादी, धर्म प्रधान और भाववादी ही है। ईश्वर सगुण हो या निर्गुण, उसकी उपासना के लिए कुछ विशिष्ट मूल्यों की सर्जना की गयी थी। ये विशिष्ट मूल्य थे, ज्ञान, भक्ति, और कर्म। भारतीय प्राचीन और मध्यकालीन मनीषियों ने ही नहीं, आधुनिक विद्वानों ने भी इन मूल्यों को एक सामाजिक आधार प्रदान किया है। धीरे–धीरे इन प्रमुख मूल्यों के कारक तत्वों, प्रेम, श्रद्धा और विश्वास, को मूल्य के रूप में स्वीकार कर लिया। उपनिषद्काल के पहले इन मूल्यों के साथ मनुष्य जुड़ा हुआ था, पर इस काल में मनुष्य अनुपस्थित हो गया। आत्मा–परमात्मा का चिन्तन ही इसमें प्रमुख था। किन्तु रामायण और महाभारतकालीन समाज में परिवेश और समय के प्रभावश धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को मूल्यों की श्रेणी मे रखा जाने लगा। इन मूल्यों के केन्द्र में मनुष्य फिर उपस्थित हो गया। इसके बाद के आचार्यो ने मूल्य–संबंधी अवधारणा को एक सांस्कृतिक क्रान्ति के रूप में देखा और उसके तहत सत्यं, शिवं और सुन्दरम् के मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। वेदान्ती लोग इसके केन्द्र में ईश्वर को रखकर इन मूल्यों को महत्व देते हैं, पर मध्यकालीन आचार्यो ने इसका विरोध कर इसे सामाजिक स्वरूप प्रदान किया और उसे मनुष्य–केन्द्रित माना क्योंकि इन मध्यकालीन आचार्यो का दर्शन समाज से उपजा था। कालान्तर में इस दर्शन में कर्मकाण्ड ने प्रवेश किया जिसका विरोध बौद्धों और जैनाचार्यो ने किया। चार्वाक या लोकायत दर्शन ने इन आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति

वैचारिक विद्रोह किया जिसका सामान्य जनता ने समादर किया। उन्होंने आध्यात्मिक मूल्यों के स्थान पर भौतिकवादी मूल्यों की प्रतिष्ठापना की। मनुष्य इस दर्शन का मूलाधार था। आर्थिक सम्पन्नता से ही मनुष्य को मनमानी वस्तु सुलभ हो सकती है, ऐसा उनका मानना था। धन ही सभी इच्छाओं की पूर्ति करने का साधन बन गया। सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों के निर्धारण में इनकी भूमिका महत्वपूर्ण है। इस तरह ये मूल्य एक ओर भावगत या आत्मगत रूप से विकसित हुए दूसरी ओर भौतिकवादी या वस्तुगत रूप में। इसे ही क्रमशः व्यक्गित और समष्टिगत मूल्य के रूप में देखा जाता है।

मध्यकालीन भक्ति–आन्दोलन एक जन–आन्दोलन ही नहीं, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक आन्दोलन भी था जिसकी अगुआई कबीर ने की थी। इस आन्दोलन में निम्नवर्गीय लोगों की भूमिका सबसे अधिक थी। इस आन्दोलन को प्रगतिशील बनाने में अछूत–शूद्र, जुलाहों, बनुकरो, कारीगरों, हरिजनों, किसानों और छोटे उद्योग–धन्धों में लगे लोगों ने जो भूमिका निभायी है उसमें कबीर प्रमुख थे। यह आन्दोलन सामाजिक अन्तर्विरोधों के कारण उत्पन्न हुआ था। इस अन्तर्विरोध को उपजाने वाले उच्चवर्गीय लोगों में सबसे अधिक भूमिका निभायी थी सामन्तों और नवाबों ने। निम्नवर्गीय जातियों का विरोध दोहरा था। एक ओर सामन्ती शोषण तंत्र और दूसरी ओर कर्मकाण्डी पुरोहितवादी व्यवस्था का उन्होंने घोर विरोध किया। कबीर ने वर्णगत धर्म की जर्जर रूढ़ियों और सामन्ती मूल्यों का विरोध कर सहिष्णुता और भाईचारे का मार्ग प्रशस्त किया।

प्रस्तुत अध्ययन को सात अध्यायों में विभक्त करके हमने कबीर को परखने का प्रयास प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में किया हैं–

प्रथम अध्याय में कबीर के जीवन चरित के सम्बन्ध में व्यापक विविध विसगंतियों को दूर करके प्रामाणित मत प्रस्तुत करते हुए उनके जीवन चरित को प्रस्तुत किया गया हैं। इस अध्याय में कबीर के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया हैं। जाति पाँति और रूढ़ियों के विरोध का शंखनाद कबीर काशी में करते हैं तो उसकी अनुगूँज सम्पूर्ण भारत में सुनाई पड़ती हैं। सामाजिक संघर्ष कबीर को विरासत में मिलता हैं। वे घर बारी योगी हैं तथा वे अपने परिवार से जुड़कर साधना में लीन रहते हैं। इस सन्दर्भ में कबीर अपना पर्याय स्वयं हैं।

द्वितीय अध्याय में उनके सामाजिक और धार्मिक विषयक चिंतन को जानने का प्रयास हैं। इनके सामाजिक पक्ष को सामने रखने से यह तथ्य निष्पन्न होता हैं कि कबीर के समय में वि.स. 1455 से वि.स. 1575 तक की सम्पूर्ण देश की सामाजिक स्थिति लगभग समान ही थी। उस समय में पाखण्डो, ढोंगो, मिथ्याचारों की जो स्थिति काशी में नजर आती हैं, वही स्थिति देश के सम्पूर्ण

समाज में भी दृष्टि पथ में आती हैं। कबीर को इन सबसे लोहा लेना पड़ा। ये संत मूलत साधक हैं, किन्तु जिस समाज में रहतेहैं उसे अनदेखा भी नहीं कर सकते। इसलिए इन्होंने अपने समय और स्थान के धूर्तो को खूब फटकारा हैं। विसंगतियों से भरपूर समाज में उन्हैं पग–पग पर बाधाओं का सामना करना पड़ा। फलतः कबीर ने पहले इन सामाजिक बाधाओं को दूर करने की ठान ली।

द्वितीय अध्याय को चार भागों में विभाजित कर अध्ययन किया गया हैं जिसमें कबीर के युग की सामाजिक स्थिति, कबीर के युग की धार्मिक स्थिति, सामाजिक और धार्मिक यथार्थ, आन्तरिक व बाह्य रूढ़िवादिता नाम दिया गया हैं।

इसमें कबीर ने कुसंस्कारों, बाह्यचारों, मिथ्याचारों और पाखण्डो का खण्डन जोरदार शब्दों में किया हैं। कबीर ने जाति–पाँति, ऊँच–नीच, अमीर, गरीब, छूआछूत के भेदभाव को समाप्त करके समता प्रधान समाज की स्थापना का प्रयास किया। ये समाज में फैले अंधविश्वासों पर कुठाराघात करने मे हिचकिचाए नहीं। पण्डों, मुल्लाओं,, मांस खाने वालों, जन्म से ऊँचा कहने वालों, गद्दीधारी महन्तों, मूर्तिपूजा को सभी की पोल खोलने में इन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी। करनी–कथनी एकता पर बल देकर कबीर ने स्वस्थ समाज के निर्माण का अनथक प्रयास किया।

इनका उद्देश्य समाज को गढ घोलकर साफ और सुन्दर दिखाने का नहीं, अपितु उनका यथार्थ वर्णन करके उसके दोषों को दूर करने का हैं। इनका भक्त रूप प्रायः सभी आलोचको द्वारा स्तुत्य रहा हैं किन्तु उनका समाज के विगलन कर्त्ताओं के प्रति क्षोभ, समाज की ध्वंसक कुरूपता के दृश्यों को संजाने में उन्होंने जो भगीरथ प्रयत्न किया हैं, वह प्रायः उन आलोचकों की आँखों से ओझल हो गया। ये सामाजिक चेतना के कवि थे। प्रत्येक सामाजिक चेतना सम्पन्न व्यक्ति ऐसा ही करता हैं जैसा कि कबीर ने किया। कबीर एक चेतना हैं छद्मी और पाखण्डी लोगों के प्रति इनका आग बबूला होना इसलिए असंगत नहीं हैं।

तृतीय अध्याय में कबीर का हिन्दू–मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप का अध्ययन किया गया हैं। इसमें हिन्दू मुस्लिम समाज के समन्वय का स्वरूप, कबीर की दार्शनिक पृष्ठभूमि, कबीर और मानवता, कबीर के काव्य में मानव मूल्यों की तलाश, कबीर की ब्रह्म सम्बन्धि अवधारणा को प्रस्तुत किया गया हैं। इसका साहित्य मात्र बौद्धिक विश्लेषण या जिज्ञासा निवृति नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व की व्याख्या प्रस्तुत करता हैं उन्होंने मनुष्यों के जीवन यापन के लिए विधि–निषेध के रूप में जीवन की एक शाश्वत नैतिक व्यवस्था का प्रतिपादन किया हैं। तथा मूल्यों की व्यावहारिकता पर बल दिया। कबीर ने तो उन्हीं बातों को कहा जो मानव की मूल प्रवृतियों से जुड़ी

हुई थी। इनके द्वारा प्रस्तुत तथ्य शाश्वत सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं। इसलिए इनका साहित्य कभी बासी नही हुआ।

वैसे तो सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य ही मूल्य परक हैं, किन्तु कबीर का साहित्य उसमें बेजोड़ हैं आज के आपाधापी से भरपूर समाज में इन मानव–मूल्यों की गहरी आवश्यकता हैं। यह सत्य हैं कि ये मूल्य 'मूध्ययुग' के हैं। किन्तु आज भी दया, ममता, करूणा, आस्था, श्रद्धा, विश्वास, आपसी भाईचारे की उतनी ही आवश्यकता हैं जितनी उनके अपने युग में थी।

चतुर्थ अध्याय में कबीर के काव्य संकलन की समीक्षा और सृजन की विविधता को प्रस्तुत किया गया हैं। इस अध्याय में कबीर द्वारा रचित गुरूदेव कौ अंग, सुमिरण को अंग, चितावणी कौ अंग, कथनी बिना करणी कौ अंग, काल कौ अगं, कुसगंति कौ अंग, उलटबाँसियां तथा भारतीय धर्मसाधना में कबीर का स्थान का अध्ययन किया गया हैं। इसमें कबीर के दार्शनिक विचारों को जानने का प्रयास हैं। कबीर का राम सगुण और निर्गुण की समन्वयात्मक सत्ता हैं। कबीर के दार्शनिक विचार किसी एक दर्शन की परम्परा का अनुसरण नहीं करते हैं। वे सारसंग्रही की तरह आवश्यक को ग्रहण करते हैं और अनावश्यक को छोड़ देते हैं। कबीर ने राम, कृष्ण, हरि, शिव के नाम भेद को अस्वीकार किया हैं। और वे राम,रहीम, अल्लाह, शिव, हरि, निंरजन को एक ही दृष्टि से देखते हैं। कबीर पारमार्थिक दृष्टि से जगत की सत्ता नहीं मानते, बल्कि समस्त जगत में उस आत्माराम को व्याप्ति मानते हैं। वे इसे बाजीगर की बाजी मानते हैं। उनकी पुर्नजन्म में आस्था नहीं हैं।

पंचम अध्याय में कबीर का स्थान व निर्गुण भक्ति को दर्शाया गया हैं इसमें हिन्दी साहित्य में कबीर का योगदान, समाज सुधारक कबीर, कबीर की निर्गुण भक्ति, वर्तमान में कबीर की साखियों का महत्व, साखियों के आधार पर कबीर का मूल्यांकन की चर्चा की गई हैं। इसमें कबीर की साधना पर नाथपथियों का प्रभाव हैं, किन्तु उसकी साधना नाथपंथियों से भिन्न भी हैं। नाथपंथियों का आराध्य शिव हैं और कबीर का आराध्य 'राम' हैं। हठयोग के आधार पर शरीर को कष्ट देकर कुण्डलिनी जागृत करना या अन्य साधनाओं की चर्चा कबीर नहीं करते हैं। ये संत अपने समय में प्रचलित सभी योग साधनाओं के सारतत्व को ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। आचरण शुद्धि पर इनका बल हैं। कबीर ने सदगुरू के महत्व को सर्वोपरि माना हैं। कबीर अपने आराध्य की सेवा में अभिरत होकर मोक्ष को भी तुच्छ मानते हैं यहाँ तक कि कबीर तो अपने 'राम' के लिए स्वर्ग को तिलाजंलि देकर नरक भोगने के लिए भी तैयार हैं। कबीर की भक्ति नारदीय प्रेमाभक्ति हैं। इसके लिए बाह्य विधान की आवश्यकता नहीं। कबीर साध्य और साधक में अभेद स्थापित करके

इसे ही चरम आनन्द या मोक्ष मानते हैं। कबीर वैधानिक प्रपंचो से कोसो दूर अपने आराध्य के प्रति उत्कृष्ट प्रेम पर बल देकर आराध्य को प्राप्य मानते हैं। वे बाह्यचारों का विरोध करते हैं, इनकी साधना अपनी ही तरह की सहज साधना हैं।

षष्ठम अध्याय में कबीर के काव्य का शिल्प विधान तथा काव्य भाषा को लेकर चिंतन किया गया हैं। कबीर की भाषा तत्कालीन समय की बोलचाल की हिन्दी भाषा हैं। कबीर का साहित्य गेय हैं और विविध राग–रागनियों में निबद्ध भी हैं। इनके पद आज भी गए जाते हैं। अलंकारों का प्रयोग इनका उद्देश्य नही रहा हैं,किन्तु कथन की भंगिमा के साथ अलंकार स्वतः उपस्थित हो गए हैं।

सहिष्णुता और भाईचारा ही वह मानव–मूल्य है जो सभी प्रकार के भेद–भाव को समाप्त कर मानव को मानव बनाता है। समाज की रूढ़ियों ने धर्म को खोखला और विकृत कर दिया था जिसके कारण वह साम्प्रदायिक खेमों उपखेमों में बंट गया। पुरोहित कर्म ने इस धर्म के स्परूप को ही बदल डाला। उन्होंने कर्मकाण्ड को वास्तविक धर्म बताकर सामान्यजनों को फाँस लिया। इस्लाम धर्म के आगमन से धार्मिक विद्वेष बढ़ा। शासक जाति के लोगों ने हिन्दू–शूद्रों को रूपान्तरित कर अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया। यही हिन्दू–मुस्लिम संघर्ष का मूल कारण था। सुल्तान सिकन्दर लोदी ने मथुरा और अन्य स्थानों में मंदिरों को नष्ट कर दिया था। तैमूर ने एक दिन में एक लाख हिन्दुओं को मौत के घाट पहुँचाया था। कबीर ने हिन्दू धर्म और इस्लाम धर्म की विसंगतियों, न्यूनताओं, द्वन्द्वों को समाप्त करने के लिए ही 'मानव धर्म' को नये सिरे से विस्तार दिया था। उन्होंने जनता को समझाया कि ईश्वर न तो काबे में है और न कैलाश में, न मस्जिद में है और न मंदिर में। वह तो तुम्हारे भीतर वाले मंदिर (घट–शरीर) में स्थित है। बाहर उसे खोजना व्यर्थ है। यदि वास्तविक मथुरा, द्वारिका, काशी को खोजना चाहते हो तो तुम अपने शरीर में ढूँढो।

मंदिर, मस्जिद और तीर्थस्थान आदि मनुष्यता को खण्डित करने वाली वस्तुएँ हैं। इनसे नाता तोड़कर ही एकता स्थापित की जा सकती है। वे निर्धन उसे नहीं मानते जिसके यहाँ धन का अभाव हो। उनकी दृष्टि में निर्धन वह है जो मानवी मूल्यों से वंचित रहता है। जिसके हृदय में राम का निवास नहीं होता, उन्हें भी वे निर्धन कहते हैं। वे निर्धन और धनी में अन्तर नहीं मानते : 'निरधर सरधन दानों भाई। प्रभु की कला न मेटी जाई।' लोकवेद, वेद–पुराण, मुल्ला–पाण्डे, मंदिर–मस्जिद, कर्मकाण्ड, तीर्थयात्रा, जप–तप, व्रत–पूजा आदि का जितना विरोध कबीर ने किया है वह सब एकता स्थापित करने के लिए ही। यह एकता उनके सामाजिक–सांस्कृतिक पुनरूत्थान का एक अंग था। उन्होंने प्राचीन जर्जर परम्पराओं, पौराणिक हिन्दू–मतों, आडम्बरों–पाखण्डो,

अंधविश्वासों का ही विरोध नही किया, बल्कि मुसलमानों की आडम्बरपूर्ण परम्पराओं का भी खण्डन किया था। इस्लाम, धर्म, समाज और संस्कृति में जो विकृतियाँ आयी थीं उसका उत्तरदायित्व मुस्लिम शासकों, काजी और मुल्लाओं को है। कबीर ने मानवमात्र की समता की उद्घोषणा करते हुए समझाया कि इन पंडितो, काजियों और मुल्लाओं को अपनी मुक्ति के रास्ते का ज्ञान नहीं है फिर क्यों कर दूसरों को रास्ता सुझाएँगे। उन्होंने विकल्प के रूप में भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया, वह भी निर्गुण ब्रह्म की भक्ति का। इस मार्ग को न तो सिद्ध–नाथों और न तो पण्डितों–मुल्लाओं ने इसके पूर्व जाना था। भक्ति को उन्होंने मानव–मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया है। इस भक्ति से धीरे–धीरे कई मूल्य विकसित हुए। क्षमा, शील, दान, धैर्य, परहित, संतोष, अहिंसा, काम–क्रोध–मद–लोभ–मोह से विरक्ति, कपट–त्याग तथा माया आदि से विरक्ति इनमें प्रमुख हैं। ये ही नैतिक मूल्य हैं जिनके अभाव में समाज का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संतुलन बिगड़ जाता है।

कबीर का निर्गुण ब्रह्म ही परब्रह्म है। यह केवल जिज्ञासा की वस्तु नहीं है, वह साधक के सुख–दुख का भागी है। वे सगुण ब्रह्म के नाम जैसे राम, हरि, गोविन्द, माधव, केशव, माधव–मुरारी शब्दों का प्रयोग अपने काव्यों में करते हैं। इसका आशय यह नहीं कि कबीर सगुणोपासक हैं। वे एक निर्गुणोपासक भक्त है। उनके राम न तो अवतारी हैं और न दशरथ के पुत्र। वे अगम्य और अगोचार हैं। उनकी कोई जाति नहीं है। उनके कुल–परिवार का भी अता–पता नहीं है। उसे किसी विचारधारा के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। वह स्वतंत्र और सबमें स्थित हैं। आत्मा ही उसका घर (मंदिर) है। वे आत्मा–परमात्मा के अन्तर्सबंधों को उद्घाटित करते हुए वि व–मानवों को एकता के सूत्र में बाँधने की चेष्टा करते हैं। इसी सन्दर्भ में वे भेदवादी और अलगाववादी अवधारणाओं की आलोचना करते हैं। उनका यह आलोचनात्मक कर्म सर्जनात्मक है। वे आध्यात्मिक विचारों को सामाजिक और सांस्कृतिक आधार प्रदान करते हैं। विलासिता में पड़े जीव इस 'राम' और उसके 'नाम' तक को नहीं जानते।

कबीर ने मोक्ष को जीवन–त्याग के अर्थ में स्वीकार नहीं किया है। वे सृष्टिचक्र, पुनर्जन्म और मोक्ष को लोक से जोड़कर मीमांसा करते है। उनका मोक्ष न तो काल्पनिक है और न निरपेक्ष और अमूर्त। वह सापेक्ष मूर्त और सामाजिक मुक्ति से जुड़ा हुआ है। उस काल का धार्मिक आन्दोलन और भक्ति आन्दोलन दोनों सामाजिक व्यवस्था के प्रति क्रान्तिदर्शी विप्लव था।

कबीर एक क्रान्तिकारी रचनाकार है। उनकी यह क्रान्ति चेतना आर्थिक–सामाजिक दबावों का परिणाम है। आर्थिक साधनों के अधिकार के वंचित और सामाजिक असमानता के शिकार

निम्नवर्गीय लागों की स्थिति को देखकर उनका मन द्रवित हो उठा। धार्मिक कर्मकाण्डों और पाखण्डों के विस्तार और रूढ़ियों ने उन्हें मंदिर–प्रवेश की अनुमति प्रदान नहीं की। इन सभी कारणों ने उन्हें विद्रोही बना दिया। उन्होंने जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, समाजगत और सम्प्रदायगत विषमताओं को नष्ट करने के लिए जातीय चेतना को विकसित किया। इसी जातीय चेतना के बलपर उन्होंने मानव–धर्म का विस्तार किया। वे सही रूप में मानव–धर्म के संस्थापक थे। प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, विश्वास, एकता, समता, ज्ञान, सत्यता, स्वतंत्रता आदि सभी मानवी मूल्य इस धर्म में समाहित थे। मानव–मूल्यों के बल पर ही वे व्यक्ति और समाज के परिष्करण की बात करते हैं। वे विश्व के सभी मानवों को केवल मानव मानते हैं। और जाति, वर्ण सम्प्रदाय आदि के खाँचे को बेकार सिद्ध करते है। मानव ही उनके काव्य का केन्द्रबिन्दु है। उनकी यही सोच उन्हें एक मानववादी रचनाकार बना देता है।

विभिन्न विद्वानों के तर्कों से यह तथ्य प्रमाणित किया गया हैं कि कबीर का साहित्य वनज कमजमक नहीं हैं। बल्कि उसकी आवश्यकता आज भी उतनी ही हैं जितनी उनके अपने युग में थी। कबीर अपने क्षेत्र में बेजोड़ हैं। इनका साहित्य जितना कारगर उनके युग में था उतना ही कारगर आज भी हैं इसीलिए इनका साहित्य कालजयी हैं। ये जितने बड़े सन्त और भक्त हैं उतने ही बड़े समाज सुधारक और साहित्यकार भी हैं। मध्ययुग में जो चेतना इस ंसत ने जगाई हैं, उसने एक अनूठा रूप धारण कर लिया हैं। इसीलिए कबीर एक व्यक्ति न रहकर एक चेतना का प्रतीक बन गया हैं।

♦♦♦♦

संदर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्र.स.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	प्रकाशन एवं प्रकाशन वर्ष
1	अबार्कियालाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (भाग–2)		न्यू सीरिज नार्थ वैस्टर्न प्राविसेज
2	अरबरूनीज इण्डिया (भाग–1)	मुहम्मद बिन अहमद बकनी	Edwardc Sachan (Editor) London kegan pauz Troner
3	आक्सफोर्ड स्टूडेण्डस हिस्ट्री ऑफ इण्डिया	बी.ए. स्मिथ	ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटि प्रेस
4	आदि ग्रन्थ	अनुवाद डॉ. मनमोहन सहगल	भुवन वाणी, मौसमबाग, लखनऊ
5	उत्तरी भारत की संत परम्परा	परशुराम चतुर्वेदी	भारतीय भण्डार, (इलाहाबाद, सं. 2021)
6	इकानामिक हिस्ट्री ऑफ देल्ही सल्तन	इफरान हबीब	
7	एग्रीयन सिस्टम ऑफ मुस्लिम इण्डिया	लु. डब्लू.एच मोरलेंड	
8	कबीर ग्रन्थावली	डॉ. पारस तिवारी	हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग 1961
9	.कबीर ग्रन्थावली	डॉ. माताप्रसाद गुप्त	लोक भारती भण्डार, इलाहाबाद, 1972
10	कबीर ग्रन्थावली	डॉ. श्यामसुन्दर दास	मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, 2016
11	कबीर	हजारी प्रसाद द्विवेदी,	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
12	कबीर वचनावली	पं. अयोध्या सिंह उपाध्याय	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं. 1960
13	कबीर के धार्मिक विश्वास	डॉ. धर्मपाल मैणी	भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़, 1964
14	कबीर साहब	डॉ. शुकदेव सिंह	कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र वाराणासी, प्रथम संस्करण, 1975
15	कबीर वाणी सत्यज्ञाना मृत	लालचन्द दूहन 'जिज्ञासु'	मनोज पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2014
16	कबीर मींमासा	डॉ. रामचन्द्र तिवारी,	लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2011
17	कबीर साहित्य की प्रांसगिकता	सं. विवेकदास	कबीर वाणी प्रकाशन केन्द्र, वाराणसी, 1978
18	कबीर	विजेन्द्र स्नातक	साहित्यगार प्रकाशन, 2001
19	कबीर ग्रन्थावली सटीक	डॉ. हरिहर प्रसाद गुप्त	जयभारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2007
20	कबीर बीजक साखी	शुकदेव सिंह	नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972

21	कबीर व्यक्तित्व–कृतित्व एवं सिद्धान्त	डॉ. सरनाम सिंह शर्मा	भारतीय शोध संस्थान, गुलाबपुरा, 1966
22	कबीर साहित्य की परख	परशुराम चतुर्वेदी	भारती भण्डार, प्रयाग सं. 2011 वि.
23	कबीर वाड़्मय (खण्ड 1)	डॉ. जयेदव सिंह	नीलाम प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004
24	कबीर के काव्य रूप	डॉ. नजीर मुहम्मद	भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, 1964
25	कबीर काव्य कोश	डा. वासुदेव सिंह	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
26	कबीर चिंतजनया सन्दर्भ	डॉ. गुरनाम कौर बेदी	निर्मल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1996
27	कबीर दास दृष्टि और सृष्टि	डॉ. शिवाजी नामदेव देवारे	गरिमा प्रकाशन, कानपुर,2004
28.	कबीर और कबीर पंथ	केदारनाथ द्विवेदी	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1965
29	कबीर जीवन और दर्शन	उर्वशी सूरती	लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, 2008
30	कबीर हिज बायोग्राफी	डॉ. मोहन सिंह	जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007
31	कबीर सागर	स्वामी युगलानन्द	मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, 2016
32	कबीर साहित्य का अध्ययन	पुरूषोत्तम श्रीवास्तव	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002
33	कबीर की विचार धारा	गोविन्द त्रिगुणायत	साहित्य निकतन, कानपुर, सं. 2024
34	कबीर साहब की परचई	अनन्तदास	देव प्रकाशन, दिल्ली 2012
35	कबीर मंसूर	स्वामी परमानन्ददास	लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेम प्रकाशन, बंबई, 1999
36	कबीर कसौटी	बाबू लहना सिंह	कला प्रकाशन, वाराणसी, 2002
37	कबीर चरित्र बोध	स्वामी युगलानन्द	लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस प्रकाशन, बंबई
38	काव्य में रहस्यवाद	पं. रामचन्द्र शुक्ल	साहित्यघर प्रकाशन, जयपुर, 1998
39	कान्ट एण्ड क्लासेज इन इण्डिया	जी.एस.घुरे	
40	ग्लिमसेस ऑफ मिडिएवल इण्डियन कल्चर	डॉ. युसुफ हुसैन	
41	गुरू ग्रन्थ साहिब		शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबंधक कमेटी, अमतृसर 1961
42	घट रामायण	तुलसी साहब	गीता प्रेस गोरखपुर, 2012
43	तवारिखे फरिश्ता		
44	तुलसी साहब (हाथरस वाले) की शब्दावली (पहला भाग)		सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 2013
45	तुलसी ग्रन्थावली	रामचन्द्र शुक्ल	पंचशील प्रकाशन जयपुर 2006

46	दादूवानी	सं. परशुराम चतुर्वेदी	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी सं. 2023
47	दिल्ली सल्तन	रतिभानु सिंह 'नाहर'	रूपकमल प्रकाशन, दिल्ली 1997
48	द्वादस पंथ	धर्मदास	सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, 1993
49	नारदीय भक्ति सूत्र		गीता प्रेस गोरखपुर, 2009 दि.
50	निर्गुण काव्य प्रेरणा और प्रवृति	डॉ. रामसजन पाण्डेय	सद्भावना प्रकाशन, दिल्ली, 1993
51	निर्गुण स्कूल ऑफ हिन्दी पोइट्री	डॉ. बड़थ्थवाल	The Indian Book Shop] Bexares, 1956
52	ना. पृ. प. कबीर का जीवन वृत्त (भाग–14)	चन्द्रवली पाण्डेय	सरस्वती विलाप प्रेम, नरसिंहपुर, 1991
53	नाथ सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य का इतिहास	हजारी प्रसाद द्विवेदी	नैवैद्य निकेतन, वाराणसी, 1966
54	पलटू साहब की बानी (पहला भाग)		वेल वेडियर प्रेम, प्रयाग, 2012
55	पराशर स्मृति		गीता प्रेस गोरखपुर, 2011
56	प्रसाद का जीवन दर्शन कला और साहित्य	डॉ. रामेश्वर लाल खण्डेलवाल	हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, 1996
57	ब्रह्मण, थिदूट्स एण्ड मुस्लिम इन इण्डिया	जान कम्बबेल ओमान,	वेलयेडियर प्रेस प्रयाग, 1992
58	भारतीय मध्य युग का इतिहास	डॉ. ईश्वरीय प्रसाद	
59	मिडिएवल इण्डियन कल्चर	डॉ. आशीर्वादी लाल	अजंता प्रेम लिमिटेड, इलाहाबाद, 1986
60	मध्यकालीन भारत का इतिहास	अवध बिहारी पाण्डेय	कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 2015
61	मनुस्मृति		गीता प्रेस, गोरखपुर, 1982
62	मन्त्रयान, ब्रजयान चौरासी सिंद्ध	गंगा पुरातत्वांक	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1998
63	भक्तमाल	श्री ब्रजवल्लभ शरण	गीता प्रेस गोरखपुर, 2002
64	भक्तमाल सटीक	सीताराम शरण भगवान प्रसाद	गीता प्रेस गोरखपुर 1999
65	भक्तकाल की टीका	प्रियादास	वेलयेडियर प्रेस प्रयाग, 1981
66	पद्मावत	सं. वासुदेवशरण अग्रवाल	साहित्य सदन चिरगांव, 2018वि.
67	मुस्लिम रूल इन इण्डिया		
68	पराशर स्मृति		गीता प्रेस, गोरखपुर, 1997
69	भक्तमाल	नामादास	नवल किशोर प्रेस, लखनऊ 1951
70	रज्जबः महामुनि सर्वांगी साध महिमा	डॉ. सत्येन्द्र	देहाती पुस्तक भण्डार, नई दिल्ली 2012
71	रेहला : इब्बतूता		
72	युग पुरूष कबीर	डॉ. रामलाल वर्मा एवं रामचन्द्र वर्मा	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
73.	श्वेताश्वेंतर उपनिषद		गीता प्रेस, गोरखपुर, सं. 2038

74	शब्द और अर्थ : सन्त साहित्य के सन्दर्भ में	डॉ. राजदेव सिंह	कला प्रकाशन, वाराणसी 2002
75	सन्त कबीर का साहित्य	डॉ. बिन्दु दूबे	कला प्रकाशन, वाराणसी 2002
76	सुन्दर ग्रंथावली	पुरोहित हरिनारायण शर्मा	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 1999
77	दी सिख रिलिजन	मैकलिक	वेलयेडियर प्रेम, प्रयाग, 1987
78	संत सुधाकर	सं. श्री वियोगी हरि	सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली 1953
79	संत कबीर	डॉ. रामकुमार वर्मा	साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, 1957
80	संत कबीर	माता प्रसाद गुप्त	ज्ञान सागर प्रेस, बम्बई, 1989
81	संत नामदेव का काव्य और संगीत तत्व	डॉ. पुष्पा जौहरी,	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, 2011
82	साहित्य का मर्म	हजारी प्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
83	संत कवियों का छंद प्रयोग, सं. परम्परा	डॉ. शिवनन्दन प्रसाद	साहित्य निकेतन, कानपुर सं. 2024
84	हारीत स्मृति	पं. हरिहर प्रसाद त्रिपाठी	चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
85	हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब	प्रो. जदुनाथ सरकार	
86	हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	श्याम प्रकाशन, जयपुर, 2009
87	हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि	डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत	प्रगति प्रकाशन, आगरा, 1961
88	हिन्दी संत साहित्य	डॉ. टी.एन.दीक्षित	सरोज प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993
89	हिस्ट्री एण्ड कल्लर ऑफ दि इण्डियन	हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपुल (ग्रन्थ–6)	
90	हिन्दी काव्य धारा	राहुल सांकृत्यायन	किताब महल इलाहाबाद 2004
91	हिन्दी साहित्य का आदिकाल	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी	विहार राज भाषा परिषद् परवा, 1961
92	हिन्दी साहित्य की भूमिका	डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी	श्याम प्रकाशन, जयपुर, 2010
93	हिन्दी साहित्य का इतिहास	डॉ. हरिश्चन्द्र शर्मा, डॉ. रामनिवास गुप्त	सद्भावना प्रकाशन, दिल्ली, 1943

पत्र–पत्रिकाएँ

1. साप्ताहिक हिन्दुस्तान – 21 अप्रैल 1984
2. नई दुनिया – 28 अक्टूबर 1981
3. कादम्बिनी – जुलाई 1992
4. आलोचना (साहित्य इतिहास विशेषांक) दिल्ली, अक्टूबर 1952

कोश

1. मानक हिन्दी कोश – सं. रामचन्द्र वर्मा (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 2007)
2. वृहत हिन्दी कोश – सं. कालिना प्रसाद, ज्ञानामण्डल लिमिटेड, वाराणसी, सं. 2020
3. हिन्दी साहित्य कोश – सं. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, 1985
4. अमर कोश – टीनाकर श्री पु. हरगोविन्द शास्त्री
5. उर्दू – हिन्दी शब्दकोश – सं. मुहम्मद खॉ मद्दाह, (उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ 1959)

♦ ♦ ♦ ♦

प्रकाशित शोध पत्र

ISSN 2347-4041

संस्कार चेतना
संस्कार चेतना

प्रथमां विश्ववारां तां संस्कृतिं स्वयुगानुगाम्। संस्कारचेतना धत्ते वसुधैव कुटुम्बकम्॥

वर्ष-07
अंक-06
फरवरी, 2018

साहित्य, शिक्षा,
वाणिज्य, मानविकी,
विज्ञान एवं सभी विषयों की

संस्कार चेतना

संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना
संस्कार चेतना

अन्तरराष्ट्रीय मूल्यांकित शोध पत्रिका (मासिक)

INTERNATIONAL REFEREED RESEARCH JOURNAL

प्रधान संपादक
डॉ. विजय दत्त शर्मा, पूर्व निदेशक,
हरियाणा ग्रन्थ अकादमी, पंचकूला

संपादक
डॉ. केवल कृष्ण

"उदाचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"

शोध चेतना अकादमी
'वसुधैव कुटुम्बकम्' संस्कृति सेवा आयाम (पंजी.)

✓ भंवर सिंह सामौर के गद्य साहित्य में मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा
भानीराम मेघवाल 332-334

✓ मोहन राकेश के उपन्यास 'न आने वाला कल' में आज के समाजार्थिक सरोकार
डॉ. हरिन्दर कुमार 335-340

✓ प्राचीन भारतीय राज्य : उत्पत्ति एवं स्वरूप
डा. ब्रह्मप्रकाश, डा. अमित शर्मा 341-344

✓ अम्बेडकर चिंतन के आलोक में ओमप्रकाश वाल्मीकि के कहानी संग्रह 'सलाम' का विश्लेषणात्मक अध्ययन
डॉ० आराधना 345-350

✓ Cashless Economy: Prospects and Challenges for Unorganized Sector in Hazaribag
Vivek, Barnango Banerjee 351-359

✓ Suffering in Silence: A Sociological Cogitation of Menstrual Practices
Minakshi Rana 360-369

✓ सियारामशरण गुप्त के काव्य में राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक नवजागरण
डॉ. मुकेश कुमार 370-372

✓ महाकवि सूरदास के काव्य में होली वर्णन
अनीता रानी 373-375

✓ सातवें दशक की सर्वोत्तम व्यंग्य कृति : 'रागदरबारी'
मोनिका व्यास 376-383

✓ Cybercrime Investigation Mechanism in India
Karan Sangwan 384-391

✓ Law Relating to Protection of Women in India: Some Drawbacks
Pushpa Kumari 392-399

✓ Mental Health Care Act, 2017 : Issues and Concerns
Dr. Preety Jain 400-403

✓ Role of Corporate Governance in Strengthening the Economy
Raghuvinder Kumar 404-407

✓ Digital India – Empowerment and Transformation
Neha Jagga 408-413

✓ Essential Facilities Doctrine: Conflicting Approach of Competition and Intellectual Property Law
Rupendra Singh 414-418

✓ Doctrine of Privity of Contract: An Analytical Study
Narender Kumar 419-426

झोंपड़पट्टियों का अस्तित्व बनाम वोट की राजनीति (स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यासों के संदर्भ में)
डॉ० बबीता भण्डारी 427-429

✓ महाभारतकालीन समाज
सुमित शर्मा 430-434

भारतीय चित्रपट संगीत व इसके आधारभूत तत्त्व
प्रोमिला देवी 435-438

✓ धर्मनिरपेक्षता की वर्तमान अवधारणा और कबीर का काव्य
डॉ. प्रदीप कुमार मीणाए श्योनारायण रेगर 439-441

✓ Kakatiyas and Tank Irrigation
Raju Kadem 442-448

✓ Bitcoins and the cashless future - A Concept
Mohammad Idrees Ul Islam 449-454

✓ बौद्धधर्म में सम्प्रदाय भेद एवं महायान सम्प्रदाय
Dr. Prashant Gaurav 455-461

ISSN : 2347–4041
Impact Factor 2.003
संस्कार चेतना अन्तरराष्ट्रीय मूल्यांकित शोध पत्रिका
वर्ष 7, अंक 6, फरवरी 2018

धर्मनिरपेक्षता की वर्तमान अवधारणा और कबीर का काव्य

डॉ. प्रदीप कुमार मीणा
श्योनारायण रेगर
शोद्यार्थी, कोटा विश्वविद्यालय

मध्यकाल को भारतीय साहित्य के इतिहास मे स्वर्णयुग माना जाता है इस काल मे साहित्य और कला का प्रदर्शन उच्च शिखरो पर था भारतीय संस्कृति और धर्म के इस युग मे नए सन्दर्भो के साथ व्याख्या की गयी। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने इस युग को धार्मिक पुनरूत्थान और 'पुर्नजागरण' का नाम दिया। प्राचीन काल और आधुनिक काल इन दोनो के बीच मध्यकाल अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य के साथ प्रस्तुत हुआ

कबीर ऐसे ही युग के प्रतिनिधि कवि थे जिन्होने भारतीय समाज को पूर्णरूपेज नया और मौलिक चिंतन दिया **'मसि कागद छुयो नही, कलम गही नही हाथ'** का उद्घोष करने वाले कबीर के मुख पर एक अद्भुत तेज विद्यमान था। वे नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के साथ ही ज्ञान का भंडार भी थे उन्हे यह सब कुछ उनकी घुमक्कड़ (यायावरी) प्रवृति, लोकचर्चा व आत्मज्ञान के फलस्वरूप प्राप्त हुआ। अपनी इस घुमकक्कड़ वृत्ति के कारण उनकी भाषा भी सधुक्कड़ी या पंचमेल खिचड़ी भाषा कहलायी, जिसमे अनेक भाषाओ के शब्द मिश्रित थे।

कबीर का पालन-पोषण एक मुस्लिम जुलाहा परिवार मे हुआ पर उनके जन्मस्थान के बारे मे मत-वैभिन्य है, परन्तु अधिकतर विद्वान इनका जन्म काशी में ही मानते है, जिसकी पुष्टि स्वयं कबीर ने अपने इस कथन से की है, **काशी मे हम परकट भये, रामानन्द चेताये** साथ ही उन्होने अपना गुरू रामानन्द जी को माना

यह प्राय: सर्वविदित है कि हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन विशेषत: भक्तिकालीन साहित्यक विचारधारा के अन्तर्विरोधो को लेकर पिछले पाँच-छ: दशको से जितनी समालोचनाएं हुई है, उन सब के केन्द्र मे प्राय: कबीर ही रहे है। कबीर के परलोकगमन के सैकण्डो वर्षो के बाद भी उनके धार्मिक एवं सामाजिक विसंगतियो पर किए तीखे प्रहारो का वर्तमान मे विमर्श का बनना कबीर की तत्कालीन समाज के प्रति संवेदनशीलता पैनी दृष्टि और निर्भीक स्वभाव को ही दर्शाता है।

कबीर गर्व न कीजिए, ऊँचा देखि अवास।
काल परौ भुँई लेटना, ऊपर जमसी घास।।

कबीर के धर्म सम्बन्धी विचारो को वर्तमान परिपेक्ष्य मे देखने से पूर्व हमे 'धर्म निरपेक्षता' की वर्तमान अवधारणा और इसकी ऐतिहासिकता को जानना समीचीन है। धर्म निरपेक्षता के लिए अंग्रेजी मे 'सेकुलरिज्म' शब्द प्रचलित है। धर्म निरपेक्षता शब्द का पहले-पहल प्रयोग बर्मिधम(इंग्लैण्ड) के जार्ज जेकब होलियौक (1846 ई.) ने अनुभवों से मनुष्य जीवन को समृद्ध और सरल बनाने के तौर-तरीकों को बताने के दौरान किया। होलियॉक के अनुसार आस्तिकता -नास्तिकता और धर्म ग्रन्थों मे उलझे बगैर मनुष्य मात्र शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, बौद्धिक स्वभाव को उच्चतम बिन्दु तक विकसित करने के लिए प्रतिपादित ज्ञान और सेवा ही धर्मनिरपेक्षता है। स्पष्ट है धर्म निरपेक्षता शब्द की प्रथम व्याख्या पारलौकिकता के स्थान पर इहलौकिकता अनुभव के महत्व पर आधारित थी

आज धर्मनिरपेक्षता शब्द के तीन अर्थ प्रचलन मे है- धर्मनिरपेक्षतावाद, सर्वधर्मसमभाव और इहलौकिकता, आध्यात्मिक और आदर्शवादी परम्परा के पक्षधर इसके सर्वधर्मसमभाव वाले अर्थ को स्वीकार करते

है। इसमे महात्मा गाँधी, राधाकृष्णन प्रमुख भारतीय है। इनके मतानुसार किसी अलौकिक सता मे विश्वास रखने वाला मनुष्य भी धर्म निरपेक्ष हो सकता है। सभी धर्मो के प्रति सहनशीलता और समान रूप से आदर रखना ही धर्मनिरपेक्षतावाद है। परन्तु पण्डित नेहरू की मान्यता नितान्त भिन्न है। उनका मानना हे कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ सभी धर्मो के प्रति समभाव अथवा सहिष्णुता का भाव न होकर निरपेक्षता, तटस्थता या उपेक्षा का भाव है।

कबीर की वाणी मे धर्म निरपेक्ष तत्वो को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में खोजी जा सकती है। चूंकि उनका साहित्य मुक्तक पदो के रूप में मिलता है। और धर्मनिरपेक्षता जैसे शब्द की विवेचना गद्य-विद्या में ही अधिक संभव है। इसलिए वर्तमान परिवेश के परिपेक्ष्य मे कबीर के धर्म सम्बन्धी विचारो का स्पष्ट और सारगर्भित मूल्यांकन कठिन कर्म है।

आज हम धर्मनिरपेक्षता के बारे मे बात करते है तो सामान्यत: इसका सम्बन्ध धर्म निरपेक्ष राज्य से ही होता है। 'धर्मनिरपेक्ष राज्य' से अभिप्राय: ऐसे राज्य से है जिसका अपना कोई धर्म नही है अर्थात जहाँ धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव किये बिना समस्त व्यक्तियों को ही देश का नागरिक समझा जाता है।

कबीर के साहित्य मे मानव धर्म, नैतिकता, सहज जीवन सम्बन्धी विचारो का मूल्यांकन किया जाये तो निसन्देह वे मध्ययुग के अनुभवग्राही व दूरदर्शी व्यक्ति है। मध्यकालीन समाज जब साम्प्रदायिक और धार्मिक विषमताओ के दोर से गुजर रहा था। तब कबीर ने अपनी महान ऐतिहासिक भूमिका का निर्वहन किया। मध्ययुग के जाति भेद के विरूद्ध उनकी वाणी क्रान्तिदूत है।

हिन्दू तरूक की एक राह मे, सतगुरू है बताई।
कहै कबीर सुनहु हो संतो , राम न कहेउ खुदाई।।
सोई हिन्दू सो मुसलमान, जिनका रहे इमान।
सौ ब्राह्मण जो ब्राह्म मिलाया, काजी सो जाने रहमान।।

कबीर ने अपने आप को हिन्दू-मुस्लमान न मानते हुऐ सम्पूर्ण मानवता धर्म को महत्व दिया है। भारत वर्ष मे आज की तरह मध्ययुग मे भी हिन्दू-मुस्लमान धर्म मे वैमन्सयता थी और दोनो धर्मो के लोग अज्ञानता की वजह से आपस मे टकराते रहते थे कबीर उसे मिथ्या भ्रम सिद्ध करते हुऐ कहते है-

राम-रहीमा एक है, नाम धराया दोय ।
कहै कबीरा दो नाम सुनि, भरम परौ मति कीय।।

वे प्रत्यक्ष प्रश्न करते है-

''तुरक मसीती देहरै हिन्दु, दुहठा राम खुदाई।
जहाँ मसीति देहरा नाहि, तहै काकी ठकुराई' ।।

'धर्म निरपेक्षता' शब्द के प्रथम व्याख्याकार हॉलियाक मनुष्य जीवन मे नैतिकता को अधिक महत्व देते थे इसलिए वे स्वयं को निरीश्वरवादी नही इहलोकवादी माना उनकी नैतिकता, बौद्धिकता अनुभव जनित ज्ञान पर आधारित है। दुसरी और भारतीय धार्मिक और आध्यात्मिक परमपरा सर्वधर्म समभाव को स्वीकार करती है। उसी प्रकार कबीर ने मानव धर्म का एक आवश्यक तत्व समदृष्टि को भी माना है। समभाव विश्वबधुंत्व का प्रथम सोपान माना जा सकता है। मानव जीवन मे अनेकोनेक विषमताएँ है। ऐसी परिस्थिति मे समदृष्टि होने सेउसके समस्त वैषम्य समाप्त हो जाते है।

कबीर कहते हे- जन समदृष्टि सीतल सदा, दुनिया नही आनै
कहै कबीर ता दास सूँ मेरा मन मानै

कबीर ने अपने युग की विषम परिस्थितियों के बीच एकता की भावना का आदर्श प्रस्तुत करके मानवतावादी भावना को पल्लवित करने का प्रयास किया है। धर्म, जाति, वर्ग सम्प्रदाय के भेद को वे अस्वीकार

करते है और कहते है-

एक बूदं एकै मल मुतर, एक चाम एक गूदां।
एक ज्योति थै सब उतपना, कौन बाहमन कौन सूदा।।

कबीर की साखियाँ और बानियो की तात्विक मीमांस के क्रम मे प्राय: सभी विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि कबीर, अज्ञात, अनाम, निराकार प्रमात्मा, निगुर्ण ब्रहम मे विश्वास करते है।

निर्गुण राम जपहु रे भाई, अविगति की गति लखी न जाई

कबीर एकेश्वरवादी थे व कर्मकांडो के घोर विरोधी थे वे अवतारवाद, मूर्तिपूजा, ईद, रोजा, मंदिर, मस्जिद मे विश्वास नही रखते थे उन्होने हिन्दू- मूस्लिमो की धार्मिक कट्टरता को दूर करके उन्हे एक करने का प्रयास किया जो आज के संदर्भ मे भी प्रांसगिक है।

कबीर ने समाज को प्रेम व भाईचारे का संदेश दिया उनके इस प्रेम की महता इस बात से स्वत: ही प्रमाणित हो जाती हे कि उन्होने ज्ञान से ज्यादा प्रेम को महत्व दिया। उनका प्रेम आधारित दोहा आज भी आधुनिक समाज मे अत्यधिक प्रासंगिक है:

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुवा, पण्डित भया न कोय ।
ढाई आखर प्रेम का, पढै सो पण्डित होय ।।

कबीर मूर्तिपुजा को निरर्थक मानते हुए कहते है

पाथर का ही देहुरा, पाथर का ही देव।
पूजणहारा अँधला, लागा खोटी सेव।।

और भी

कांकर-पाथर जोडि के, मस्जिद लई चिनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय।।

वर्तमान धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के परिपेक्ष्य मे कबीर की धर्म और जाति सम्बन्धी विचारो की समीक्षा के उपरान्त यह कह सकते है कि कबीर की बानिया मे जाति, धर्म से बहुत ऊपर उठकर मानव धर्म का पुरजोर समर्थन किया है। मानवोचित व्यवहार और प्रेम मे बाधक तत्व ही उनकी वाणी-वज लक्ष्य ही और विश्वव्यापी मानुष प्रेम की स्थापना ही उनकी ब्रह्म साधना है।

संदर्भ

1. कबीर-दर्शन और दृष्टि डॉ. वीणापाणि देव प्रकाशन दिल्ली
2. कबीर- हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
3. संत कबीर और कबीर पंथ- डॉ. सालिकराम अग्रवाल
4. संत कबीर का साहित्य डॉ. बिन्दू दूबे कला प्रकाशन-वाराणासी
5. हिन्दी आलोचना कि पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरकान्त
6. कबीर संत डॉ. वासुदेव सिंह
7. दूसरी परम्परा की खोज- डॉ. नामवर सिंह
8. कबीर वाणी- अली सरदार जाफरी राजकमल प्रकाशन दिल्ली
9. कबीर- जीवन और दर्शन-उर्वशी सूरती
10. कबीर- व्यक्तित्व और कृतित्व, श्री अभिलासदास

वर्ष- 3, अंक- 12, 20 नवम्बर 2016, श्रीगंगानगर , पृष्ठ- 48, मूल्य- 200/- सालाना
ISSN 2348- 568X

सृजन कुंज

शोध, संस्कृति एवं साहित्य की त्रैमासिक

RAJHIN/2014/56425

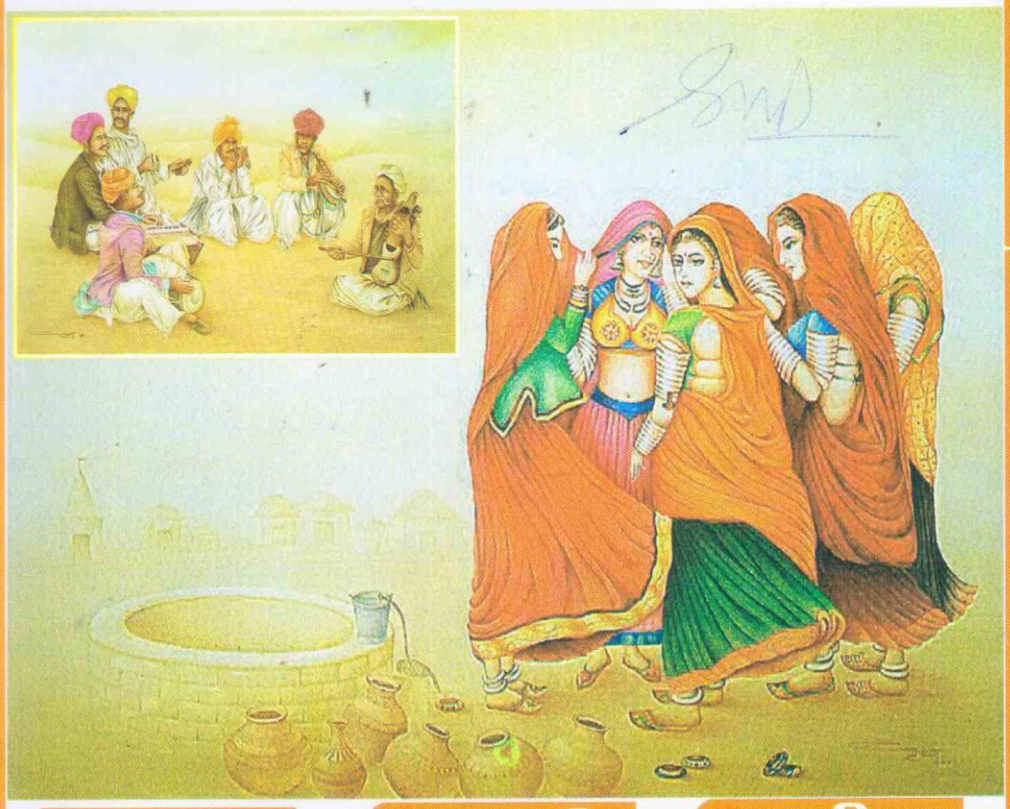

■ शोध

- डॉ. अन्नाराम शर्मा
- रामनारायण शर्मा
- ज्योति यादव
- गोपाल कंवर
- श्योनारायण रेगर
- डॉ. गोपीराम शर्मा
- अनिता कुमावत

■ संस्कृति

- डॉ. नरेन्द्र चतुर्वेदी
- जितेन्द्र निर्मोही

■ साहित्य

- दिविक रमेश
- सुरेन्द्र डी सोनी
- वागीश सारस्वत
- डॉ. आईदान सिंह भाटी
- डॉ. मदन केवलिया
- सावित्री चौधरी
- जनकराज पारीक

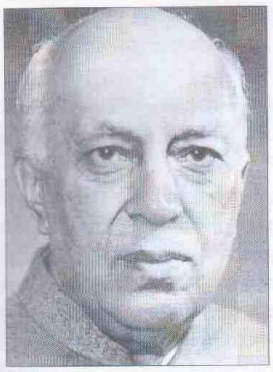

"किसी राष्ट्र का मूल्यांकन उस देश में रहने वाले लोगों के गुणों से किया जाता है न कि संख्या से।"

– जवाहरलाल नेहरू

शोध

3-22

संत कवियों की राष्ट्रीय चेतना	डॉ. अन्नाराम शर्मा	4-6
विश्व साहित्य में रामचरितमानस का स्थान	रामनारायण शर्मा	7-9
इक्कीसवीं सदी के साहित्य में नारी जीवन में चित्रित समस्याएं	ज्योति यादव	10-12
लोकचित्त के चितेरे कथाकार : बिज्जी	गोपाल कंवर	13-14
धर्मनिरपेक्षता की वर्तमान अवधारणा और कबीर का काव्य	श्योनारायण रेगर	15-17
'कागा सब तन' की कहानियों में जिजिविषा के विविध रूप	डॉ. गोपीराम शर्मा	18-19
भारतीय संस्कृति का ऐतिहासिक स्वरूप : एक अध्ययन	अनिता कुमावत	20-22

आलेख

धर्मनिरपेक्षता की वर्तमान अवधारणा और कबीर का काव्य

श्योनारायण रेगर

शोधार्थी कोटा विश्वविद्यालय, कोटा में पीएचडी कर रहे हैं।

वार्ड नं. 19, पारीक स्कूल के पास, रावतसर, जिला हनुमानगढ़ (राज.)
मो. 90247-76708, 77288-60131

अतीत के अनेक साहित्यकारों की रचनाएं इतिहास का विषय और सग्रहालयों की सजावट बन चुकी है। वर्तमान में उनकी विषय-सामग्री की प्रासंगिकता को लेकर स्थायी प्रश्नचिन्ह लग चुके हैं। किन्तु इन सब के बीच कबीर अपवाद हैं और उनकी वाणी आज भी प्रासंगिक है, सार्थकता का पुट लिए हुए है। वर्तमान की त्रीव विचारात्मक उठापटक और सामाजिक विसंगतियों के मध्य प्रायः कबीर की बानियों के दृष्टान्त प्रस्तुत किए जाते हैं। कट्टरपंथी हिन्दु और मुस्लिम विचारों के विरुद्ध उनकी वाणी कभी अस्त्र तो कभी शस्त्र की भूमिका निभाती रही है।

यह प्रायः सर्वविदित है कि हिन्दी साहित्य के मूल्यांकन विशेषतः भक्ति कालीन साहित्यिक विचारधारा के अन्तर्विरोधों को लेकर पिछले पाँच छः दशकों से जितनी समालोचनाएं हुई हैं, उन सब के केन्द्र में प्रायः कबीर ही रहे हैं। कबीर के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की टिप्पणियों को लेकर जो विवाद उठा, उसने रुकने का नाम नहीं लिया। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो 'कबीर' शीर्षक से एक स्वतन्त्र पुस्तक लिख डाली है। इसके कुछ समय उपरान्त नामवर सिंह ने 'दूसरी परम्परा की खोज' नामक पुस्तक में कबीर के साहित्य की मार्क्सवादी समीक्षा करते हुए उन्हें पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है।

कबीर के परलोकगमन के सैकड़ो वर्षों के बाद भी उनके धार्मिक एवं सामाजिक विसंगतियों पर किए तीखे प्रहारों का वर्तमान में विमर्श का विषय बनना कबीर की तत्कालीन समाज के प्रति संवेदनशीलता पैनी दृष्टि और निर्भीक स्वभाव को ही दर्शाता है।

कबीर के परलोकगमन के सैकड़ो वर्षों के बाद भी उनके धार्मिक एवं सामाजिक विसंगतियों पर किए तीखे प्रहारों का वर्तमान में विमर्श का विषय बनना कबीर की तत्कालीन समाज के प्रति संवेदनशीलता पैनी दृष्टि और निर्भीक स्वभाव को ही दर्शाता है।

विज्ञान की असाधारण प्रगति के सहारे मनुष्य का दैनिक जीवन सुख - सुविधा से सम्पन्न हो गया है। भौतिक उन्नति के विपरीत मनुष्य का चारित्रिक पतन चरम सीमा को छू रहा है। वह साम्प्रदायिक द्वेष और वर्गीय संघर्ष से मुक्त नहीं हो सका है। कबीर के कृतित्व का सार तत्व प्रस्तुत करने के बाद सरदार जाफरी जो कि 'कबीर वाणी' पुस्तक के संकलन कर्ता हैं, ने आज के संदर्भ में अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

'हमें आज भी कबीर के नेतृत्व की जरूरत है, उस रोशनी की जरूरत है जो इस संत के दिल से पैदा हुई थी। आज दुनिया आजाद हो रही है। विज्ञान की असाधारण प्रगति ने मनुष्य का प्रभुत्व बढ़ा दिया है। उद्योगों ने उसके बाहुबल में वृद्धि कर दी है। मनुष्य सितारों पर कदम रख रहा है, फिर भी वह तुच्छ है संकट ग्रस्त है, दुखी है। वह वर्गों में बंटा हुआ है, जातियों में विभाजित है। उसके बीच धर्मों की दीवारें खडी हुई हैं। साम्प्रदायिक द्वेष है, वर्ग संघर्ष की तलवारें खिंची हुई है।'' जिस समय का अवतीर्ण हुआ भारत के भिन्न-भिन्न धर्म साधनाओं और सामाजिक रीति-रिवाजों के बीच अतंहीन संघर्ष आरम्भ हो चुका था। कबीर के दशकों बाद भी यह विकराल समस्या किसी न किसी रूप में जीवित है। आज भारत ही नहीं विश्व के अनेक देश साम्प्रदायिक द्वेष की भीषण अग्नि में जल रहे हैं। शिक्षा और विज्ञान ने मानव को सभ्य एवं भौतिक रूप से समृद्ध अवश्य ही बना दिया है, किन्तु संवेदना, सदाचार सहानुभूति और सहनशीलता जैसे संस्कारों में बंधन ढीले पड़ गये हैं। संसार भर की अधिकांश मनुष्य जाति को अहिष्णुता रूपी अन्धकार ने चपेट में ले लिया है।

कबीर के धर्म सम्बन्धी विचारों को वतर्मान परिपेक्ष्य में देखने से पूर्व हमें 'धर्म निरपेक्षता' की वर्तमान अवधारणा और इसको ऐतिहासिकता को जानना समीचीन है। धर्मनिरपेक्षता के लिए अंग्रेजी में 'सेकुलरिज्म' शब्द प्रचलित है। धर्मनिरपेक्षता शब्द का पहले-पहल प्रयोग बर्मिघम (इग्लैण्ड) के

जार्ज जेकब होलियोक (1846 ई.) ने अनुभवों से मनुष्य जीवन को समृद्ध और सरल बनाने के तौर- तरीकों को बताने के दौरान किया। होलियॉक के अनुसार - ''आस्तिकता-नास्तिकता और धर्म ग्रन्थों में उलझे बगैर मनुष्य मात्र शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, बौद्धिक स्वभाव को उच्चत्तम बिन्दु तक विकसित करने के लिए प्रतिपादित ज्ञान और सेवा ही धर्मनिरपेक्षता है। स्पष्ट है धर्म निरपेक्षता शब्द की प्रथम व्याख्या पारलौकिकता के स्थान पर इहलौकिकता अनुभव के महत्व पर आधारित थी।

आज धर्मनिरपेक्षता शब्द के तीन अर्थ प्रचलन में हैं- धर्मनिरपेक्षतावाद, सर्वधर्म समभाव और इहलौकिकता आध्यात्मिक और आदर्शवादी परम्परा के पक्षधर इसके सर्वधर्म समभाव वाले अर्थ को स्वीकार करते हैं। इसमें महात्मा गांधी, राधा कृष्णन प्रमुख भारतीय हैं। इनके मतानुसार किसी अलौकिक सत्ता में विश्वास रखने वाला मनुष्य भी धर्म निरपेक्ष हो सकता है। सभी धर्मो के प्रति सहनशीलता और समान रूप से आदर रखना ही धर्मनिपेक्षतावाद है। परन्तु पण्डित नेहरू की मान्यता नितान्त भिन्न है। उनका मानना है कि धर्म निरपेक्षता का अर्थ सभी धर्मो के प्रति समभाव अथवा सहिष्णुता का भाव न होकर निरपेक्षता, तटस्थता या उपेक्षा का भाव है।

कबीर की वाणी में धर्म निरपेक्ष तत्वों की उपस्थिति कथ्य और सांकेतिक व्यंजनाओं में खोजी जा सकती है। चूंकि उनका साहित्य मुक्तक पदो के रूप में मिलता है और धर्मनिरपेक्षता जैसे बौद्धिक विषय की ठीक-ठीक विवेचना गद्य-विद्या में ही अधिक संभव है। इसलिए वतर्मान परिवेश के परिपेक्ष्य में कबीर के धर्म सम्बन्धी विचारों का स्पष्ट और सारगर्भित मूल्यांकन कठिन कर्म है।

आज हम धर्मनिरपेक्षता के बारे में बात करते हैं तो सामान्यतः इसका सम्बन्ध निरपेक्ष राज्य से होता है। इसमें व्यक्ति, धर्म और राज्य तीनो के पारस्परिक सम्बन्ध निर्देशित होते हैं। 'धर्म निरपेक्ष राज्य' से अभिप्राय ऐसे राज्य से है जहाँ धर्म के आधार पर किसी प्रकार का

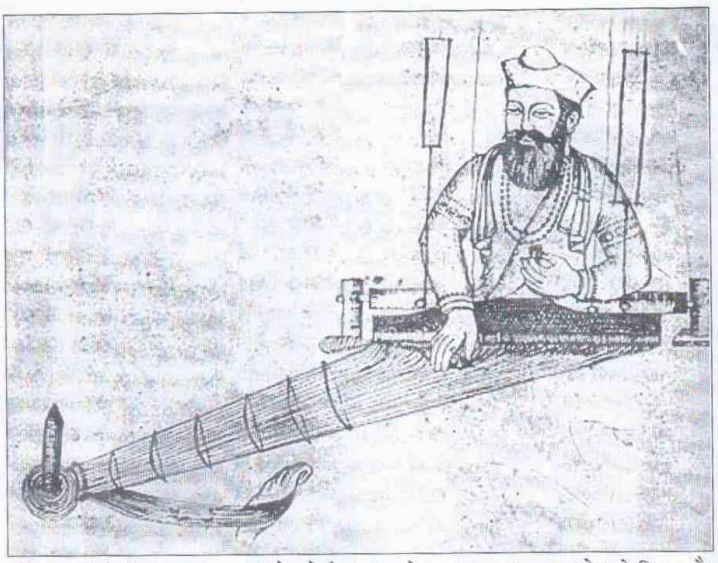

भेदभाव किये बिना समस्त व्यक्तियों को देष का नागरिक समझा जाता है। यह धर्म के आधार पर विभिन्न नागरिकों के लिए भिन्न-भिन्न कानूनों उपाधियों सुविधाओं, असमानताओं को स्वीकार नही करता और तदानुरूप नागरिकों से भी अपेक्षा रखता है कि वे राज्य को अपने धर्म से पहले स्थान पर रखें।

कबीर के साहित्य में राज्य और नागरिकता जैसे शब्दों की खोज न करते हुए यदि उनके मानव धर्म, नैतिकता, सहज जीवन सम्बन्धी विचारों का मूल्यांकन किया जाए तो निसन्देह वे मध्ययुग के सर्वाधिक अनुभवग्राही और दूरदर्शी व्यक्ति हैं। जातियों, वर्गो, धर्मो और रंगो आदि में विभाजित समाज की विषम परिस्थितियों में कबीर की वाणी प्रासंगिक हो जाती है। मध्यकालीन समाज जब साम्प्रदायिक और धार्मिक विषमताओं की चुनौतियों का सामना कर रहा था। तब कबीर ने अपनी महान ऐतिहासिक भूमिका का निर्वहन किया।

मध्ययुग के जाति भेद के विरुद्ध उनकी वाणी क्रान्तिकारी है-

''हिन्दू तुरक का साहिब एक
कह करै मुल्ला कह करै सेख।।''

कबीर ने अपने को हिन्दू - मुसलमान न मानते हुए व्यापक मानवता बोध से सिक्त और संकुचित संस्थाबद्ध धर्म से विलग रखा है। भारत वर्ष में आज की तरह मध्य युग में भी सबसे अधिक वैमन्सय हिन्दू और मुसलमानों के बीच था और इनकी एकता ही सबसे बड़ी चुनौती थी। दोनों जिन सतही भेदों को लेकर टकरा रहे थे कबीर उसे मिथ्या भ्रम सिद्ध करते हुए कहते है -

''हमारे राम रहीम केसो, अलह राम सति सोई।
विसमल मेहि विसंभर एकै, और न दूजो कोई।।''

वे प्रत्यक्ष प्रश्न करते हैं-

''तुरक मसीती देहरै हिन्दु, दुहठा राम खुदाई।
जहॉ मसीति देहरा नाहि, तहँ काकी ठकुराई।।''

'धर्म निरपेक्षता' शब्द के प्रथम व्याख्याकार हॉलियाक मनुष्य जीवन में नैतिकता को अधिक महत्व देते थे, इसलिए उन्होने स्वयं को निरीश्वरवादी नही, इहलोकवादी घोषित किया उनकी नैतिकता शारीरिक बौद्धिक नियमों और अनुभव जनित ज्ञान पर आधारित है। स्पष्ट है कि वे ईश्वर और धर्म की उपेक्षा करते हैं। दुसरी और भारतीय धार्मिक और आध्यात्मिक परम्परा सर्वधर्म समभाव को स्वीकार करती है यहॉ ईश्वर या पारलौकिक सता के प्रति उपेक्षा की नीति न होकर सत्कार और सहिष्णुता के भाव दृढता के साथ जीवित हैं। सीधे शब्दों में यहां विशुद्ध

कबीर की बानियों की तात्विक मीमांसा के क्रम में प्रायः सभी विद्वानो ने यह सिद्ध किया है कि कबीर अज्ञात परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म में विश्वास करते है परन्तु कबीर मन्दिर बड़हरा के संत अभिलास दास इन मान्यताओं का खण्डन करते है। उनका मत है कि कबीर ब्रह्मवादी नही है बल्कि वे जीवात्मा को ही एक मात्र परम तत्व के रूप में स्वीकार करते है।

विज्ञान की परिणति अध्यात्म में ही होती है। महात्मा कबीर संभवतः इसी परंम्परा के अनुयायी एवं पोषक है व समस्त धार्मिक आडम्बरों, कर्मकाण्डों और बाह्य अडम्बरों का खण्डन कर आत्मतत्व, अन्तः- साक्षात्कार, आत्मा की निर्मलता और सदाचार को नये लोक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास जीवन पर्यन्त करते रहे। मानवता का पोषण और प्रचार ही कबीर का साधना मार्ग और उसकी स्थापना ही उनका परम साध्य रहा।

सामाजिक सद्भाव के लिए वे प्रेम का मार्ग प्रशस्त करते हैं। उनका प्रेम लोक में विस्तार पाकर ही परमात्मा की प्राप्ति की सिद्धि बनता है। यह प्रेम विश्व व्यापी और रहस्यमयी है -

''अकथ कहानी प्रेम की कछु कही न जाये।
गूंगे केरि सर्करा खाये और मुस्काये।।''

कबीर के विचारों का आलम्बन इहलौकिक समस्याएं है, जिसका समाधान वे इन्द्रियानुव से प्राप्त ज्ञान, प्रेम और सात्विक जीवन शैली से ही संभव बताते है। कबीर अनुभूति रहित ज्ञान को मिथ्या मानते है और ज्ञान की पुष्टि तर्क द्वारा आवश्यक बताते है -

''नदिया नीर नरक बहि आवै,
पसु मानुष सब सरिया
हाड झरी झरि मूद गली, दूध कहाँ ते आया।
सो ले पाँडे जेवन बैठे,
मटियहि छूति लगाया।।''

इसी प्रकार काजी को -

''काजी ते कवन कतेब बखानी।
पढत-पढत केते दिन बीते,
गति एकौ नहि जानी।।''

कबीर मानव-धर्म को सर्वोपरि मानते है, वे जीवात्मा और परमात्मा को अद्वेत कहते हुए जीव मात्र को सृष्टि का चेतन तत्व बताते है।

कबीर की बानियों की तात्विक मीमांसा के क्रम में प्रायः सभी विद्वानो ने यह सिद्ध किया है कि कबीर अज्ञात परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म में विश्वास करते है परन्तु कबीर मन्दिर बड़हरा के संत अभिलास दास इन मान्यताओं का खण्डन करते हैं। उनका मत है कि कबीर ब्रहमवादी नहीं हैं बल्कि वे जीवात्मा को ही एक मात्र परम तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। कबीर के पदों की नितान्त भिन्न व्याख्या करते हुए अभिलासदास ने एक नवीन निष्कर्ष प्रस्तुत किया है - यह चेतन जीव ही परमत्व है सारी कला-कलाएँ, सारे ज्ञान-विज्ञान इसी के हैं। जीव ही ईश्वर-ब्रह्म देवी-देवता तथा भूत-प्रेत की कल्पना करने वाला तथा वेद, बाइबिल, कुरान आदि शास्त्रो को रचना वाला है, अतः जीव ही सर्वोपरि है। सदगुरु पहली ही रमैनी में कहते है -

''एक जीव कित कहू बखानीं।''

अर्थात जीव ही सत्य है, मैं विशेष वर्णन करके क्या हूँ (कबीर - व्यक्तित्व और कर्तृत्व) अभिलास दास की व्याख्याए कबीर को अपेक्षाकृत अधिक सहज और सुसंगत रूप में प्रस्तुत करती है। इन व्याख्याओं से स्पष्ट होता है कि कबीर अगम - अगोचर, निर्गुण के समर्थक न होकर जीववाद और इहलौकिकवाद समर्थक थे। उदाहरण के लिए अभिलासदास निम्नलिखित साखी की व्याख्या करते है -

सच कहौ तो है नही, झूठहि लागु पियारि।
मो शिर ढारे ढेकुली, सीचे और कि क्यारि।।

अर्थात सत्य कहूँ तो परमात्मा है हि नहीं किन्तु लोग नहीं मानते और उन्हें असत्य ही प्रिय हैं। लोग मेरे सिर पर ढेकुल मारते हैं और दूसरो की क्यारि (खेती) सींचते हैं अर्थात् अनुयायी मेरे कहलाते हैं और प्रचार दूसरों के मत का करते हैं।

इसी तरह एक और पद -

अलख निरजंन लखे न कोई,
जेहि बंधे बंधा सब लोई।
जेहि झूठ सब बाँधु अपाना।
झूठ वचन साँच्च के माना।।

वर्तमान धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के परिपेक्ष्य में कबीर की धर्म और ईश्वर सम्बन्धी विचारों की समीक्षा के उपरान्त यह कह सकते हैं कि कबीर की बानियों में राज्य और नागरिकता जैसी आधुनिक शब्दावली भले ही न हो फिर भी कबीर मानव-धर्म का पुरजोर समर्थन करते हुए परलौकिकता के स्थान पर इहलौकिक समस्याओं पर ध्यान देना परमोचित मानते हैं।

मानवोचित व्यवहार और प्रेम में बाधक तत्व ही उनकी वाणी-वज लक्ष्य हैं और विश्वव्यापी मानुष प्रेम की स्थापना ही उनकी ब्रह्म साधना है। कबीर की प्रेमानुभूत वाणी का सनिग्ध प्रवाह जीवात्मा रूपी व्यापक भाव भूमि को सरोबार करता हुआ परमात्मा रूपी अगाध सागर में विलिन हो जाता है।

संदर्भ :

1. *कबीर - हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली*
2. *कबीर वाणी - अली सरदार जाफ्री, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली*
3. *हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, डॉ. अमरकान्त*
4. *कबीर-संत - वासुदेव सिंह*
5. *कबीरदास - सृष्टि और दृष्टि - डा. शिवाजी देवरे, डा. भाऊ साहब*
6. *दूसरी परम्परा की खोज - डॉ. नामवर सिंह*
7. *कबीर - व्यक्तित्व और कृतित्व, श्री अभिलास दास*

RNI No. 48934/91 www.maruvyvsaychakra.com ISSN 2320-3889

मरु व्यवसाय चक्र
Maru Vyvsay Chakra

Bilingual Multidisciplinary Referred Peer Review Research Journal

Year: 27 Issue : 2 April-June, 2019

- STUDY OF MANAGEMENT OF CASH
- Use of Technology in Banks: AN OERVIEW
- राजस्थान राज्य में महिला अपराधों का विश्लेषणात्मक अध्ययन
- जैन साहित्य की परम्परा : एक अध्ययन
- राजस्थानी लाकगीतों में पारिवारिक चित्रण
- भगवान महावीर की अनंत करूणामय परिमित शक्तिका विचारात्मक विश्लेषण

RNI No. 48934/91 ISSN 2320-3889

मरू व्यवसाय चक्र
MARU VYVSAY CHAKRA

Bilingual Multidisciplinary Referred Peer Review Research Journal

Year: 27 Issue: 2 April - June, 2019

DISCLAIMER

The responsibility of the contents and the opinions expressed in this journal are exclusively of the author (s) concerned. The information and opinions presented in this Journal reflect the views of the authors and not of the Journal or its Editorial Board or the Publishers and Editors. Neither the Journal nor its publishersèEditorsèEditorial Board nor anyone else involved in creating, producing or delivering the journal or the materials contained therein, assumes any liability or responsibility for the accuracy, completeness, or usefulness of any information provided in the journal, nor shall they be liable for any direct, indirect, incidental, special, consequential or punitive damages arising out of the use of information and material contained in the journal.

JURISDICTION

All legal disputes are subject to territorial jurisdiction of District BIKANER , Rajasthan Only.

EDITORIAL ADDRESS

Maru Vyvsay Chakra
Bisson Ka Chowk,
Bikaner-334001,Rajasthan , India
Phone : 0150-2526687
Mobile : 09414968900,08963050900
Email- mvcbikaner@gmail.com
Website:www.maruvyvsaychakra.com

YEARLY MEMBERSHIP

Individual:Rs.300,Institutional: Rs.500, **LIFEMEMBERSHIP : RS 2100**

In this Issue

4 STUDY OF MANAGEMENT OF CASH
DR. MUKESH KIRADOO

7 USE OF TECHNOLOGY IN BANKS: AN OERVIEW
PROF. HARI RAM GUPTA

14 राजस्थान राज्य में महिला अपराधों का विश्लेषणात्मक अध्ययन
सुरेश कुमार त्रिवेदी

20 जैन साहित्य की परम्परा : एक अध्ययन
डॉ. बसन्ती हर्ष

23 राजस्थानी लाकगीतों में पारिवारिक चित्रण
श्योनारायण रेगर

25 भगवान महावीर की अनंत करूणामय परिमित शक्ति का विचारात्मक विश्लेषण
डॉ. कृष्णा आचार्य

राजस्थानी लाकगीतों में पारिवारिक चित्रण

श्योनारायण रेगर

पीएच.डी. शोधार्थी, कोटा विश्वविद्यालय

वार्ड नं. 19, पारीक कूल के पास, रावतसर -335524, जिला - हनुमानगढ़ (राज.)

परिचयात्मक

'लोक–गीत' शब्द के कई अर्थ हो सकते है यथा लोक–प्रचलित गीत, ग्रामीण–गीत, लोक निर्मित गीत, लोक–विषयक गीत। किन्तु सही अर्थो में देखे तो जो गीत लोक मानवीय वृतियों का संवाहक हो, परम्परा से लोक, कठांसीन हो और रचयिता का अस्तित्व गीत से तिरोहित होकर सामूहिक अभिव्यक्ति में बदल गया हो, ऐसी गेय (गाने योग्य) रचना ही लोकगीत हैं।

हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार "लोकगीत में रचयिता का निजी व्यक्त्वि नही होता। वह लोकमानस से तादात्म्य रखता है और ऐसी व्यक्तित्व–हीन रचना करता है कि समस्त लोक का व्यक्त्वि ही उसमें उभरता है और लोक उसे अपनी चीज कहने लगता हैं। वह लोक गीत होता हैं।

लोकगीत में भावपक्ष प्रबल होता हैं लोकगीतों में अभिव्यजित भावपक्षीय अभिव्यक्तियों किसी एक व्यक्ति की धरोहर नही होती है। वरण उसमें सम्पूर्ण लोक की गुजंन होती है लोकगीत में लोक के सांस्कृतिक उद्‌गार का लेखा–जोखा होता है। लोकगीत ही किसी जाति, धर्म, वंश, संस्कृति के सच्चे परिचायक हैं।

इन लोकगीतों में मानवीय भावनाएं निहित होती है इनमें मानवीय संवेदनाओं के साथ–साथ आशा–निराशा, राग–विराग, सुख–दुख, मिलन–वियोग, जन्म–मरण, जोग–संजोग, की सहज अभिव्यक्तियों का सुंदर चित्रण मिलता है। लोकगीतो में कोमलता, मुग्धता, निर्मलता का दिग्दर्शन भी होता है।

हरिवश राय बच्चन के अनुसार :–

दिन जल्दी–जल्दी ढलता है
हो जाए न पथ में रात कही
मंजिल भी तो है दूर नही
यह सोच थका दिन का पंथी भी जल्दी जल्दी चलता है।
दिन जल्दी–जल्दी ढलता है।

अर्थात श्रमिक सारे दिन मेहनत करता है और साँझ होने पर से पहले अपने घर की और चल पड़ता है। सारे दिन का थका–हारा व्यक्ति अपनी मंजिल (घर) तक पहुचने के लिए जल्दी–जल्दी चलता है। उसको चिन्ता है कहीं रास्ते में अधेरा ना हो जाये इसलिए जल्दी जल्दी चलता है इसमें कोमलता, मुग्धता, सरसता झलकती है।

राजस्थान के लोकगीतों की एक समृद्ध परंम्परा रही है, कि स्त्रियों द्वारा विविध उत्सवों, महोत्सवों, तीज, त्योहारो पर गाये जाने वाल अपौरूषेय गीत, पुरुषों के द्वारा गाये जाने वाले गीत सामूहिक–गीत, एकलगीत, बच्चों के गीत लड़कियो के जकड़ी–गीत आदि अनूठे व अद्‌भुत गीत है इन गीतों से माधुर्य रस धारा अकुंरित होती और हदय को शीतलता प्रदान करती है। जिस धरा पर लोकगीत रूपी झरने बहते है वहा का वासी कभी प्यासा नही रह सकता ये लोकगीत पावन गंगा स्नान जैसा है जिससे तन–मन दोनों को शीतलता प्राप्त होती हैं। इसमें कविगण भी पीछे नही है कवि कन्हैयालाल सेठिया के अनुसार

'आ तो सुरगां ने सरमावै, ई पर देव रमण नै आवैं,
इण रो जस नर–नारी गावै, धरती धोरा री, धरती धोरां री,

अर्थात धरा की महिमा गाते हुऐ कहते है कि यह स्वर्ग से भी सुन्दर है यहाँ देवतागण विचरण करते है। मानवी जीवन जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त गीतमय है यहाँ के गीतो की शुरूआत जन्म की महिमा से ही होती हैं। पुत्र जन्म पर घर का वातावरण उल्लास से भर उठता है। हर्ष सूचक थाल बजाया जाता हैं। मिठाईयाँ बाटी जाती हैं। घर–परिवार में मांगलिक थापे लगाये जाते है भुआ या ननद द्वारा साथिए लगाती हैं। ताकि जच्चे–बच्चे पर किसी प्रकार की अनहोनी न हो पाए–बच्चे का गले में अपने इस्ट की (मादलियां) चांदी की मूर्ती पहनाई जाती है। प्रसूति–ग्रह के आगे नीम के पते बांधे जाते है तथा जच्चा–बच्चा की विशेष रूप से

देखभाल की जाती हैं। पुत्र, जन्म से पूर्व भी कुछ लोकगीत गाये–बजाये जाते हैं

गर्भाधान संस्कार की मधुर वेला पर भी लोक–गीत से अभिव्यक्त किया जाता है पेलो मास उलरियों, जच्चा राणी रो थूथकड़ा मन रलियों..... फिर सातवें मास पर सात मास चढो असवारी ..... इस प्रकार नौ माह तक मानसिक दशा का भरपूर चित्रण मिलने लगता हैं। पुत्र जन्म पर अनेक गीत गाये जाते है।

सौने रो थाल थारा सासूजी बाजयों.....
सखिया मिलि–मिलि रास रचायो रे .....
साला रे पूरो साथिया .....
थानै देस्या चुडलौ अर बैस जीओ .....
जैसे जच्चा गीत पीलो पोमचों .....

जच्चा व बच्चे के प्रथम स्नान पर बच्चे को तागड़ी पौंचे एव झुग्ला–टोपी आदि पहनाने सम्बन्धी गीत भी गाये जाते है। दसवे दिन नामकरण, जलवा–पूजन भैरूजी के धोक देने तथा तेल चढाने सम्बन्धी गीतो को गाया जाता है अपने–अपने जाति धर्म के अनुसार जन्मरूपी संस्कार को सम्पन्न किया जाता है।

राजस्थानी लोकगीतो में निरूपित पारिवारिक प्रेम को माता–पिता, भाई–बहन, पति–पत्नी, दादा–दादी, नाना–नानी, ताऊ–ताई, भुआ–फुंफा, बहन–बहनोई, जीजा–शाली, जैसे रिश्तो के आधार पर भावपूर्ण संसार की रचना की है इन लोकगीतों मे व्यष्टि व समष्टि का समन्वय किया गया हैं। इस समन्वय के कारण ही परिवार की महता व सुगंठितता बनती है।

गीतों के बिना कोई मांगलिक कार्य पूर्ण नही होता। गीतों से ही नामकरण, विवाह, तीज, त्यौहार सम्पन्न होते है

लाग्यो–लाग्यो जेठ औ साढ कंवर तेजा रे .....
मैं तो नणदुलीरो व्याब रचास्यां .....

गीतों से वर्षा होती और गीतों से ही खेत मे बिजाई व कटाई होती है। आज तौ म्हारो हाली खेता मै ज्यासी .... आओ चाला लावणी लावण न गीतो से ही सास–ननद, ननदुली, भाई, बहन का हेत झलकता है

बाय जी चुडो तो मुलाव थारो वीर.....
म्हाने बोरलो घडा दे औ नणदीगा का वीरा.....

राजस्थानी लोक गीतों में पारिवारिक प्रेम भी देखा सुना जा सकता है। सास–बहु का प्रेम, देवरानी–जेठानी का प्रेम भाई–बहन का प्रेम, में विश्वास स्नेह प्रेम श्रद्धा पर टिके हुये है। यही प्रेम लोक गीतों के रूप के रूप में चार चाँद लगा देते है।

प्रत्येक औरत के लिए गहना सबसे प्रिय होता है। चाहे व नाक की नथ हो, सर का बौरला हो, मांग–टीका हो, पाजेब, टड्डा, कडा बाजुबन्ध नेवरी चुडला हो ये गहने नारी का सौन्दर्य बढाते हैं। इसे हम इन लोक गीत के माध्यम से स्पष्ट करना चाहते है।

गहणो तो गहणो गोरी लाख रो .....
नथ सू चमके आभा बिजली .....
काना में डालया टोपस लाख रा,
हाथा में डाल्या बाजूबन्ध .....
म्हारा हिबडो रो हार .....
ढोला–ढोल मंजीरा बाजे रे,
काली छिंट गो घाघरो नजारा मारे रे .....
सतरगी लेहरियों मगादे .....
महेदीं राचणी रो बाग लगा दे रसिया .....

निष्कर्ष :–

राजस्थानी लोकगीतों में हमे पारिवारिक रिश्तों की अद्‌भुत झांकी देखने को मिलती है ये लोक गीत राजस्थानी समाज के गौरव और गरिमा का बखान करते हैं। विद्वानों का मत रहा है कि लोकगीत से श्रेष्ठ कोई साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं होती। राजस्थानी परिवेश की समस्त लोक अभिव्यक्ति इन लोक–गीतो में ही निहित है।

सन्दर्भ ग्रथ सूची :–

1. राजस्थानी काव्य में राम कथा– डॉ. मदन सैनी
2. हिन्दी साहित्य कोश – आत्माराम शाह
3. धरा और पर्यावरण – कुप. सी. सुदर्शन
4. राजस्थानी कहावता व लोकगीत – विजयदान देथा
5. सृजन कुजं डॉ. कृष्ण कुमार 'आशु'
6. गीता री धमक – डॉ. करूणा दसोरा